दिङ्नागाचार्य-कृत

कुन्दमाला

डॉ० कैलाशनाथ भटनागर

प्रकाशक
स र स्व ती भ व न
५६/८६ रामजस रोड, नई दिल्ली-५

दिङ्नागाचार्य-कृत

कुन्दमाला

[अन्वय, शब्दार्थ, टिप्पणी, हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत भूमिका और विविध परिशिष्ट सहित]

सम्पादक
डॉ० कैलाशनाथ भटनागर
एम० ए०, पी-एच० डी०,
अध्यक्ष—संस्कृत-हिन्दी विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी कैंप कालेज, नई दिल्ली

प्रकाशक
सरस्वती भवन
रामनस रोड, नई दिल्ली—५

मुख्य वितरक
मलहोत्रा ब्रदर्स
१, फ़ैज बाज़ार, दिल्ली—६

समर्पण

पंजाब प्रान्त में
हिन्दी-संस्कृत के प्रचार के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ
संस्कृत-अनुसन्धान कार्य के अनुरागी,
सौम्य-मूर्ति दीन-जन-वत्सल उदार-हृदय
श्री दीवान आनन्द कुमार
एम. ए. (आक्सन)
वाईस-चान्सलर
पंजाब-विश्वविद्यालय
तथा
प्रधान, अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड
की अनुमति द्वारा
उन्हीं के कर-कमलों में
श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक
समर्पित

दो शब्द

संस्कृत-साहित्य में नाटक-साहित्य भी अति समृद्ध है। भास, अश्वघोष, शूद्रक, कालिदास, श्रीहर्ष, विशाखदत्त, भवभूति, नारायणभट्ट, राजशेखर आदि अनेक उच्चकोटि के नाटककार हुए हैं, और न जाने कितने काल रूपी अन्धकार में विलीन हो चुके हैं। भास और अश्वघोष के नाम भी विस्मृत हो गये थे। परन्तु सौभाग्यवश उनके नाम पुनः प्रकाश में आ गये। इसी प्रकार कुन्दमाला नाटक भी सन् १९२२ तक अज्ञात था। सन् १९२३ में एम. रामकृष्ण कवि एम. ए. तथा एम. के. रामनाथ शास्त्री के अन्वेषन द्वारा हमें कुन्दमाला नाटक उपलब्ध हुआ। कुन्दमाला नाटक का कथानक वही है जो उत्तर-रामचरित का। अतएव पाठकों को इसे पढ़ने के लिए और भी उत्सुकता हुई। यह नाटक पहले भी विशारद तथा एफ० ए० परीक्षाओं में नियत किया गया था, तब कुछ संस्करण निकले थे। अब सन् १९५७ की परीक्षा के लिए एफ० ए० में पुनः यह नाटक नियत हुआ है और अब माध्यम हिन्दी है। परन्तु हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण सहित कोई भी उपयोगी संस्करण उपलब्ध न था। अतः इस संस्करण के निकालने का निश्चय किया गया। मालविकाग्निमित्रम्,कुमारसम्भवम् सर्ग ५ तथा ऊरुभङ्गम् के हमारे संस्करण विद्यार्थी-वर्ग में अति-प्रिय प्रमाणित हुए हैं, अतः उसी ढंग पर यह संस्करण तैयार किया गया है।

इस संस्करण में हमने मूल-पाठ के साथ ही साथ सब आवश्यक सामग्री जुटा दी है। टाईपों के चुनाव में भी विशेष ध्यान रखा गया है। अन्यथा यही सामग्री ड्योढ़ा स्थान घेर लेती और उस प्रकार मूल्य अधिक रखना पड़ता।

पद्य के लिए 'इटेलिक्स टाईप' रखा है, इससे गद्य-भाग से पद्य-भाग पृथक्ही प्रतीत होगा। पद्य के नीचे 'अन्वयः' दे दिया है और 'अन्वयः' में भी जो प्रधान वाक्य है, वह काले टाईप नं० २ में दिया गया है, शेष भाग सफेद टाईप नं० ३ में। 'अन्वयः' के नीचे 'शब्दार्थः' दे दिये हैं और वहाँ भी शब्द तथा अर्थ के टाईपों में भेद स्पष्ट है। टिप्पणी में संस्कृत व्याकरण का भाग तथा कोष आदि ग्रन्थों से उद्धरण काले टाईप नं० २ में हैं, और व्याख्यात्मक हिन्दी भाग सफेद टाईप नं० ३ में। टिप्पणी में समासों का विग्रह, शब्दों की

व्युत्पत्ति, कोष-ग्रन्थों के प्रमाण तथा अन्य आवश्यक सामग्री विद्यार्थियों को परम सहायक सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है। मूल में प्राकृत भाग सफेद टाईप नं० ३ में रखा है और उसके साथ ही काले टाईप नं० १ में संस्कृत-छाया दे दी गई है। इससे प्राकृत के समझने में सहायता मिलेगी।

भूमिका में पृष्ठ-संख्या सफ़ेद टाईप में है, अंक और पद्य-संख्या काले टाईप में।

उन-उन स्थलों पर चिह्न लगा दिये गये हैं जो परीक्षा की दृष्टि से आवश्यक प्रतीत हुए हैं। जिन पद्यों के आगे तार-सूचक चिह्न हैं, वे पद्य परीक्षा की दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं। जो भाग रेखांकित हैं, वह पूर्वापर सम्बन्ध बताकर भावार्थ समझाने के लिए आवश्यक हैं।

भूमिका में नाटककार तथा कुन्दमाला सम्बन्धी सभी आवश्यक विषयों की चर्चा की गई है। दिङ्नाग तथा भवभूति पर तुलनात्मक दृष्टि के विना तो भूमिका अधूरी ही रहती।

पुस्तक के अन्त में कुछ परिशिष्ट दे दिये गए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—'सुभाषितावली', 'छन्द', 'प्राकृत से संस्कृत बनाने के नियम', 'परीक्षोपयोगी प्रश्न', 'पद्य-सूची'। नाटकीय परिभाषा सम्बन्धी विषय की चर्चा मूल पाठ के साथ ही साथ कर दी गई है।

अन्त में हम पूर्व-प्रकाशित संस्करणों के लेखकों के प्रति अपना हार्दिक धन्यवाद प्रकट करते हैं। उनमें पं० नृसिंहदेव शास्त्री, पं० जयचन्द्र शास्त्री, डॉ० ए० सी० वूलनर, पं० वागीश्वर विद्यालङ्कार के नाम उल्लेखनीय हैं।

सूचनार्थ हम ने इस पुस्तक का पहला फार्म प्राध्यापकों के पास भेज दिया था। हमें यह जानकर परम हर्ष हुआ है कि हमारा प्रस्तुत प्रयास उन्हें प्रिय प्रतीत हुआ है। "क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।"

नई दिल्ली,
११-६-५५

—कैलाशनाथ भटनागर

भूमिका

कुन्दमाला नाटक की उपलब्धि

संस्कृत साहित्य समस्त संसार में सबसे अधिक प्राचीन है। कई सहस्र वर्षों की साहित्यिक रचनाओं द्वारा हमारा संस्कृत साहित्य संवृद्ध हुआ है। परन्तु इतने लम्बे समय में भारतवर्ष में अनेक राजनीतिक उथल-पुथल हुए हैं, कई आक्रमण हुए हैं, कई बार विदेशी राजाओं द्वारा पद-दलित होना पड़ा है। अतएव हमारे साहित्य को भारी धक्के लगे हैं, असंख्य ग्रन्थ नष्ट हुए हैं। उत्तरी-भारत में आक्रमण अधिक हुए, अतः आक्रमणों द्वारा उत्तरी-भारत में प्राचीन ग्रन्थों का अधिक नाश हुआ है। दक्षिण में आक्रमण बहुत कम हुए, अतः वहाँ प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित रहे। इसीलिए दक्षिण में सहस्रों हस्तलिखित ग्रन्थ इकट्ठे किये गए हैं और पुस्तकालयों में सुरक्षित रखे गये हैं। इन्हीं पुस्तकालयों का मन्थन करते समय कभी-कभी अमूल्य मोती हाथ लग जाते हैं। 'कौटिल्यार्थ शास्त्र' ग्रन्थ का उद्धार दक्षिण में ही हुआ। भास का नाम कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में लिखा है परन्तु उसकी कोई भी कृति हाथ नहीं लगी थी। सौभाग्य-वश टी० गणपति शास्त्री ने कुछ नाटक ढूंढ निकाले जो भास-नाटक-चक्र के नाम से प्रकाशित हैं। इसी प्रकार सन् १९२३ में सर्वप्रथम कुन्दमाला नाटक प्रकाश में आया। इसका श्रेय एम० रामकृष्ण कवि एम० ए० तथा एस० के० रामनाथ शास्त्री महोदयों को है। उनका आधार निम्नलिखित हस्तलिखित ग्रन्थ थे—

(क) तंजोर राजभवन पुस्तकालय—दो हस्तलिखित ग्रन्थ। इनमें से एक तो ग्रन्थलिपि में है और दूसरा तेलुगु लिपि में। तेलुगु लिपि वाला हस्तलिखित ग्रन्थ लगभग १५० वर्ष पूर्व ग्रन्थ लिपि वाले हस्तलिखित ग्रन्थ की प्रतिलिपि है। तेलुगु प्रति में लिपिकार ने कई अशुद्धियाँ की हैं और इसका मूलाधार भी अशुद्धियों से रहित नहीं।

(ख) राजकीय प्राच्य पुस्तकालय, मैसूर—दो हस्तलिखित ग्रन्थ। इनमें से एक तो कनाडी लिपि में है और कदाचित् दूसरे हस्तलिखित ग्रन्थ का, जो ग्रन्थ लिपि में है, प्रतिलिपि हो। अथवा, सम्भव है, दोनों ही किसी

और हस्तलिखित ग्रन्थ की प्रतिलिपि हों, जो इस समय अनुपलब्ध है। अन्य दो अधूरी प्रतियों में कुछ पद्य ही मिलते हैं।

ये हस्तलिखित ग्रन्थ अधूरे हैं और इधर-उधर क्षत हैं। मैसूर के हस्तलिखित ग्रन्थों में प्रथम अंक के पिछले आधे भाग, और सम्पूर्ण द्वितीय अंक तथा तृतीय अंक के प्रारम्भिक भाग का अभाव है। प्रतीत होता है कि छठे अंक के आरम्भ में मूल-प्रति का, जिसकी दोनों प्रतिलिपि हैं, आधा भाग खो चुका था।

किसी भी प्रति में प्राकृत की छाया नहीं दी गई। इस अभाव की पूर्ति श्री रामकृष्ण कवि तथा श्री एस० के० रामनाथ शास्त्री ने बड़ी विद्वत्ता के साथ की है। नये नाटक की ओर विद्वानों का आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है। डॉ० ए० सी० वूलनर तथा डॉ० लक्ष्मणस्वरूप सरीखे विद्वानों ने इसे पाठ्यक्रम में स्थान दिया। इसी कारण इसके कुछ संस्करण संस्कृत तथा अंगरेज़ी में प्रस्तुत किये गए। डॉ० वूलनर ने समस्त नाटक का अनुवाद अंगरेज़ी भाषा में प्रस्तुत किया।

नाटक-कार

मैसूर-प्रतियों की प्रस्तावना का प्रारम्भ इस प्रकार है—

आदिष्टोऽहं परिषदा—तत्रभवतोऽरारालपुरवास्तव्यस्य कवेर्दिङ्नागस्य कृतिः कुन्दमाला नाम...

इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाटक अरारालपुर-वासी दिङ्नाग की रचना है। तंजोर प्रतियों में इस स्थान पर पाठ अनुपलब्ध है और अन्त में वे लिखते हैं—**अनूपराधस्य कवेर्धीरनागस्य।** इससे लेखक के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ है।

धीरनाग एक प्रसिद्ध कवि प्रतीत होता है। उसके कुछ पद्य 'सूक्ति-मुक्तावली' तथा 'सुभाषितावली में संगृहीत हैं। 'सूक्ति-मुक्तानली' में उसका नाम भदन्त धीरनाग लिखा है। इससे प्रकट होता है कि वह बौद्ध था। 'सुभाषितावली' में इसके पाँच पद्य मिलते हैं परन्तु उनमें से एक भी पद्य इस नाटक में नहीं मिलता। अतः उसे प्रस्तुत नाटक का रचयिता स्वीकार करने में कठिनाई प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि कुन्दमाला नाटक में बौद्ध वातावरण का तनिक भी आभास नहीं। फिर क्यों कर एक बौद्ध इसका रचयिता माना जाय ? क्यों न दिङ्नाग को ही नाटककार स्वीकार किया जाय ?

दिङ्नाग

दिङ्नाग को नाटककार ग्रहण करने में एक आपत्ति उपस्थित होती है। दिङ्नाग बौद्ध-साहित्य में एक सुविख्यात दार्शनिक हुआ है। क्या नाटककार

वही बौद्ध दार्शनिक था ? नहीं। इसके उत्तर में निम्नलिखित वातों पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है :—

१. मंगलचरण का पद्य—

जम्भारि-मौलि-मन्दार-मालिका-मधु-चुम्बिनः ।
पिबेयुरन्तरायाब्धिं हेरम्ब-पद-पांसवः ॥ १.१

विघ्नों के नाश के लिए गणेश-पूजन एक कट्टर-हिन्दू-धर्मी ही कर सकता है, कट्टर बौद्ध नहीं।

"ज्वालेवोर्ध्व-विसर्पिणी" १,२ का पद्य, जो शिव की स्तुति-गान करता है कट्टर-पन्थी बौद्ध के अतिरिक्त किसी अन्य रचयिता की ओर ही संकेत करता है।

बौद्ध लोग यज्ञ-परिपाटी के विरुद्ध थे। फिर क्योंकर दिङ्नाग जैसा बौद्ध यज्ञों तथा वेदों में श्रद्धा धारण करे ? देखिए,

प्रकाम-भुक्ते स्व-गृहाभिमानात् सुहृज्जनेनाऽऽहित-याग-वह्नौ ।
आर्यस्य रम्ये भवनेऽपि वासस्तव प्रवासे वन-वास एव ॥ १.६

पुनश्च आनाकमेक-धनुषा भुवनं विजित्य
पुण्यैर्दिवः क्रतु-शतैर्विरचय्य मार्गम् ।
इक्ष्वाकवः सुत-निवेशित-राज्य-भारा
निःश्रेयसाय वनमेतदुपाऽऽश्रयन्ते ॥ ३.५

निम्न पद्य में यज्ञों द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति में विश्वास प्रकट किया गया है:—

दावाग्निं क्रतु-होम-पावक-धिया यूपाऽऽस्थया पादपा-
नव्यक्तं मुनि-गीत-साम-गतया भक्त्या शकुन्त-स्वनम् ।
वन्यांस्तापस-गौरवेण हरिणान् संभावयन्नैमिषे
सोऽहं यन्त्रणया कथं कथमपि न्यस्यामि पादौ भुवि ॥ ४.४

चतुर्थ अंक के ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १२ सभी पद्य कहीं सामगान से गूँज रहे हैं तो कहीं होम के धुएँ का वर्णन कर रहे हैं।

स्मृति-ग्रन्थों का प्रभाव—

स्मृति-ग्रन्थों में विवाह के दो फल बताये हैं सन्तान और सहधर्माचरण। यज्ञानुष्ठान का अधिकार पति को पत्नी के साथ ही है, पृथक् नहीं। देखिए,

अपत्यमिष्टं च वदन्ति देवाः फल-द्वयं दार-परिग्रहस्य ।
पूर्वं तयोस्त्वय्युदपादि द्वयं वहस्व वासे भवने द्वितीयम् ॥ ६.३८

अपिच, त्वद्दर्शनेन विधिना परिशुद्ध-वृत्तिर्जाता महाध्वर-सखी
मम सैव पत्नी। ६.४४

प्रणव ओङ्कार के विषय में भी नाटककार का विचार देखिए,

मामामनन्ति मुनयः प्रणव-द्वितीयां
मत्तः प्रसूतिरखिलस्य चराचरस्य। ६.२१

नाटककार ने हिन्दू-धर्म की आश्रम-व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। देखिए,

आनाकमेक-धनुषा भुवनं विजित्य
पुण्यैर्दिवः क्रतु-शतैर्विरचय्य मार्गम्।
इक्ष्वाकवः सुत-निवेशित-राज्य-भारा
निःश्रेयसाय वनमेतदुपाश्रयन्ते ॥ ४.५

नाटककार की दृष्टि में राम विष्णु के अवतार थे। इसी भाव को कई स्थलों पर प्रकट किया गया है। देखिए,

एषा वधूर्दशरथस्य महारथस्य
रामाऽऽह्वयस्य गृहिणी मधु-सूदनस्य। १.२१

व्यक्तं सोऽयमुपागतो वनमिदं रामाभिधानो हरिः ॥ ३.१४

नाटक की समाप्ति पर आशीर्वाद भी हिन्दू भावों से ओत-प्रोत है। देखिए,

स्थाणुर्वेधास्त्रिधामां मकर-वसतयः पावको मातरिश्वा
पातालं भूर्भुवस्स्वश्चतुरुदधि-समाः साम-मन्त्राश्च वेदाः।
सम्यक् संसिद्धि-विद्या-परिणतः-तपसः पीठिनस्तापसाश्च
श्रेयांस्यस्मिन् नरेन्द्रे विदधतु सकलं वर्धतां गो-कुलं च ॥ ६.४५

इस आशीर्वाद द्वारा इस पहेली का निपटारा हो जाता है। "कुन्दमाला सिर से लेकर पैर तक शुद्ध हिन्दू-नाटक है।" (वागीश्वर)

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि कुन्दमाला का नाटककार बौद्ध नहीं। एक बात यहाँ और भी ध्यान देने योग्य है। बौद्ध दिङ्नाग मदरास प्रान्त में, कांची के निकट, सिंहवक्त्र नामक नगर में उत्पन्न हुआ, ऐसा तिब्बतीय साहित्य द्वारा विदित होता है। परन्तु प्रस्तुत नाटककार अरारालपुर-निवासी था। अतः प्रस्तुत नाटक का रचयिता दिङ्नाग बौद्ध दिङ्नाग से कोई भिन्न व्यक्ति था।

काल-निर्णय

निम्न सीमा

कुन्दमाला नाटक को कुछ-एक ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है। उनके आधार पर कालावधि निर्धारित की जा सकती है। वे ग्रन्थ इस प्रकार है :—

१. भोजदेवकृत शृंगार-प्रकाश (११वीं शताब्दी) में द्युते पणः

(४·२०) उद्घृत किया गया है।

२. महानाटक (११वीं से १३वीं शताब्दी) में भी 'च्यूते पण:" उद्घृत किया गया है।

३. शारदा-तनय-कृत भाव-प्रकाश (१२वीं-१३वीं शताब्दी) में लिखा है—कुन्दमाला ऽत्र सुश्लिष्टा सन्धि-पञ्चक-संयुता। अधि० ६

४. विश्वनाथ कविराज-कृत साहित्य-दर्पण (१४वीं शताब्दी) में कुन्द-माला को इस प्रकार उद्धृत किया गया है:—

यथा कुन्दमालायाम्

(नेपथ्ये) इत इतोऽवतरत्वर्या।

सूत्रधारः—कोऽयं खल्वार्या-समाह्वानेन साहायकमपि मे संपादयति। (विलोक्य) कष्टम्। अति-करुणं वर्तते।

लङ्केश्वरस्य भवने सुचरं स्थितेति रामेण लोक-परिवाद-भयाऽऽकुलेन।
निर्वासितां जन-पदादपि गर्भ-गुर्वीं सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् ॥१.३

इन उद्धरणों से सिद्ध होता है कि प्रस्तुत नाटक राजा भोज (१०१८-१०६० ई०) से पहले का रचा होगा। यह निम्नकाल की सीमा हुई।

उपरि-सीमा

कुछ विद्वानों ने दिङ्नाग को कालिदास का समकालीन माना है। उनको ऐसा विचार मेघदूत में पद्य १.१४ पर दक्षिणावर्त तथा मल्लिनाथ की टीकाओं पर आश्रित है। मेघदूत का पद्य यह है:—

स्थानादस्मात् सरस-निचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं।
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूल-हस्तावलेपान् ॥१.१४

इस पद्य पर दोनों टीकाकारों ने बताया है कि दिङ्नाग कालिदास का प्रतिपक्षी था, और निचुल उसका मित्र। परन्तु यह बात कीथ आदि विद्वानों द्वारा स्वीकार नहीं की गई। अतः इस संकेत में कुछ सार नहीं। वल्लभदेव (६वीं शताब्दी), जो इन दोनों टीकाकारों का पूर्व-वर्ती है, इस ओर कोई संकेत नहीं करता। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। कालिदास ने श्लेष का प्रयोग नहीं किया। फिर उसके पद्य में श्लेष द्वारा अर्थ निकालने का क्या लाभ ? और यह दिङ्नाग तो कालिदास के ग्रन्थों द्वारा पर्याप्त प्रभावित हुआ है, फिर उसका प्रतिपक्षी कैसे ? एक बात और, तब यातायात के साधनों के बिना प्रतिपक्षी होना कोई अर्थ नहीं रखता। और फिर बौद्ध दार्शनिक को कालिदास के नाटक व काव्यों से क्या सम्बन्ध ?

प्रस्तुत नाटक की अन्तःसाक्षी द्वारा प्रतीत होता है कि यह नाटक भव-

भूति-कृत उत्तर-रामचरित के पश्चात् रचा गया। भवभूति सातवीं शताब्दी में हुआ। अतः कुन्दमाला नाटक सातवीं शताब्दी के अनन्तर रचा गया होगा। (कुन्दमाला तथा उत्तररामचरित की तुलना देखिए)।

अतएव कुन्दमाला नाटक का समय सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी में रखा जा सकता है।

नाटककार का परिचय

संस्कृत के कई कवियों के जन्म-काल, जन्म-स्थात तथा वंश इत्यादि के सम्बन्ध में हमें कुछ भी विदित नहीं। भास, कालिदास आदि के लिए अनेक अनुमान लगाये जाते हैं। यही स्थिति दिङ्नाग की है। दिङ्नाग अरारालपुर-निवासी था, ऐसा कुछ प्रतिलिपियों द्वारा विदित होता है ! कुछ प्रतिलिपियाँ उसे अनूपराध का निवासी बताती हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में भी हमें कुछ विशेष ज्ञान नहीं। कुन्दमाला के आधार पर ही हम नाटककार के सम्बन्ध में कुछ परिचय लिखने का प्रयास करते हैं।

दिङ्नाग सुदूर दक्षिण भारत का निवासी था। यदि उसे अनूपराध नगर का निवासी माना जाय तो अनूपराध तो लंका में स्थित है, अतः वह लंका-वासी हुआ। परन्तु अधिक सम्भावना अरारालपुर नगर की ही मानी जाती है।

दिङ्नाग पौराणिक आस्था का ब्राह्मण जा। पौराणिक देवी-देवताओं, यज्ञ, कर्म-काण्ड तथा वर्णाश्रमधर्म में श्रद्धा रखता था। नाटक के मंगलाचरण में उसने गणेश-वन्दना और शिव-स्तुति की है। सम्भव है कि वह शैव ब्राह्मण हो। अन्तःसाक्षी उसे सामवेदी ब्राह्मण बताती है। कुन्दमाला में कई-एक स्थानों पर (२.६, ४.४, ६. १०) सामवेद का नाम निर्देश किया गया है। ६.४५ के भरत-वाक्य में तो चारों वेदों के साथ साम का नाम पृथक् रूप से लिया गया है। यही नहीं, अपितु सामवेद के उपवेद गान्धर्ववेद का भी कवि ने सम्मानपूर्वक नाम लिया है। देखिए, **गान्धर्व-वेद-संवादि सरसं····** (१३८.१४)

प्रणव की विशेषता भगवती पृथ्वी द्वारा उल्लेख की गई है। (६·३१) महाव्याहृति अर्थात् वेद में भूः (६.३१, ६.४५) भुवः, स्वः (६.४५) का उल्लेख किया गया है।

प्रातःकालीन, माध्याह्निक तथा सायंकालीन सवन नित्यप्रति सीता, राम, कुश, लव, वाल्मीकि, कण्व तथा अन्य ऋषि-मुनियों द्वारा पूरे किये जाते हैं। अन्य नित्यकर्म स्नान, सन्ध्या, सूर्योपासना, अग्नि-होत्र, अतिथि-सेवा आदि सविस्तर वर्णन किये गए हैं। (३६.४ ; ३८.२ ; ६६.१ ; ७०.३ ; ७३.८-६ ;

८१.५; ८४.५; १०५.६; १०६.३; ११८.५; १२४.६-७; १५२.६; १६०.११)

पुंसवन, उपनयन, जातकर्म आदि संस्कारों का कई वार उल्लेख किया गया है। (४३.६ ; १५.५; १७२.१-२)

अश्वमेधयज्ञ की कई वार चर्चा की गई है। इक्ष्वाकु-वंशी राजा अश्वमेधयज्ञ का अनुष्ठान किया करते हैं और इसके द्वारा स्वर्ग भोगते हैं। (२२.७; ४६.११ ; ५४.६; ५६.१६; ६८.३) राम की यज्ञ के साथ तुलना की गई है। (१६२.४-५) और भी कई यज्ञों की ओर संकेत किया गया है। (६८.३;१०१.२) केवल संकेत ही नहीं, स्थान-स्थान पर यज्ञ का धुआँ, यूप-दण्ड, दर्भ, पवित्रजल, तथा अन्य आवश्यक सामग्री का उल्लेख मिलता (४६.११; ५७.४; ५८.६; ७०. ४-६; ६८.३; १०४.६; १०५.६) यज्ञ धर्मपत्नी सहित ही होता है, अकेले नहीं। (२२.७; ६.३७-३६२)। वास्तव में विवाह का एक उद्देश्य सन्तान के अतिरिक्त, अनुष्ठान यज्ञ भी होता है। (६.३८। यज्ञों के प्रति नाटककार का इतना आकर्षण है कि उसने दो स्त्री-पात्रों के नाम भी वेदवती और यज्ञवती रखे हैं।

तपोवन के दृश्यों का वर्णन सारे नाटक में बड़े विस्तार के साथ किया गया है, विशेष रूप से पहले अंक से लेकर चौथे अंक तक।

ब्राह्मण तथा तपस्वियों के प्रति राजाओं द्वारा भी महान् आदर-सम्मान प्रकट किया गया है। (१३४.२-३ ; १३८-११ ;१५२.५ ६.२५)

राजा का कर्त्तव्य है वर्णाश्रम व्यवस्था का पूरी तरह पालन करे। सीता को जब वनवास दिया गया तब उन्होंने लक्ष्मण द्वारा राम को जो सन्देश भेजा उसमें कहा कि मेरी चिन्ता करते-करते वे वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन में शिथिल न हो जायँ। (२४-८) राम वर्णाश्रम व्यवस्था में इतने दृढ़ थे कि वाल्मीकि सीता से कहते हैं यदि वर्णाश्रम धर्म के व्यस्थापक राम ने तुम्हें देश से निर्वासित किया है तो तुम्हारा कल्याण हो, मैं जाता हूँ। (३६.३-४)।

प्राचीन कालीन कुलपति तथा पीठियों का भी उल्लेख किया गया है। (१०६.३ ; ६.४५)।

नाटककार पौराणिक आस्था का व्यक्ति है। शिव-स्तुति के अतिरिक्त उसने शिव का नैमिषारण्य में वास दिखाया है। देखिए,

कण्वः—इदमनन्य-तपोवन-साधारणं नैमिषस्य माहात्म्यमवलोकय।
अस्मिन् सन्निवसन्महेश्वर-शिरस्ताराधिप-ज्योत्स्नया
मिश्रीभूय कबोष्णतामुपगतस्तिग्मो निदाघाऽऽतपः।
न म्लानिं तरु-पल्लवेषु सरसां तोयेषु नैव क्षयं
सन्तापं न जनस्य किन्तु जनयत्यालोक-मात्रं दृशाम् ॥४.६

नैमिषारण्य में निरन्तर यज्ञ होते रहते हैं। भरत-वाक्य में शिव का नाम सबसे पहले लिया गया है। उसके सिर पर गंगा और चन्द्र विराजमान हैं। (४.२-३)। शिर-पार्वती का प्रेम आदर्श-प्रेम कहा गया है। (४८.१७)

प्रस्तुत नाटक का कथानक ही विष्णु-अवतार की लीला का वर्णन करना है। (३१.८; ८२.६· ५.१६) विष्णु के अन्य अवतारों की ओर भी संकेत किया गया है, जैसे मधुसूदन (३१.८; १२७.१२) वराह (६.३२), और कदाचित् बुद्ध (त्रि-धामन् शब्द द्वारा; ६.४५) विष्णु की सवारी गरुड का भी उल्लेख मिलता है। (६.३०) इन सब बातों के साथ-ही-साथ नाभि द्वारा कमल की भी चर्चा विस्मरण नहीं की गई। (१२७.१२-१३)

मन्त्राह्वान द्वारा जब इन्द्र मर्त्यलोक में आता है, तब इन्द्राणी दुःखी होती है (१०१.२-५; १०२.१-४)। इन्द्र द्वारा की गई वर्षा से ही यज्ञ-सामग्री की उत्पत्ति होती है। (६.२६; ६.३६)

माता गंगा की महिमा का भी वर्णन अछूता नहीं रहा। सीता को छोड़कर लौटते समय लक्ष्मण ने उनकी रक्षा के लिए विविध देवी-देवताओं का आह्वान किया है। गंगा को 'मातर्गङ्गे' के नाम से पुकारा है। गंगा शिव के मस्तक पर विराजमान है। (४-३) गंगा का स्पर्श पाप का नाश करने वाला है। (१२.११) गंगा दयालु है, उसका सीता के प्रति स्नेह है। सीता को मूर्च्छित देखकर वह उसे सचेत करती है। (१९.१; ३७.४) ऐसी दयालु गंगा मैया को ही लक्ष्मण सीता की रक्षा के लिए प्रार्थना कर सकता है। (२०.६; ३४.५) ऐसी दयालु गंगा माता की प्रसन्नता के लिए ही सीता प्रतिदिन कुन्दमाला भेंट करने का निश्चय करती है। (४२.७-८; ७३.१०)

निर्विघ्न यात्रा के लिए प्रस्थान के समय मंगलानुष्ठान किया जाता है। (५८·२,६-७)

नाटककार ने प्रस्तुत नाटक में पूरे-का-पूरा पौराणिक चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया है। अग्नि (६.२०-२१; ६.२१; ६.४५), वायु (६.४५), सूर्य (सात घोड़ों सहित) (४.२५; ६.२२-२३), लोकपाल (२१.१) दिग्गज (६.२३), शेष (६.२७) समुद्र (१३२.८; ६.२३; ६.२४, ६.४५), दानव सिद्ध, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, लोक—पृथ्वी, पाताल, भूः, भुवः, स्वः—इन सब का उल्लेख मिलता है।

अन्य पौराणिक विचार-धारा का भी यथावसर समावेश किया गया है, जैसे, राजा में देव निवास करते हैं (८२.६-९); पर्वत उड़ते हैं (६.२४) वन देवताओं में दिव्य प्रभाव रहता है (९२.१०); वे मनुष्यों की रक्षा में

समर्थ हैं (३४.५); समुद्र नदियों का पति है (६७.३); सूर्य-पूजा (१२४.७); समुद्रतट पर देव पूजा (६६.१); अप्सराओं का दिव्य-प्रभाव (२७.७-८; १२०.९-११; १२१.१-२; १२६.४); वडवानल (१३२.७) क्षत्रिय कुलों के प्रवर्तक सूर्य और चन्द्र हैं। (५.१४-१५), आकाश से पुष्प-वृष्टि तथा दुन्दुभि-ध्वनि (६.३४-३५), देवता लोग देर तक पास नहीं टिकते, बुढापे में राज्य-भार पुत्रों को सौंप कर राजा लोग मोक्ष की इच्छा से वन की राह लेते हैं, (९९.१-७) आदि सब-की-सब बातें पौराणिक रंग को लिये हुए हैं।

"स्थाने खलु परिक्रामन्ति तपोवन-पराङ्मुखा गृह-मेधिनः।"

यह ऐसा वाक्य है जो बौद्ध कदापि नहीं लिख सकता। फिर निम्न दो पंक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं:—

कथा चेयं श्लाघ्या सरसि-रुह-नाभस्य नियतं।
पुनाति श्रोतारं रमयति च सोऽयं परिकरः॥५.१७

दिङ्नाग की अन्धविश्वासों में आस्था थी। लव-कुश जब राम की गोद में राजसिंहासन पर बैठे थे, तब कौशिक बोल उठा कि "छोड़ दो, छोड़ दो सिंहासन से उतार दो। जो कोई अराघव सिंहासन पर बैठता है, उसका सिर सौ टुकड़े हो जाता है। (५.१३-१४)

देवी-देवता को मनौती में भी उसका विश्वास था। जब सीता वाल्मीकि के साथ आश्रम में जाने लगती हैं तब वे गंगा को लक्ष्य करके कहती हैं—भगवति गंगे! यदि बिना किसी कठिनाई, मैं प्रसव से निपट जाऊँगी तो प्रतिदिन अच्छी गूँथी हुई कुन्दमाला की भेंट किया करूँगी। (४२.७-८)

दिङ्नाग के धार्मिक विचार

प्रस्तुत नाटक में सामवेद को अधिक महत्त्व दिया गया है। सामन् का बार-बार उल्लेख किया गया है (७०.६; ९८.४; १०३.४; १०४.२) साम-गान से मनुष्य क्या हाथी भी मस्त होकर निस्तब्ध खड़े रहते हैं। (१०३.२-५) सामवेद के प्रति नाटककार की प्रीति इससे स्पष्ट होती है कि और सब वेदों के साथ सामवेद का नाम पृथक् लिया गया है। (६.४५) इसी कारण नाटककार को संगीत से प्रेम है। वीणा-वादन इसीलिए उसे रुचिकर है। साम-वेद का उपवेद गान्धर्ववेद है, नाटकवार ने संगीत के अर्थ में ही 'गन्धर्व' शब्द का प्रयोग किया है, 'गान्धर्व-प्रिय-वाजिनः। (८.५)

दिङ्नाग शैव प्रतीत होता है। उसने ज्वालेवोर्ध्व-विसर्पिणी (१.२) में शिव की महानता का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। उसने शिव को नैमिषा-रण्य में विराजमान दिखाया है। ऐसा दिखाने की यद्यपि आवश्यकता नहीं थी,

क्योंकि राम के कथानक में विष्णु को अधिक महत्त्व देना चाहिए था। भरत वाक्य में भी शिव का नाम सर्व प्रथम गिनाया गया है। शिव-पार्वती के आदर्श-प्रेम का भी उल्लेख किया गया है। (४८.१७) परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वह कालीदास की भाँति उदार-हृदय था। यथावसर विष्णु तथा ब्रह्मा का भी समुचित महत्त्व-गान किया गया है। (३१.८; २२.६; १२७.१२; ५.१६,१७),

दिङ्नाग निःसन्देह ब्राह्मण था। तभी तो वह कहता है—'अप्रतिहत-वचन-महत्त्वा हि ब्राह्मण-जातिः। (१५७.६-१०); स्वस्ति ब्राह्मणेभ्यः। (१८६.२)।

दिङ्नाग की शिक्षा-दीक्षा

दिङ्नाग की शिक्षा-दीक्षा के विषय में भी हम अन्तःसाक्षी के आधार पर कुछ सामग्री बटोर पाये हैं, जो इस प्रकार है—

नाटककार का सामवेद के प्रति उत्साह तो ऊपर वर्णन किया जा चुका है। संगीत के प्रेम का भी उल्लेख किया गया है। दिङ्नाग ने घोड़ों को भी राजहंसों की ध्वनि द्वारा आकृष्ट बताया है। (८.५-८) लक्ष्मण भी कलहंसों की ध्वनि में अत्यन्त मधुरता पाता है। (१२.३-४)

कवि व्याकरण तथा अलंकार-शास्त्र में प्रवीण है, जैसा कि 'विश्रम' (८७.६) 'तिष्य-पुनर्वसुभ्याम्'[१] (६.१५) आदि के प्रयोगों द्वारा विदित होता है। दर्शन-शास्त्र का भी वह ज्ञाता था। ज्योतिष शास्त्र से भी वह परिचित था। (६.१५) मूढ-गर्भ (११६.११) द्वारा चिकित्सा-ज्ञान की भी संभावना हो सकती है।

दिङ्नाग को व्यायाम प्रिय था। व्यायाम द्वारा शरीर कठोर होता है 'व्यायाम-कठिनः' (३.१५)

कवि का दिव्य-प्रभाव में विश्वास था। इसीलिए वाल्मीकि के प्रभाव से तपोवन को स्त्रियाँ पुरुषों की आँखों से ओझल हो गईं। (८६.१४-१५) तिलोत्तमा ने सीता का रूप धारण करने का निश्चय किया। (८७.७) उसने उत्तरीय भी वैसा ही बना लिया। (१२१.१; १२६.४)

नाटक का कथानक

पहला अंक

विघ्न-नाश-कारी गणेश की वन्दना के पश्चात् सूत्रधार दर्शक-गण की रक्षा के लिए शिव-स्तुति करता है और दर्शक-मण्डली को नाटककार तथा नाटक का परिचय कराने ही लगता है कि नेपथ्य में लक्ष्मण के "भाभी जी! इधर

आइए" शब्द सुनाई पड़ते हैं। इस पर सूत्रधार ने बताया कि रावण के घर चिरकाल तक रहने से सीता के चरित्र पर लोक-निन्दा के भय के कारण राम ने गर्भवती सीता को निर्वासित कर दिया है, और लक्ष्मण उन्हें वन पहुँचाने के लिए जा रहा है। (स्थापना)

गंगा-तट पर घने वृक्षों और लताओं से घिर रहे वन के समीप पहुँचने पर रथ रुक गया। सीता और लक्ष्मण नीचे उतर पड़े। लम्बी यात्रा से थके घोड़ों को विश्राम कराने के लिए सुमन्त्र रथ को लेकर एक ओर चला गया। सीता और लक्ष्मण पैदल चलने लगे। गर्भवती होने के कारण ऊबड़खाबड़ तट से नीचे उतरते समय सीता थक गईं और एक पेड़ की छाया में विश्राम करने लगीं। विश्राम कर चुकी जानकर लक्ष्मण ने उन्हें सूचित किया कि राम ने उन्हें त्याग दिया है। यह सुनकर सीता अचेत हो गईं। परन्तु गंगा की ठण्डी हवा से शीघ्र ही सचेत होकर बोलीं—मुझे किस दोष से निकाला है ? लक्ष्मण बोला—"ऋषियों के, लोकपालों के, राम के तथा मेरे सामने आप अग्नि-परीक्षा से शुद्ध प्रमाणित हुई थीं, किन्तु लोग निरंकुश हैं।" अब तो सीता सब कुछ समझ गईं। बोलीं—स्त्री होने को ही धिक्कार हैं। आत्मघात करने का विचार उठा, परन्तु गर्भवती होने के कारण यह विचार छोड़ दिया। इस विचार पर उपकृत मानते हुए लक्ष्मण फिर बोला कि महाराज ने यह भी कहा है—"तुम मेरे हृदय में स्थित गृहदेवी हो, स्वप्न में प्रकट होकर मेरी शय्या की संगिनी हो। मुझे दूसरी स्त्री की इच्छा नहीं है। यज्ञ में तुम्हारी प्रतिमा ही मेरी धर्मपत्नी होगी।"

यह सुनकर सीता का दुःख कम हो गया। लक्ष्मण ने राम के लिए संदेश माँगा। सीता बोलीं—"उन्हें मेरी ओर से कहना कि वे मुझ अभागिन के लिए शोक-ग्रस्त हो राजधर्म के पालने में शिथिलता न करें। सत्धर्म और अपने शरीर के लिए सावधान रहें।"

सूर्यास्त समीप जानकर सीता ने लक्ष्मण को लौट जाने को कहा। लक्ष्मण देवी-देवताओं, भगवती गंगा, मुनि-जन, वन-देवता आदि से उनकी रक्षा के लिए प्रार्थना करके लौट गया। सीता एकाकी रह गईं, रोती-रोती मूर्च्छित हो गईं। इतने में महर्षि वाल्मीकि वहाँ आ पधारे। मुनि-पुत्रों ने सायंकाल गंगा-स्नान से लौट कर उन्हें बताया था कि एक निराश्रया गर्भिणी स्त्री अकेली वन में रो रही है। इसी कारण वे वहाँ आये थे। सीता सचेत हो गईं। वाल्मीकि ने पूछा—धर्म-युद्ध के विजेता राम के साम्राज्य में तुम पर कैसी विपत्ति ? सीता बोलीं—उसी पूर्णचन्द्र से यह वज्रपात हुआ है। वाल्मीकि योग-बल द्वारा सारा वृत्तान्त समझ गये और सीता को अपने साथ तपोवन में ले गये। जाते समय

सीता गंगा देवी से मनौती मान गईं कि प्रसव से सकुशल निपट जाने पर मैं प्रतिदिन एक कुन्दमाला भेंट किया करूँगी।

दूसरा अंक

दो मुनि-कन्याओं के संवाद द्वारा विदित होता है कि महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में सीता के दो पुत्र उत्पन्न हुए। महर्षि ने उनके नाम कुश-लव रखे। जब वह नयनाभिराम जोड़ा हरिणों के साथ दौड़ता-फिरता था, तब वह तपस्वियों के हृदयों को मोह लेता था। वे मुनियों की गोदी-गोदी चढ़े फिरते थे। कुछ बड़े हो जाने पर वे रामायण-गान करने लगे। उनके वार्तालाप से यह भी विदित होता है कि नैमिषारण्य में अश्वमेधयज्ञ की सामग्री एकत्र की जा चुकी है। मुनि-वर्ग को सपत्नीक निमन्त्रण भेजे जा चुके हैं। वाल्मीकि के तपोवन में भी श्री राम का दूत पहुँच गया है। (प्रवेशक)

चिन्ता-लीन सीता सालवृक्ष की छाया में बैठी सोच रही थीं—"स्वभाव से ही निर्दय पुरुषों के हृदय का विश्वास नहीं। अथवा मैं स्वामी की निन्दा क्यों करूँ ?...." कि इतने में वेदवती वहाँ आ गई और उनसे बातचीत करने लगी। उसने राम द्वारा किये गये अपमान की चर्चा करके सीता का दुःख कम करना चाहा। बोली—अरी मूढ ! निर्दय स्वामी के लिए, तू कृष्ण-पक्ष की चन्द्रकला की नाईं, क्यों प्रतिदिन घुलती जा रही है ? सीता को 'निष्ठुर' शब्द खटका। बोलीं—उन्होंने मुझे शरीर से त्यागा है, किन्तु हृदय से नहीं। जब वेदवती ने कहा—पराये हृदय को तुम कैसे जानती हो ? तो वे बोलीं—उनका हृदय सीता के लिए पराया कैसे होगा ? इस पर वेदवती ने बताया कि राम की यज्ञ-दीक्षा का समय समीप है। उन्हें शीघ्र ही धर्म-पत्नी का पाणिग्रहण करना पड़ेगा। इस पर सीता ने उत्तर दिया—स्वामी के हृदय पर मेरा अधिकार है, न कि उनके हाथ पर।

. जब वेदवती ने कहा कि पुत्र-दर्शन द्वारा तुम्हारा प्रवास-दुःख कम हो गया होगा, तब सीता ने बताया कि पुत्रों को देख-देखकर मुझे महाराज का स्मरण हो आता है और उससे कष्ट और बढ़ता ही है। न जाने स्वामी के पुनर्दर्शन द्वारा जीवन कब सार्थक होगा ?

इतने में घोषणा का शब्द सुनाई पड़ा—यहाँ से पास ही अश्वमेधयज्ञ आरम्भ हुआ है। वाल्मीकि के तपोवन-निवासियों के निमन्त्रण के लिए राम का दूत आया है। इस आदेश के अनुसार ऋषि-मुनि, शिष्य-मण्डली सहित, चलने को तैयार हो गये। सीता ने निर्विघ्न यात्रा के लिए कुश-लव को तिलक लगा दिया। वे स्वयं भी, अन्य तपस्विनियों के साथ, नैमिषारण्य की ओर चल पड़ीं।

तीसरा अंक

सीता, कुश और लव तथा अन्य तपस्वियों के साथ महर्षि वाल्मीकि नैमिषारण्य पहुँच गये। दूसरे दिन इन महर्षि के दर्शन करने के लिए राम और लक्ष्मण, दोपहर से पहले, गोमती-तट पर उनके आश्रम को गये।

(प्रवेशक)

मार्ग में जाते समय राम सीता के लिए चिन्तित हो रहे थे। लक्ष्मण को भी शोक था कि वह निरपराध सीता को, छल से, घने वन में छोड़ आया। लक्ष्मण ने राम के मनोविनोद के लिए उनका ध्यान गोमती नदी के सुन्दर दृश्य की ओर खींचा। उन्हें नदी में बहती हुई कुन्दमाला दिखाई पड़ी। राम उसे देखते ही पहचान गये। बोले, सम्भव है, यह माला सीता के हाथों से गुँथी हुई हो। दोनों उधर को ही चल पड़े जिधर से माला बहती आ रही थी। उस ओर से वेद-ध्वनि तथा धुएँ से दोनों समझ गये कि महर्षि वाल्मीकि का आश्रम समीप ही होगा। कुछ और दूर जाने पर लक्ष्मण को किसी स्त्री के पद-चिह्न दिखाई पड़े। राम ने उन पद-चिह्नों की बनावट से पहचान लिया कि वह पद-चिह्न सीता के ही हैं। दोनों उन पद-चिह्नों के साथ-साथ चल पड़े। कठोर भूमि पर वे पद-चिह्न ओझल हो गये और दोनों थकान मिटाने के लिए पास ही लताकुंज में बैठ गये।

उधर दूसरी ओर सीता फूल बीन रही थीं कि पेड़ों की आड़ में उन दोनों का वार्तालाप सुनाई पड़ा। राम को अपने लिए अधिक दुःखी देखकर सीता उनके पास जाने ही लगीं कि फिर यह सोचकर रुक गईं कि कोई मुझे देख न ले। अतः सीता कुश-लव के पास चली गईं। इसी समय महर्षि वाल्मीकि द्वारा भेजे हुए बादरायण ऋषि राम को लेने वहाँ आ गये।

चौथा अंक

एक दिन भगवान् वाल्मीकि के तपोवन में रामायण गाने के लिए, तिलोत्तमा अप्सरा बुलाई गई। उसने वेदवती से कहा कि मैं दिव्य-शक्ति के प्रभाव से सीता का रूप धारण कर राम के सामने जाकर जानना चाहती हूँ कि राम सीता पर दयावान् हैं या नहीं। वेदवती ने यह सूचना यज्ञवती को दी और राम का विश्राम-स्थान पूछा। यज्ञवती कहने लगी कि जब तुम्हारी यह बात तिलोत्तमा से हो रही थी तब लता की ओट में छिपे हुए राम के मित्र कौशिक ने यह सब मन्त्रणा सुन ली थी। अब वेदवती सोचने लगी कि राम के जान लेने पर यदि सीता का चरित खेला जायगा तो वह उपहास के विपरीत होगा। सो वेदवती ने जाकर तिलोत्तमा को रोक देने का निश्चय किया। यज्ञवती के

पूछने पर कि सीता अब कहाँ है वेदवती ने बताया—सीता आजकल सारा दिन बावड़ी के तट पर ही व्यतीत कर देती हैं क्योंकि महर्षि के प्रभाव से वहाँ स्त्रियाँ पुरुषों को अब दिखाई नहीं पड़तीं। यज्ञवती ने वेदवती को तिलोत्तमा के पास भेज दिया और स्वयं सीता के पास चली गई। (प्रवेशक)

शोक-विह्वल सीता बावड़ी के तट पर बैठी थीं। ठण्डी हवा के कारण उन्होंने दूसरा दोशाल ओढ़ रखा था। यह सुगन्ध-भरा दोशाल चित्रकूट की वनदेवता मायावती ने उन्हें भेंट किया था। उन्हें आजकल राम के तपोवन में आ जाने से शोक दूना हो रहा था। यज्ञवती उन्हें धीरज बँधाने लगी। उन्हें राजहंसों के जोड़े की विलास-भरी क्रीड़ाएँ देखकर मनोविनोद करने को कहकर चली गई।

उधर राम के साथ उनके बाल-मित्र कण्व वहाँ पहुँच गया। वाल्मीकि के आदेश से वह राम को नैमिषारण्य के सुहावने दृश्य दिखाकर उनके मनोविनोद करने के लिए लाया था। सन्ध्याकालीन नित्य-कर्म सम्पन्न करने के लिए कण्व उन्हें वहाँ अकेला छोड़कर चला गया। राम की आँखें धुएँ से परेशान हो गईं और वे बावड़ी पर उन्हें धोने के लिए चले गये। वहाँ उन्हें सीता की परछाईं दिखाई पड़ी परन्तु सीता को न पाकर वे मूर्च्छित हो गये। सीता ने उन्हें इस अवस्था में देखकर आलिंगन कर लिया और वे सचेत हो गये। राम ने सीता को समक्ष आने के लिए नम्र प्रार्थना की। सीता अव्यक्त रूप से उन्हें उत्तर देती रहीं। परन्तु दुःखित-हृदय राम फिर अचेत हो गये। सीता उन्हें अपने दोशाल से हवा करने लगीं और वे फिर सचेत हो गये। राम ने सीता का दोशाल खींच लिया और उसे पहचान कर ओढ़ लिया। उन्होंने अपना दोशाल ज्यों ही फेंका त्यों ही सीता ने उसे पकड़ लिया। इस समय साँझ हो गई थी। सीता चली गईं। राम इस घटना पर विस्मित हो रहे थे कि कौशिक वहाँ आ पहुँचा। वह आकर बोला कि उसने छिपे-छिपे सुना था कि तिलोत्तमा ने सीता का रूप धारण कर आपको बनाना चाहा था। अब राम समझ गये कि यह सारा खेल तिलोत्तमा का ही था।

पाँचवाँ अंक

अगले दिन प्रातःकाल नित्य-कर्म से निपटकर राम तपोधनियों को प्रणाम करने के लिए मण्डप में गये। परन्तु पिछले दिन की घटना से वे विस्मित और चिन्तित थे। कौशिक राम के मन की थाह लेने के विचार से बोला—सीता की भाँति हम जैसों को झूठे और मीठे वचनों से मत ठगो। परन्तु राम ने उत्तर दिया—बाहर से कठोर मेरी प्रेम-भरी चित्तावस्था (बाहर

से कठोर) कमल-दण्ड के अति कोमल परन्तु गुप्त तन्तुओं की भाँति छिपी रहती है। राम ने यह विषय दुःखदायी समझकर कौशिक को बाहर द्वारपालों को यह सन्देश दे आने के लिए भेजा कि तपस्वियों के आने का समय हो गया है; जो आना चाहें उन्हें यहाँ सादर ले आवें।

कौशिक बाहर जाकर शीघ्र ही लौट आया और राम से बोला—अपनी कला दिखाने के लिए बाहर दो तापस-कुमार आये हैं। वे दोनों वाल्मीकि के शिष्य हैं। वीणा बजाने में अति निपुण हैं। उन्हें तत्काल बुलाया गया। राम ने उन्हें हृदय से लगा लिया। दोनों को अपनी गोदी में आसन पर बैठा लिया। इस समय राम कौशिक से पूछने लगे—कौशिक ! सीता को निर्वासित किये कितने वर्ष हुए ? कौशिक कुछ सोचकर बताने लगा—यह दसवाँ वर्ष है। राम कुमारों को देखकर बोले कि यदि प्रसव सकुशल हुआ हो और यदि उसकी सन्तान जीवित हो तो उसकी इस समय इतनी ही आयु होगी। इस विचार से कौशिक और राम दोनों दुःखी हो उठे। इसी समय कौशिक सहसा बोल उठा—"हाय ! तपस्वी-कुमारों को छोड़िए। ये जीवित रहें। सिंहासन से नीचे उतर आवें।" राम ने जब कारण पूछा तो कौशिक बोला—अयोध्यावासी वृद्ध-पुरुषों से सुना है कि इस सिंहासन पर रघु-वंशियों के अतिरिक्त जो कोई बैठता है उसके सिर के सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं। परन्तु उन कुमारों का कोई अनिष्ट न हुआ। राम ने कुतूहल-वश उनसे पूछा कि तुम्हारा क्या वर्ण और आश्रम है ? लव बोला—मेरा दूसरा वर्ण और पहला आश्रम है। राम को यह भी पता चला कि वे सूर्यवंशी हैं और दोनों सहोदर भाई हैं। बातचीत में राम को सन्देह हो गया कि वे मेरे ही पुत्र हैं। इतने में नेपथ्य से कुश-लव को पुकारकर किसी ने रामायण-गान शीघ्र ही प्रारम्भ करने को कहा। राम ने रामायण-गान सुनने के लिए अपने इष्ट-मित्र तथा सम्बन्धियों को एकत्र होने के लिए सन्देश भेजा।

छठा अंक

सभा-मण्डप में रामायण-गान आरम्भ हो गया। कुश-लव ने दशरथ के विवाह से लेकर सीता-वनवास तक रामायण-गान किया। राम ने अब कुमारों से पूछा—तुमने यहीं तक पढ़ा है अथवा कथा ही समाप्त हो गई ? कुश बोला—हम नहीं जानते। राम ने अब कण्व से पूछना चाहा। कण्व को बुला भेजा गया। कण्व आकर आसन पर बैठ गया और उसने आगे गाना आरम्भ कर दिया। सब को विदित हो गया कि महर्षि वाल्मीकि सीता को अपने आश्रम में ले गये। बाद में यह भी सूचित हो गया कि कुश-लव दोनों सीता के पुत्र हैं। यह जानकर राम-लक्ष्मण तथा कुश-लव सब मूर्च्छित हो गये। वाल्मीकि सीता-

सहित वहाँ घटनास्थल पर पहुँच गये। महर्षि ने राम और लक्ष्मण को सचेत किया, सीता ने कुश और लव को। वाल्मीकि ने राम को सीता का परित्याग कर देने के लिए डाँटा और सीता को अपनी चरित्र-शुद्धि प्रमाणित करने के लिए कहा। सीता ने हाथ जोड़कर शपथ-पूर्वक कहा—"देवताओं और असुरों में भी अद्वितीय धनुर्धर रघुकुलनन्दन के अतिरिक्त यदि मैंने अन्य किसी पुरुष को, पातिव्रत के विरुद्ध भाव से, देखा हो या कुछ वचन कहे हों, या हृदय से चिन्ता की हो तो इस सत्य वचन से सकल लोक को प्रत्यक्ष दर्शन देती हुई दिव्य रूपवती वसुन्धरा लोगों के सामने उसका स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करे।" तत्काल, उज्ज्वल वेष-धारिणी स्त्रियों के साथ, पृथ्वी माता प्रकट हो गई। पृथ्वी ने कहा—राम के अतिरिक्त सीता ने मन से भी पर पुरुष का ध्यान नहीं किया। इसी समय आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई और वाजे वजने लगे। वाल्मीकि के कहने पर राम ने अब सीता को स्वीकार कर लिया। पृथ्वी माता आशीर्वाद देकर अन्तर्धान् हो गई। राम ने वाल्मीकि की अनुमति से कुश का राज्याभिषेक कर दिया और लव को युवराज पद प्रदान किया।

कथा-वस्तु का स्रोत

कुन्दमाला नाटक की कथा के दो स्रोत हैं—वाल्मीकि रामायण और भवभूति-कृत उत्तररामचरित। इन दोनों स्रोतों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा विदित होता है—१. सीता का वाल्मीकि के आश्रम में रहना; २. अश्वमेधयज्ञ का नैमिषारण्य में रचा जाना; ३. और आरम्भ से लेकर रामायण-गान; गायन-क्रम रामायण के आधार पर किया गया है तथा अन्य घटनाओं के लिए (अङ्क २ से ४ तक) नाटककार ने प्रधानतया उत्तररामचरित का अनुकरण किया है। दिङ्नाग ने भवभूति का वीर-रस-पूर्ण दृश्य निकाल दिया है और रामायण तथा उत्तररामचरित का कथानक मिलाकर एकरूप कर दिया है। पाँचवें अङ्क में शाकुन्तलम् के चौथे अङ्क का अनुकरण किया गया है।

रामायण की कथा में परिवर्तन

१. रामायण के उत्तरकाण्ड में दिखाया गया है कि सीता पृथ्वी में समा गईं। ऐसी दुःखान्त घटनाओं का नाटक की समाप्ति पर दिखाना, नाट्य-शास्त्र में निषेध किया गया है, अतएव नाटककार को इसमें परिवर्तन करना आवश्यक ही था।

२. रामायण में वाल्मीकि का तपोवन गंगा के दूरतम तट पर तमसा के किनारे स्थापित है, अतः नदी को नौका द्वारा पार करना पड़ता है। नदी का नौका द्वारा पार करना नाटक में दिखाना कठिन है, अतएव नाटककार ने आश्रम

गंगा नदी के तट पर दिखाया है। नाटक में यह प्रतीत नहीं होता कि उन्हें वाल्मीकि के तपोवन के समीप छोड़ा गया है।

३. नाटक में जान पड़ता है कि राम को सीता-परित्याग के समय किसी ने नहीं रोका, परन्तु रामायण और रघुवंश कथानक इससे भिन्न हैं। देखिए

"शीघ्रमागच्छ सौमित्रे! कुरुष्व वचनं मम।
न चास्मि प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथंचन॥
तस्मात्त्वं गच्छ सौमित्रे! नात्र कार्या विचारणा।
अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वय्येतत् प्रतिवारिते॥
शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च।
ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथंचन"॥ रामायण ७.४५

"तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः।
यद्यर्थिता निहृतवाच्यशल्यान् प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः॥"
रघु० १४.४२

४. रामायण में सीता को वन में छोड़ने से पहले लक्ष्मण बता देता है कि उन्हें वाल्मीकि के आश्रम के समीप छोड़ा जा रहा है और वाल्मीकि भी इस बात को जान लेते हैं। देखिए,

"आयान्ती चासि विज्ञाता मया धर्म-समाधिना।" उत्तर काण्ड

उत्तररामचरित की कथा में परिवर्तन

कुन्दमाला में उत्तररामचरित के वीररस के अभाव का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त उन घटनाओं का भी बहिष्कार कर दिया गया है जो रामायण के आधार पर नहीं हैं अर्थात् जो भवभूति की कल्पना-शक्ति की उपज हैं। उदाहरणतया, उत्तररामचरित के पहले अङ्क की चित्र-प्रदर्शिनी, दूसरे अङ्क के शम्बूक-वध और सातवें अङ्क के अन्तर्नाटक का कुन्दमाला में सर्वथा अभाव है।

उत्तररामचरित में भवभूति ने सीता को कुश-लव के दूध छोड़ देने पर, पाताल-लोक में वनवास का समय व्यतीत करने के लिए भेज दिया है और कुश-लव उनसे पृथक् कर दिये गए हैं, परन्तु कुन्दमाला में सीता वाल्मीकि के तपोवन में अपने वनवास का सारा समय व्यतीत करती हैं और कुश-लव दोनों उनके पास हैं।

उत्तररामचरित में विदूषक का अभाव है, परन्तु कुन्दमाला में उसकी पूर्ति कर दी गई है। नाटकों में प्रायः प्रतीहारियाँ देखने में आती हैं परन्तु कुन्दमाला में सब प्रतीहार ही हैं।

उत्तररामचरित में सीता-वनवास की अवधि बारह वर्ष है, परन्तु कुन्दमाला में दस वर्ष ही हैं। (१४६.६)

उत्तररामचरित में कुश-लव को विदित नहीं कि वे सूर्य-वंशी हैं परन्तु कुन्दमाला में इसका उन्हें ज्ञान है। इससे कदाचित् राम को उन्हें पहचानने में और सुभीता रहता है।

उत्तररामचरित में सीता को पता था कि उनके गर्भ में दो बच्चे हैं, परन्तु कुन्दमाला में सीता को इसका ज्ञान नहीं। (समान एव प्रसवः प्रेक्षितव्यः; २१.१३; इक्ष्वाकूणां सन्ततिः १.१९)

उत्तररामचरित में गंगा और पृथ्वी स्वयं सीता को लेकर प्रकट होती हैं, परन्तु कुन्दमाला में सीता स्वयं उनका आह्वान करती हैं।

उत्तररामचरित में तिलोत्तमा आदि की कोई घटना नहीं, कुन्दमाला में बड़े सुन्दर ढंग से इसका संमिश्रण किया गया है।

पुनर्मिलन के अनन्तर कुन्दमाला में कुश और लव का क्रमशः महाराज-पद तथा युवराज-पद पर अभिषेक किया जाता है, उत्तररामचरित में ऐसा कुछ नहीं।

धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति

नाटक की सफलता में तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थिति का ठीक-ठीक वर्णन होना भी एक आवश्यक अंग है। दिङ्नाग ने इसी ओर प्रयत्न किया है परन्तु अनजान में उसके अपने समय का भी वातावरण साथ अंकित हो गया है। दिङ्नाग के समय पौराणिक हिन्दू-धर्म परिपक्वावस्था को प्राप्त हो चुका था। देवी-देवताओं की पूजा का भली-भाँति प्रचलन हो चुका था। विघ्न-बाधा के निवारण के लिए गणेश-वन्दना का भी प्रचार हो चुका था। (१.१) ब्रह्मा, विष्णु और शिव का उल्लेख यही बात सूचित करता है। (६.४५) मनौती का भी प्रचार प्रचलित था। सीता सकुशल प्रसव के निबटने पर प्रतिदिन गंगा को कुन्दमाला की भेंट करने की मनौती मानती हैं। (४२.७-८) उस समय अवतारवाद का भी विचार पूर्णतया प्रचलित हो चुका था। दिङ्नाग ने राम को विष्णु का अवतार मानकर उनका चरित्र-चित्रण करने का प्रयत्न किया है। इसी कारण उसने राम को 'रामाह्वयस्य मधुसूदनस्य' (३१.८) 'रामाभिधानो हरिः' (३.१४) लिखा है। गंगा की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। गंगा नदी ही नहीं, 'मातर्गङ्गे' पुकारी जाने लगी थी। गंगा-दर्शन तथा गंगा-स्नान पुण्यदायी और पापनाशक समझा जाने लगा था। दूसरी नदियाँ भी गंगा-तुल्य समझी जाने लगी थीं। सीता तभी तो नैमिषारण्य पहुँच जाने पर कुन्दमाला की

भेंट गोमती नदी को ही करती है। दैनिक नित्य-कर्म सभी करते थे। (५.१; ७३.८.१२; ५.१६) तीनों सवन का पालन होता था। दोनों समय अग्नि-होत्र किया जाता था। तपोवन साम-गान के शब्द से गूँजता रहता था। ताप-सियाँ तपस्वियों के स्थान से कुछ दूरी पर रहती थीं। लोग हरिण-हरिणियाँ घर में रखते थे। पालतू जानवर की हिंसा जघन्य समझी जाती थी। राजाओं में विशेषकर बहु-विवाह प्रथा का प्रचार था (१.२४; ६.३) परन्तु राम-सदृश व्यक्ति इसके प्रतिकूल थे। भिन्न-भिन्न वर्णों के ब्रह्मचारियों की वेष-भूषा एक-सी होने लगी थी। गुरु-जनों का विशेष आदर-सम्मान होता था। वानप्रस्थ में आस्था कम होने लगी थी। (१४७.७-८) ब्राह्मणों का विशेष सम्मान था। राजा लोग भी उनसे नमस्कार की इच्छा नहीं रखते थे। कुश-लव के प्रणाम करने पर राम दुःखी हो उठे। (१४६.५) तपस्वियों की मान-प्रतिष्ठा और भी अधिक थी। राम अपने बाल-मित्र कण्व ऋषि द्वारा सम्मानपूर्वक सम्बोधन पर संकोच का अनुभव करने लगे। तपस्वियों का तपोबल अमोघ तथा सर्वार्थ-सिद्धि-सूचक समझा जाता था। देवता तक उनका बाल-बाँका नहीं कर सकते थे। (४.१४) अतिथि का विशेष रूप से स्वागत किया जाता था; उन्हें गले लगाया जाता था। (१४७.५) स्त्रियाँ अधिक लज्जाशील थीं। स्नान के समय के अतिरिक्त वे फूल बीनने के समय भी पुरुष-दृष्टि से बाहर रहना चाहती थीं। वे अभ्यागतों से घूँघट निकालती थीं। (३७.१०) परदे की प्रथा चल पड़ी थी। (१६३.५-६) राम, लक्ष्मण, सीता, विदूषक—सभी ग्रीष्म-ऋतु में भी नंगे पाँवों घूमते थे। [दक्षिण में अब भी ऐसा ही होता है।] (१.३०; ३.८ १४९.४) ऋषि-मुनि योग-बल द्वारा सब कुछ जान लेने की शक्ति रखते थे। (४१.६) गृहस्थ लोग धर्मपत्नी के साथ ही यज्ञ कर सकते थे। विवाह के दो उद्देश्य समझे जाते थे—सन्तानोत्पत्ति तथा यज्ञ-कर्म। (६.३८) पुंसवन, जातकर्म, उपनयन आदि संस्कारों का पालन किया जाता था। राजभवन में पिछले राजाओं की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। (२७.११) [भास-कृत प्रतिमा नाटक में भी हम यही बात पाते हैं।]

अन्ध-विश्वासों में लोग आस्था रखते थे। जब कौशिक ने कहा कि राघवों के अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति सिंहासन पर बैठे तो उसका सिर सौ टुकड़े हो जाता है; तब राम ने भी इस पर विश्वास कर लिया।

छोटा भाई बड़े भाई का नाम नहीं लेता था। राम से कुश का परिचय कराते समय लव छोटे होने के कारण कुश का नाम नहीं लेता। स्त्रियाँ भी सास-ससुर तथा पति का नाम लेने से संकोच करती होंगी, परन्तु आपत्काल में

इस नियम का पालन न हो सकता था।

राजा लोग प्रजानुरंजन में सदा तत्पर रहते थे। प्रजा-हित ही उनका सर्व-प्रथम लक्ष्य रहता था। प्रजा की प्रसन्नता के लिए ही राम ने धर्म-पत्नी सीता का परित्याग कर दिया।

गौओं का आदर-भाव विशेष होने लगा था। उनके कल्याण के लिए, वृद्धि के लिए सदैव अभिलाषा रहती थी। (१८६.५; ६.४५)

दिङ्नाग की शैली

दिङ्नाग की शैली प्रसाद गुण से परिपूर्ण है। कवि ने सरल शब्दों का अधिकतर प्रयोग किया है और कई स्थानों पर वे सरल शब्द अपरिचित अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। इसी कारण टीकाकारों को उनका ठीक-ठीक अर्थ समझने में कठिनाई का अनुभव करना पड़ा है। निम्नलिखित शब्द इस बात की पुष्टि करेंगे :—

परिकर्षति	(६.८)	परिधानक	(११३.७)
विषादः	(१२.१)	प्रदर्शित	(११४.३)
विश्रान्त	(१३.२)	पीन	(१२५.६)
प्रपद	(१३.३)	विलोक्यते	(१२६.१)
संपात	(२९.३)	उपक्षिप्य	(१३०.१)
दृश्यते	(३५.१०)	असूच्यम्	(१३१.२)
महार्घ	(५६.२)	अन्तरेण	(१३१.६; १८१.४)
समुत्कृष्य	(६०.३)	ग्रहण	(१४१.८)
रचित	(६६.१; ७२.४)	सीत्कार	(१४१.१२)
व्यवधाय	(६९.३)	वर्धयन्ती	(११४.१३)
तिलक	(७२.४)	परिक्रामन्ती	(१४७.७)
सहाय	(७९.१)	अव्यवहित	(१५२.२)
स्तिमित	(८०.१०)	परिणीत	(१५२.३)
अद्य	(१९.९)	आतिथेय	(१५२.६)
संपातित	(८९.९)	उच्छ्वसित	(१५७.१)
परित्यक्ता	(९२.८)	संक्रान्त	(१६२.२)
प्रणीत	(९२.११)	अन्तिकाद्	(१६३.५)
उपाश्रयन्ते	(९९.७)	निष्क्रान्तम्	(१७४-५)
संभावयामि	(१०६.३)	आयुष्यमान	(१७९.४)
वीक्षिता	(१०७.८)	अतिवाहयति	(१७९.५)
स्पृशति	(१२६.५)	अकृष्ट	(१८१.५)

पात	(१२४.६)	अनुवर्तयन्ति	(१९२.१२)
वोढुम्	(१८९.७)	देवाः	(६.३८)
आमनन्ति	(१९१.१)	त्रिधामा	(६.४५)

यह सूची और भी बढ़ाई जा सकती है।

दिङ्नाग ने लट् का प्रयोग आशंसा के अर्थ में भी किया है। (९.२)। पुरा के साथ लट् का प्रयोग भविष्य काल के लिए किया गया है। (६९.५; १३९.२-३)

दिङ्नाग ने प्राचीन शब्द के सदृश नये शब्द गढ़ने का प्रयास किया है। देखिए,

दिङ्नाग	प्राचीन प्रयोग
महाहितम् (३७.१३)	अत्याहितम्
परित्यक्ता (९२.८)	विसृष्टा
अन्तर्भूता (१९६.७)	अन्तर्हिता

कई बार दिङ्नाग ने संक्षेप में कहना उचित समझा है, अर्थात् विशेषणों की संज्ञाओं का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। उदाहरणतया, ज्येष्ठ—(भ्रातृ-) वचनानुवर्ती (३०.७); अत्याहितं (कर्म) आचरितम् (३७.१२); यथाऽभिमतं (वस्तु) प्रतिज्ञाय (१३९.२); दूरं (स्थानम्) आरोपितास्मि (१८९.९)। यद्यपि वामन आदि ने यह गुण माना है, तथापि कई स्थानों पर यह अवगुण वन गया है। देखिए, एनामपि भगवतीं (भागीरथीम्) आर्यायाः····(३२.२); भगवती महा-प्रभावा (वसुन्धरा) चित्र-शुद्धिम्····(१८४.२); कर्तव्यतां केन (रूपेण) अर्थयसि (१९०.१) आदि।

प्रतीत होता है कि दिङ्नाग ने दैनिक संवाद की-सी भाषा का प्रयोग करना चाहा था। कुछ स्थानों पर संक्षेप के प्रेमी दिङ्नाग ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो अनावश्यक हैं, जैसे चिरकालानुचरः (१९७.४), इसमें 'काल' शब्द अनावश्यक है।

दिङ्नाग ने कुछ शब्दों तथा प्रत्ययों को प्रयोग करने में प्रेम दिखाया है, जैसे मात्र—सीता-मात्रस्य कृते (१०.१०); उपालम्भ-मात्रेण विना (१९.१०); स्मरण-मात्रेण (२६.६); श्रुति-मात्रेण (४८.१९); उत्तरीय-मात्रमेव (११३.६); दर्शन-मात्रेणापि (११३.६); आपात-मात्रेण (१४३.८) इत्यादि।

दीर्घ—-संताप-दीर्घेण (५९.८); दीर्घेण दीर्घिका-मारुतेन (३१.१०) इत्यादि।

निभृत—७१.३; ७२.३; ११८.१४; १८२.३ इत्यादि

भाव—भावदोषात् (२०.६); प्रकृति-निष्ठुर-भावानां पुरुष-हृदयानाम् (४८.१५.१६); भाव-बन्धः (१३१.३); अनुरागाः भावाः (१३२.२); पतिव्रता-विरुद्धेन भावेन (१३२. २३.२४) आदि।

कई बार 'बाल' शब्द के साथ 'भाव' का प्रयोग किया है। जैसे, विज्ञायमान-स्त्री-पद-भावानि (७१.३); परित्यक्त-बाल-भावौ (५५.१२); आत्मनो बाल-भावेन (९०-४.५)। 'बाल-भाव' का तो कई-एक वार प्रयोग हुआ है। देखिए, (५५.१२; १३६.११; १३७.४; १४०.६; १४८.६; १५६.३)। तुलना कीजिए, उपकरणी-भाव उत्तर० ३.३

उपलक्षित—(७०.७; १२०.१२; १४६.८; १५६.१०)

√पत् और इससे बने शब्द, पात (६.२४); संपातित (८९.९); संनिपतित (५६.१६-७); संपात (२९.३; ४७.१; ८०.१२; १२४.३) निःसंपात (७६.३; १०७-८; ९-१)।

कवि ने अन तद्धित प्रत्यय (ल्युट्) का कर्तृवाच्य रूप में प्रयोग किया है, जैसे परिधानक (११३.७); कला-दर्शनौ (१३६.१४), दारुणत्व-सूचनः (१५८.१४); माहात्म्य विभावनः (१५४-१४, १५)

क्तान्त शब्दों के प्रति भी कवि का मोह प्रतीत होता है, जैसे जीवित (२१.१४); परिदेवित (२७.१५); प्रेक्षित (५१.२); लज्जित (५६.७); रसित (१३८.१५); अभिक्रान्त (१४४.८); उच्छ्वसित (१५७.१); निष्क्रान्त (१७४.५); इष्ट (१९५.१३); आदि।

कुछ शब्द प्रस्तुत नाटक में खटकते हैं, उनका रूप विचित्र है, अथवा अर्थ अनूठा है अथवा मोहावरा अनुचित है, जैसे नीवार-लता (१३.४); वीजन्ते (१४.७); पूर्ण-दुःख-कारिणी (४८.२१); सलिलान्तरम् (६८.८); तपः-शरीराणि (१५१.९); आयुज्यमान (१७९.४) प्रतिनिवृत्त (१८९.४-५) अतिवाहयति (१७९.५) इत्यादि।

व्याकरण में निपुण होने पर भी दिङ्नाग की रचना में व्याकरण के अनेक दोष पाये जाते हैं, जैसे नमस्व (४३.२); व्यवसितुम् (१५.५); शब्दापयिष्ये (३७.६); शब्दापयति (५०.७); शब्दापयिष्यामि (५१.२); संतप्यते (६३.४); अवतार (६५.१); आशङ्कमाण (८१.६-७); आरोहे (१४७.७); स्वस्तिना (१४९.८); माल्य (१७९.७; १८७.४); कौसल्या-मातः (१९४-४); सम्भव है कुछ स्थानों पर लिपिकारों का प्रमाद हुआ हो, अन्यथा यहाँ व्याकरण का उल्लंघन हुआ है। परन्तु कुछ स्थानों पर महाकाव्य, भास, कालिदास और भवभूति सरीखे महा-कवियों तथा प्राकृत का प्रभाव भी कारण है।

दिङ्नाग ने मा (निषेधात्मक अव्यय) का चार प्रकार से प्रयोग किया है:—

१. लट् के साथ—मा त्वमत्र स्थितः खलु···मम हृदय-विभ्रमुत्पादयसि (१२७.७-१०); मा त्वं वैदेहीम् (इव) अलीक-मधुर-वचनैरस्मादृशं वञ्चयसे (१३१.३-६);

२. लोट् के साथ—सखि मोत्ताम्य। समासन्नो रामस्य यज्ञ-दीक्षा-समयः। (५४.९); मा बिभीहि। राम-वयस्यः खल्वहम्। (१२०·२)

३. लुङ् के साथ—सखि, मा रोदीः। न ह्येष तपोवन-वासी वनवास इति प्रोच्यते। (९३.२-३); वत्से त्वरस्व! मा परिलम्बिष्ठाः। (१७४.४)

४. स्वयंगम्य क्रिया के साथ—निरनुक्रोशस्य पुत्रो! मा चापलम्। (१५९.४)

इन त्रुटियों के अतिरिक्त दिङ्नाग की शैली सरल-सुगम है, दुरूहता कहीं भी नहीं। लम्बे-लम्बे समासों का भी अभाव है। भारवि, माघ, बाण आदि की कृत्रिमता से सर्वथा मुक्त है। नाटक के लिए ऐसी शैली सर्वथा उपयुक्त हैं। देखिए, सुभाषितावली का परिशिष्ट (२०६-७)।

यथावसर अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। देखिए,

जम्भारि-मौलि-मन्दार-मालिका-मधु-चुम्बिनः। (१.३)

पदे पदे मे पदमादधाना शनैः शनैरेतु मुहूर्तमार्या ।। (१३.५)

कलहंसाः कलगिरः। (१४.८)

निर्लक्षणो लक्ष्मणः (१५.६)

आर्यस्य रमणे भवनेऽपि वासस्तव प्रवासे वनवास एव ।। (१७.७)

विजने वने (३०.५)

दिवसावसान-सवनाय (३८.२)

सजल-जलद (७५.१३४)

दिङ्नाग की उपमाएँ भी मनोमोहक हैं। देखिए,

दीर्घेण दीर्घिका-मारुतेन (९१.१०)

असित-पक्ष-चन्द्रलेखेव दिने-दिने परिहीयसे। (५२.९)

स्वमति-प्रबलेन हृदय-सन्तापेन वडवानलेनेव भगवान् महासमुद्र आत्मनो महत्त्वे न परिहीयसे। (१३२·७-८)

अहं पुनः स्वभाव-लघुतया देव्याः सीताया गतिं स्मृत्वा दावाऽनलेनेव तुषार-बिन्दुर्निरवशेषं परिशुष्यामि। (१३२.८-१०)

प्रविश्य तरु-मूलानि नीत्वा मध्यन्दिनाऽऽतपम्।

अध्वनीना इव छाया निर्गच्छन्ति शनैः शनैः ॥ ३.१६

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा (१.२, १७,); रूपक, निदर्शना (३.७; ६४ ५-६); दृष्टान्त (५.७, ८, १०, १२), अर्थान्तरन्यास (६.४०) विभावना (३८-७,८; ६.१९) आदि अलंकारों का भी प्रयोग बड़ी निपुणता से हुआ है।

दिङ्नाग की नाटकीय कला

यद्यपि दिङ्नाग ने भवभूति से पर्याप्त मात्रा में उद्धृत किया है तथापि नाटकीय कला की दृष्टि से वह भवभूति से बढ़ गया है। उसने भवभूति के लम्बे-लम्बे संवादों को त्यागकर छोटे-छोटे संवादों को अपनाया है। स्वाभाविक संवाद दिङ्नाग की विशेषता है। सरल सरस सुगम शब्दावलि सोने पर सुगन्ध है। यत्र-तत्र उसने साधारण बोलचाल की भाषा का भी प्रयोग किया है, जैसे 'तिलोत्तमा-सिलोत्तमा'। प्रत्येक पात्र के मुख से उसके अनुरूप ही कथोपकथन कराया गया है। इससे स्वाभाविक वातावरण के चित्रण में पर्याप्त सहायता मिलती है और इसी में नाटक की प्रगति होती है। इन विशेषताओं के कारण दिङ्नाग के संवाद दर्शक अथवा पाठक को मोहित कर लेते हैं। संवाद चाहे छोटे हैं परन्तु हैं नाटकीय तथ्य से भरे हुए। ऐसे प्रसंग जहाँ पर दिङ्नाग की मौलिकता है, वहाँ वह अपनी प्रशंसा किये बिना नहीं रहता। देखिए, अहा उदात्त-रम्यः समुदाचारः। (१५४.९) अहो संक्षेपः। (१६८.३) जहाँ कहीं उसने अन्य कवियों का अनुकरण किया है, वहाँ वह मौन है।

संवादों के अतिरिक्त दिङ्नाग चरित्र-चित्रण में विचित्र चितेरा प्रमाणित हुआ है। उसके पात्रों में स्वाभाविकता तथा सजीवता की पुट पर्याप्त वर्तमान है। प्रत्येक पात्र अपना विशेष व्यक्तित्व ग्रहण किए है। वे कठपुतली नहीं वरंच उसी संसार के चलते-फिरते जीव हैं जो दुःख-सुख के चक्र में दबते-उभरते अपना समय व्यतीत कर देते हैं। प्रत्येक पात्र का चरित्र परिस्थितियों के अनुसार हमारे सामने धीरे-धीरे विकसित होता है। इस प्रकार उनकी अन्तःप्रकृति तथा बाह्य-प्रकृति का भव्य चित्रण उपस्थित किया गया है। जब कभी कोई अपने से बड़े पर खीझ निकालना चाहता है और ऐसा कर नहीं पाता तो वह अपना क्रोध छोटों पर ही निकालता है। ठीक वही परिस्थिति सीता की है। निर्वासित होने का क्रोध वे राम पर तो निकाल नहीं पातीं, कुश-लव पर बरसती हैं। देखिए,

तस्याप्रभवन्ती एतेन वचनेन "निरनुक्रोशस्य पुत्रौ मा चापल" इत्येवं दारकं निर्भर्त्संयति। (१३६.८-९)

प्रवास में पति के दर्शन पाकर सीता के मन की दशा का चित्रण नाटककार ने बड़ी कुशलता से किया है। (७५.२-२६) इसी प्रकार कुश-लव को

देखने से राम का हृदय रो उठता है। (१५८-१२-१६; १७३·३) वास्तव में दिङ्नाग ने अपने पात्रों की मानवीय दुर्बलताओं का स्पष्ट चित्र खींचा है। दिङ्नाग की सीता भवभूति की सीता से भिन्न हैं। भवभूति की सीता पति-निर्वासन के दण्ड को बिना आह निकाले सह लेती हैं, परन्तु दिङ्नाग की सीता ऐसा नहीं करतीं। वे विरोध करती हैं, खीझ निकालती हैं, राम को 'निष्ठुरः' (२४.६) निरनुक्रोशः (७१.२३) विपरीतः खलूपालम्भः (११०.१२-१३), का एष यो युवाभ्यमेवं प्रेक्षिता (१७७.५-६) आदि वचन कहने में नहीं हिचकतीं। इसी प्रकार राम की भी मानवीय दुर्बलताओं का चित्रण किया गया है। सीता के पद-चिह्न तथा उनकी परछाईं आदि को देखकर राम सीता के लिए अधीर हो उठते हैं। इसी चित्रण ने दृश्य में स्वाभाविकता ला दी है, अन्यथा कृत्रिमता झलमलाने लगती। यथार्थ चित्रण होने पर भी यह चित्रण आदर्श लिए हुए है। सीता का हृदय विद्रोहाग्नि से भले ही भभक रहा हो परन्तु वे अपने कानों से पति की निन्दा कदापि नहीं सुन सकतीं। (५२·८-९) उन्हें अपने पति के हृदय पर पूर्ण विश्वास है; उसे वह अपना समझती हैं। (५३·५-७)

प्रकृति-चित्रण में दिङ्नाग ने विशेष चमत्कार नहीं दिखाया। नैमिषारण्य की शोभा, गोमती नदी, गंगा नदी, तपोवन की बावड़ी, लताकुञ्ज, सूर्यास्त आदि अनेक दृश्यों का बड़ा सुन्दर वर्णन अंकित किया जा सकता है। सम्भव है नाटक का कलेवर बढ़ जाने के भय से उसने ऐसा न किया हो। वैसे उपमाओं के लिए तो कवि ने अनेक चित्र प्रकृति के कोष से ही लिये हैं। कवि प्रकृति की ओर आँखें मूँदे नहीं था। छठे अंक में प्रकृति का डरावना चित्र प्रस्तुत करने में उसने अपने कौशल का परिचय दिया है।

'कुन्दमाला' करुण रस से ओत-प्रोत नाटक है। नाटक का आरम्भ ही उस घटना से होता है कि लक्ष्मण सीता को निर्वासित करने के लिए रथ में लिये जा रहा है। इस दृश्य से कौन पाषाण-हृदय न पिघल उठेगा? पशु-पक्षी भी सीता की विपत्ति के कारण शोक-विह्वल हो उठते हैं। (१.१८)

दूसरे अंक में सीता गत सुख-वैभव की स्मृतियों से और भी शोक-ग्रस्त हो जाती हैं। परन्तु सब-कुछ होने पर भी उन्हें राम के ऊपर अटल विश्वास बना रहता है।

तीसरे अंक में नैमिषारण्य में राम सीता की दशा का स्मरण करके शोक-सागर में डूब जाते हैं और अपने-आपको कोसने लगते हैं। राम की इस विकलता के कारण दर्शकगणों के हृदय में स्वाभाविक समवेदना उत्पन्न हो जाती है। इसी अंक में सीता के हाथों की गूँथी हुई कुन्दमाला, सीता के पद-चिह्न

तथा चौथे अंक में वावड़ी में सीता की ही परछाईं देखकर वे द्रवीभूत हो जाते हैं। इससे हमारे हृदय में करुण रस का तीव्र संचार होने लगता है। तीसरे और चौथे अंकों में राम और सीता के संवादों द्वारा भी ऐसी मार्मिक व्यथा उभर उठती है कि राम और सीता के साथ-साथ दर्शकगण भी करुण रस में वह जाते हैं।

पाँचवें और छठे अंकों में कुश-लव के दर्शन और परिचय के अवसर पर दर्शकजनों की आँखें सावन-भादों की घटायें वरसाने लगती हैं।

इन प्रसंगों द्वारा स्पष्ट है कि कुन्दमाला करुण रस से ओत-प्रोत नाटक है। इसका कथानक सीधे मर्मस्थलों पर प्रहार करता है। कविवर दिङ्नाग करुणरस से परिपूर्ण वातावरण रचने में पूर्णतया सफल रहा है। 'उत्तररामचरित' में पाँचवें और छठे अंकों में वीररस भले ही हिलोड़ें ले रहा हो परन्तु कुन्दमाला में करुण-रस ही सर्वत्र आप्लावित हो रहा है।

दिङ्नाग की विशेषताएँ

दिङ्नाग सफल नाटककार है परन्तु कवि के रूप में उसे उतना श्रेय नहीं दिया जा सकता। कालिदास, भारवि, भवभूति जैसे काव्य-दिग्गजों के समक्ष वह कहीं नीचे रह जाता है। उसमें कालिदास की कमनीय कल्पना, भवभूति का सविस्तर शक्तिशाली वर्णन और शूद्रक के हास्य का अभाव है। परन्तु इन महाकवियों की तुलना में वह चाहे छोटा हो, परन्तु अश्वघोष आदि कवियों से वह कहीं वढ़-चढ़कर है।

दिङ्नाग की भाषा सरल है और इसीलिए सहज-सुगम है। उसकी भाषा परिमार्जित तथा लालित्यपूर्ण है। लम्बे-लम्बे समासों का प्रायः अभाव-सा है। रोचक और चुस्त संवाद छोटे-छोटे वाक्य दिङ्नाग की विशेषता है।

दिङ्नाग में हमें कालिदास की हृदयग्राही सरलता, भारवि की शब्दार्थ की दुरूहता और भवभूति की वास्तविकता मिलती है। उसके पात्र कालिदास के पात्रों की भाँति आदर्शवादी और दिव्य नहीं, अपितु हाड-मांस के रचे सजीव पात्र हैं, जिन्हें भवभूति भी नहीं रच पाया। यह जानकर हर्ष होता है कि भारवि, सुबन्धु, वाण, माघ आदि कवियों के पश्चात् होने पर भी दिङ्नाग कृत्रिमता से दूर रहा है। उसने अनुप्रास और यमक के प्रति अपना अनुराग अवश्य दिखाया है परन्तु अर्थ की सरलता तथा सुगमता में कोई बाधा नहीं आने दी। उसके गद्य में एक अनूठा बहाव है तथा ताल एवं लय है। गद्य-पद्य दोनों में दूरान्वय दोष का अभाव है। नाटक में कई-एक सुन्दर वाक्य हैं जो सुभाषित में गिने जा सकते हैं। नाटक छोटा होने पर भी तपोवनों तथा वनस्थली के दृश्यों

से सुशोभित है। ताल और बावड़ी के निर्मल स्वच्छ जलों में कमल तथा राज-हंसों से विराज रहे हैं। आम्र-मञ्जरियों से लदे पेड़ सुहावने दृश्य उपस्थित करते हैं। दोपहर का वर्णन भी सुन्दर हुआ है। (३.१६, १७) भयानक वातावरण जिसमें पातालोद्भेद होना, पर्वतों का चलायमान होना, समुद्र का उछलना, पुष्प-वृष्टि का होना, दुन्दुभियों का बजना, हमें प्रभावित किए बिना नहीं रहता। प्रारम्भ से अन्त तक नाटक हमें आकृष्ट किये रहता है, कहीं भी लम्बे-लम्बे वर्णनों द्वारा नीरसता नहीं आने पाई। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कुन्दमाला एक सुन्दर नाटक है और इस एक ही नाटक के आधार पर दिङ्नाग का नाम चिर-स्मरण रहेगा।

नाटक की त्रुटियाँ

कुन्दमाला नाटक उच्च कोटि की रचना होते हुए भी कुछ दोषों से मुक्त नहीं। उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) कवि ने सीता के मुख से 'रघु, सगर, दिलीप, दशरथ' कहलवाया है जहाँ वास्तव में क्रम होना चाहिए था 'सगर, दिलीप, रघु, अज, दशरथ'।

(२) लक्ष्मण तथा बादरायण आदि यह जानते हुए भी कि राम विष्णु के अवतार हैं, उनकी दशा पर खिन्नता प्रकट करते हैं।

(३) चौथे अंक में निर्देश किया गया है कि रामायण-गान के लिए तिलो-त्तमा अप्सरा को बुलाया गया है, परन्तु सारे नाटक में उसे ऐसा अवसर प्रदान नहीं किया गया।

(४) छठे अंक में हम देखते हैं कि सीता स्वयं ही पृथ्वी का आह्वान करती हैं और जब वे प्रकट हो जाती हैं तथा सब उपस्थित लोग "नमो भगवत्यै विश्वंभरायै" (१८१.३) कहकर उसका अभिनन्दन करते हैं तब भी सीता का पूछना "भगवति ! का त्वम्" (१८४.२-३) असंगत प्रतीत होता है।

परन्तु सर्वथा निर्दोष रचना का पाना बड़ा कठिन है। प्रत्येक स्थान पर गुण के साथ अवगुण भी रहता ही है। इन दोषों के होते हुए भी कुन्दमाला नाटक की श्रेष्ठता में कोई न्यूनता नहीं होनी चाहिए।

दिङ्नाग के पूर्ववर्ती

दिङ्नाग और कालिदास

कालिदास के ग्रन्थों ने सभी कवियों को प्रभावित किया है। दिङ्नाग उससे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकता था ? इसीलिए हम देखते हैं कि दिङ्-नाग ने कालिदास के कई स्थल उद्धृत किये हैं। जैसे,

दिङ्नाग	कालिदास
नैव स्थातुं न यातुं···पारयन्तः ४.२९	शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ कुमार० ५.८५
वासवस्यापि सुव्यक्तं कुण्ठाः कुलिश-कोटयः ५.१४	वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिता-श्रीव लक्ष्यते। कुमार० २.२०
व्यक्तं····रामाभिधानो हरिः ॥ ३.१४	रामाभिधानो हरिरित्युवाच रघु० १३.१
व्यायाम-कठिनः प्रांशुः···३.१५	व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः। रघु० १.१३
	कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने ॥ रघु० ४.१३
एते रुदन्ति हरिणा····१.१८	उदगलित-दर्भ-कवलाः····शाकु० ४.१२

यही नहीं, कालिदास के दो पात्र कण्व और काश्यप भी दिङ्नाग ने ग्रहण कर लिये हैं। शब्द आदि तो निर्बाध उद्धृत किये ही हैं।

दिङ्नाग और भवभूति

रामायण के कथानक द्वारा कई नाटककारों को प्रेरणा प्राप्त हुई है। भास-कृत प्रतिमा और अभिषेक, भवभूति-कृत महावीरचरित और उत्तररामचरित, दिङ्नाग-कृत कुन्दमाला, राजसिंह-कृत बालरामायण, शक्तिभद्र-कृत आश्चयचूड़ामणि, जयदेव-कृत प्रसन्न-राघव आदि का आधार रामायण ही है। रामायण के पुनीत कथानक द्वारा कौन यशोपार्जन करना न चाहेगा? परन्तु रामायण काव्य है, नाटकीय रचना के लिए कुछ-न-कुछ परिवर्तन करना आवश्यक है। इसीलिए प्रत्येक नाटककार ने मौलिक कथानक में अपनी-अपनी कल्पना-शक्ति अनुसार कुछ परिवर्तन किये हैं। इन परिवर्तनों द्वारा ही हम नाटककार की श्रेष्ठता का निर्णय कर सकते हैं। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया है वैसे-वैसे नाटककारों पर राम-अवतार की धारणा दृढ़ होती गई है। उत्तररामचरित तथा कुन्दमाला की कथा सीता-वनवास की ही कथा है, परन्तु कथानक की समता होते हुए भी विषमता है। दोनों नाटककारों ने अपनी-अपनी कल्पनानुसार मूल कथानक में परिवर्तन किये हैं। कुछ परिवर्तनों द्वारा दिङ्नाग प्रभावित हुआ है और कुछ परिवर्तन दिङ्नाग की अपनी अनोखी सूझ हैं।

मूल कथानक दुःखान्त है परन्तु भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के अनुसार दुःखान्त नाटक का निषेध है। इसलिए दोनों नाटककारों ने नाटक को सुखान्त बनाया है। और कैसे बनाया है, इसमें दोनों की अपनी-अपनी निपुणता है। पुन-

मिलन दोनों नाटकों में हुआ है परन्तु कुन्दमाला का ढंग अधिक प्रशंसनीय है।

दोनों नाटकों में छाया-दृश्य है। उत्तररामचरित के छाया-दृश्य की अपेक्षा कुन्दमाला का छाया-दृश्य नाटकीय दृष्टि से अधिक सुन्दर और प्रभावशाली है।

भवभूति ने नाटक के भीतर एक और नाटक की रचना की है और इसके आधार पर राम को सीता-सम्वन्धी घटनाओं का सुझाव दिया है। कुन्दमाला ने यह काम लव-कुश के संगीत द्वारा किया है और बड़े महत्त्वपूर्ण ढंग से किया है।

उत्तररामचरित में छाया-दृश्य द्वारा सीता के स्पर्श से राम की मूर्च्छा भंग करके उन्हें सचेत किया है। गंगा की कृपा से स्त्रियों को अदृश्य रहने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। वन-देवताओं द्वारा भी वे अदृश्य हो गईं, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या ? कुन्दमाला में वाल्मीकि के प्रभाव से अदृश्य रहने की शक्ति केवल सीता को ही प्राप्त नहीं होती वरंच आश्रम की सब स्त्रियों को प्राप्त हो जाती है ताकि यज्ञ के अवसर पर पधारे पुरुषों की दृष्टि से स्त्रियाँ स्नान आदि के समय दिखाई न पड़ें।

दोनों नाटकों में हास्य-रस का अभाव है। उत्तररामचरित में तो विदूषक पात्र ही नहीं, कुन्दमाला में विदूषक पात्र तो है परन्तु यहाँ वह नायक के सहायक तथा मित्र के रूप में उपस्थित हुआ है, जन-साधारण के हास्य-विनोद के लिए नहीं। नायक का मित्र होने के नाते उसकी हास्य-प्रकृति विकसित ही नहीं हो पाई। उत्तररामचरित में **'शष्पायन्ति प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्'** (४.२६) द्वारा हास्य-रस का बुलबुला उठाने का प्रयत्न किया गया है परन्तु बुलबुला उठने से पहले ही वह फट जाता है। कुन्दमाला में जब राम पूछते हैं कि सीता को निर्वासित किये कितने वर्ष व्यतीत हो गये तो विदूषक (कौशिक) हाथों की अँगुलियाँ गिनकर पैर की भी तीन अँगुलियाँ गिन लेता है। परन्तु यह हास्य-रस की पिचकारी नहीं कही जा सकती।

दिङ्नाग भाषा के क्षेत्र में भी भवभूति द्वारा प्रभावित हुआ है। कुन्दमाला के कई-एक वाक्य उत्तररामचरित के वाक्यों का अनुकरण हैं और वे वाक्य उसी प्रसंगवश प्रयुक्त किये गए हैं, मानो दिङ्नाग उत्तररामचरित की प्रति समक्ष रखे हो।

तुलना कीजिए,

कुन्दमाला	उत्तररामचरित
त्वं देवि ! चित्त-निहिता गृह-देवता मे १·१४	त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं ३·२६
को नु खल्वेष सजल-जलधर-ध्वनित-गम्भीरेण ७५·१३-१४	जलभरितमेघस्तनित-मांसल; ३·६-७
दिष्टयाऽभिज्ञातमार्यपुत्रेण ११५·१-२	सुष्ठु प्रत्यभिज्ञातमार्यपुत्रेण ३·१६-२०
आपाण्डरेण मयि दीर्घ-वियोग-खेदं ४·१३	परिपाण्डु-दुर्बल-कपोल-सुन्दरं ३·४
आर्ये ! वध्यः पातकी लक्ष्मणः प्रणमति। १६५·१-२	आर्ये, एष निर्लज्जो लक्ष्मणः प्रणमति। ७·२०-२१
एवं आत्म-गुरु-नियोगवर्ती चिरंजीव। १६५·४-५	वत्स, ईदृशस्त्वं चिरंजीव। ७·१६-२०
न जानामि आर्यपुत्र-दर्शनेन कीदृशी-मवस्थामनुभवामि। ७५·२५-२६	एतस्य दर्शनेनैवंविधेन कीदृश इव मे हृदयानुबन्ध इति न जानामि। ३·१२-१३
कदा बाहूपधानेन··· ४·१७	रामबाहुरुपाधानमेष ते १·३७
अयि वैदेहि, न किंचित् स्मरसि कस्यचित् पूर्व-वृत्तान्तस्य, यन्मामेवं दर्शन-मात्रेणापि न सम्भावयसि। ११६·५-६	अयि चण्डि जानकि ! इतस्ततो दृश्यसे, नानुकम्पसे। ३·३-८

इन समताओं के साथ-साथ हम दोनों नाटकों में कई-एक विषमताएँ भी पाते हैं।

उत्तररामचरित का नायक सीता के प्रति दया-भाव से परिपूर्ण है। सीता-सम्बन्धी लोक-निन्दा की बात सुनकर वे "अहह ! अति-तीव्रोऽयं वाग्-वज्रः" कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं (१·३९-४०) और विलाप करते हैं। (१·४९-५०) परन्तु कुन्दमाला में सीता का परित्याग करते समय राम को तनिक क्लेश प्रतीत नहीं होता। वे कहते हैं "तन्न शक्नोमि सीता-मात्रस्य कृते शरच्चन्द्र-निर्मलस्येक्ष्वाकु कुलस्य कलङ्कमुत्पादयितुम्। (१०·१०-११)

कुश-लव का राम-मिलन का दृश्य उत्तररामचरित में नीरस है और कुन्दमाला का सरस तथा स्वाभाविक। चिरकाल के पश्चात् पिता-पुत्र के मिलन का दृश्य कम-से-कम आँखें तो भिगो ही देता है, यदि मूर्च्छित नहीं करता।

कुन्दमाला में दिङ्नाग ने स्वाभाविकता का वास्तविक रंग ला दिया है। न राम ने अपने पुत्र लव-कुश को पहले देखा था और न लव-कुश ने अपने पिता को! रहस्योद्‌घाटन होते ही दोनों के हृदयों में विद्युत् धारा-सी दौड़ जाती है और पिता-पुत्र अचेत होकर गिर पड़ते हैं!

उत्तररामचरित में कई-एक पात्रों का समावेश किया गया है, और कुन्दमाला में बहुत कम पात्र रखे गये हैं। उत्तररामचरित में जनक, कौशल्या, गृष्टि, वासन्ती आदि पात्र ऐसे हैं जिन्हें दिङ्नाग ने अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है। दिङ्नाग ने राम की भर्त्सना का कार्य महर्षि वाल्मीकि को सौंप कर अभिलषित कार्य सिद्ध कर लिया है।

उत्तररामचरित में तमसा, मुरला, पृथ्वी, गंगा, वासन्ती, तथा विद्याधर-युगल अर्थात् सात दिव्य पात्रों का समावेश किया गया है, कुन्दमाला में केवल पृथ्वी को ही रखा गया है और वह भी परमावश्यक होने के कारण।

नाटकीय दृष्टि से दिङ्नाग वास्तव में भवभूति से बढ़कर है। दिङ्नाग अपनी कल्पना के अनुसार कुछ ऐसे दृश्य उपस्थित कर पाया है जिनके कारण नाटक में रोचकता आ गई है। उदाहरणतया, १. वनदेवी मायावती का सीता को भेंट में दोशाल देना; २. राजसिंहासन पर यदि कोई अराघव बैठ जाय तो उसके सिर के सौ टुकड़े हो जाना; ३. (उत्तररामचरित में तो दण्डक-वन में पहुँचने पर राम का पहली स्मृतियों द्वारा सताया जाना परन्तु कुन्दमाला में) नैमिषारण्य पहुँचकर दण्डक-वन की अनेक स्मृतियों द्वारा पीड़ित होना।

छन्द की दृष्टि से उत्तररामचरित तथा कुन्दमाला में तेरह छन्द एक-से हैं। कुन्दमाला के उपेन्द्रवज्रा और स्रग्धरा का उत्तररामचरित में प्रयोग नहीं हुआ। उधर उत्तररामचरित के द्रुतविलम्बित, पृथ्वी, प्रहर्षिणी, मंजुभाषिणी, मालभारिणी और हरिणी छन्दों का कुन्दमाला में प्रयोग नहीं हुआ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भवभूति की जो भाव-विभूति, भाव-गरिमा और भाव-सौन्दर्य है वह दिङ्नाग में कहाँ? दिङ्नाग ने नाटकीय दृष्टि से एक सफल रचना प्रस्तुत की है जिसकी सुगन्ध कुन्द पुष्पों की भाँति बारह मास बनी रहती है। उसने ऐसे पात्र उपस्थित किये हैं जो दिव्य होते हुए भी हाड-माँस के बने हैं, उनकी हृत्तन्त्री मर्त्यों की हृत्तन्त्रियों की भाँति झंकृत हो उठती हैं।

चरित्र-चित्रण

राम—राम नाटक के धीरोदात्त नायक हैं। वे विष्णु का अवतार थे परन्तु वे स्वयं इस बात को नहीं जानते थे। (५.१७) राम का सीता के प्रति आन्तरिक प्रेम-भाव था। उनके बिना उन्हें राज-भवन काटने को आता था। (१.६;

१.१४; ३.३-४) सीता भी राम के प्रेम को भली-भाँति जानती थीं। (४८. १७) परन्तु यह विचारकर कि कुल के धवल यश में लोक-निन्दा के कारण धब्बा न लग जाय, उन्होंने सीता को निर्वासित कर दिया। (१०.१०-११) परन्तु यज्ञ में उन्होंने सीता की स्वर्ण-मूर्ति से ही यज्ञ का काम चलाना चाहा। उन्होंने सीता के प्रति अपना प्रेम इस प्रकार वर्णन किया है :—

अन्तरिता अनुरागा भावा मम कर्कशस्य वाह्ये न।
तन्तवः इव सुकुमाराः प्रच्छन्नः पद्म-नालस्य ॥ ५.६

वे पिता के आज्ञाकारी पुत्र थे। (६.२३-४) वे धर्मिष्ठ थे, विनम्र थे, आत्म-त्यागी थे, कर्त्तव्य-निष्ठ और प्रजातन्त्रवादी भी। उन्होंने प्रजा के अनुरञ्जन के लिए 'गृह-देवता' सीता को त्याग दिया। वे वर्णाश्रम-धर्म मर्यादा के प्रतिपादक थे। सीता ने भी उन्हें इसी पर आरूढ़ रहने के लिए सन्देश भिजवाया। वे पर-स्त्री चर्चा से विमुख थे। (११६.१५-६) उन्हें ब्राह्मणों के प्रति आदर-सम्मान था। (१४६ ४) वे तपस्वियों के प्रति महान् श्रद्धा रखते थे और तपोवन के प्रति महान् प्रेम। (६८.१-२; १३४.२-३) वे दाक्षिण्य थे। (१४८.३) कैकेयी द्वारा चौदह वर्ष के लिए निर्वासित होने पर भी वे उसकी निन्दा नहीं सुनना चाहते थे। (१६७.१) वे यौवन की उच्छृङ्खलताओं के वर्णन से भी दूर रहना चाहते थे। (१६६.२) कुश-लव को देखकर उन्हें विना पहचाने ही, राम के हृदय में वात्सल्य-भाव का पुनीत स्रोत फूट पड़ा। (५.१३)

उन्हें अपने मित्र द्वारा 'महाराज' सम्बोधन में संकोच हुआ, 'मित्र' कहलाने में हर्ष। (९६.३-७) राम में शालीनता भी पर्याप्त मात्रा में थी। (१९५.७-१०) वाल्मीकि के समक्ष सीता का हाथ पकड़ने में भी उन्हें संकोच हुआ। (१९५.७-१०) वे धर्म-भीरु थे। इसीलिए वे सीता के हाथों की गुँथी हुई कुन्दमाला को पहचान कर भी उसे यह समझकर ग्रहण नहीं करते, कि वह माला किसी देवता के निमित्त अर्पण की गई है। (६८.११-१२)

वे वाल्मीकि के प्रति महान् श्रद्धा रखते थे। जितनी देर वे नैमिषारण्य नहीं पहुँचे, यज्ञ प्रारम्भ नहीं हुआ। (५७.१-२; ६१.४-५; ६.३७-८; ६.४३-४४) राम की कर्त्तव्य-परायणता तथा सद्वृत्त की धाक जमी थी। राम-राज्य में भला कौन दुःखी हो सकता था ? (१.२८; ३९. ३-४; ६. २२-३)

सीता—सीता प्रस्तुत नाटक की नायिका हैं और राम की धर्मपत्नी। वे आदर्श स्त्री थीं। वे सहनशीलता की साक्षात् मूर्ति थीं, भवभूति के शब्दों में वे **"करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरह-व्यथा इव"** थीं। उन्हें अपने पति की कर्त्तव्य-परायणता पर अभिमान था। वे नहीं चाहतीं थीं कि मेरे निर्वासित किये

जाने पर शोक-विह्वल हो राम राज-कार्य में शिथिलता दिखायें। उन्होंने सन्देश में कहलाया—मुझ अभागिन की चिन्ता करते हुए वर्णाश्रम-धर्म के पालन में ढील कर अपने-आपको (मेरे लिए) घुलाएँ नहीं, पीड़ित न करें...(२४.७-८)। राम को स्वधर्म-पालन में तत्पर देखकर, उन्हें निर्दयतापूर्वक राजकाज में व्यग्र देखकर उन्हें गर्व हुआ। (७५.२१) राम द्वारा निर्वासित होने पर भी वे उन्हें उलाहना नहीं देतीं (२४.६; २५.१), न ही वे उनकी निन्दा सुन सकीं। वन में रहते हुए भी उन्होंने उनके हृदय पर अपना अधिकार समझा। (५४. १३-१४) यदि कोई राम को 'निरनुक्रोश' कहता था तो यह शब्द उन्हें खटकता था। (५२. १०-११) निर्वासित किये जाने जर सीता आत्मघात कर लेना चाहा परन्तु राम की सन्तान की रक्षा के लिए, उस 'निरनुक्रोश' की वंश-स्थिति के लिए उन्होंने आत्महत्या नहीं की। वे सदैव सावधान रहती थीं (२६. ७) लक्ष्मण उन्हें छोड़ देने के लिए वन ले गया परन्तु वे उसे बड़े भाई का आज्ञाकारी ही समझकर उस पर प्रसन्न थीं। (३०.७-८; ६.३७-३८) वे सन्ध्या आदि नित्य-कर्म का सदैव ध्यान रखती थीं। (७३.८-१२) उन्हें परित्याग-दुःख की अपेक्षा परित्याग की लज्जा अधिक खाये जाती थी। (४८.२५-२६) वे संसार के चलन से भलीभाँति परिचित थीं। (१६.१०-११; २३.२-३; २५. ४-५; २७.४-५; ७५.१८-१६; ७५. २५-२६)। वे अपनी सासों के प्रति समुचित आदर-भाव रखती थीं। (२७.१२) उन्हें अपनी प्रिय सखियों का भी ध्यान था। (२७.१३)

दिङ्नाग द्वारा अंकित सीता में और भवभूति द्वारा चित्रित सीता में कुछ अन्तर आ गया है। दिङ्नाग ने सीता के चरित्र में कुछ आधुनिकता की झलक फूँक दी है। राम द्वारा निर्वासित होने के कारण सीता ने खीझ में उन्हें 'निरनुक्रोश' 'महाराज' कहकर अपना आन्तरिक विद्रोह प्रकट किया है। परन्तु राम को देखकर उनका सारा क्रोध नष्ट हो जाता है। वे अपने-आपको भूल जाती हैं। नाना प्रकार के भावों में वह जाती हैं। (७५.१३-२६)

लक्ष्मण—लक्ष्मण का सारा जीवन राम का आज्ञावर्ती बनकर व्यतीत हुआ। संसार में लक्ष्मण-जैसा भाई का उदाहरण लाख प्रयत्न करने पर भी न मिलेगा। वह भाई की आज्ञा के विरुद्ध आवाज़ तक नहीं निकालता। इसीलिए वह सीता को चुपचाप वन छोड़ आया। निर्वासन का यह काम उसके बड़े दुर्भाग्य का परिणाम था। वह कहता है 'निर्लज्जो लक्ष्मणः'। (१५.६) यही नहीं, वह इस जघन्य काम से अपने-आपको घोर हत्यारा समझने लगा। (१०.१४-१५) इसीलिए उसने पुनर्मिलन के अवसर पर सीता को प्रणाम करते

समय अपने-आपको 'वध्यः पातकी लक्ष्मणः' कहा। (६.३७-३८) वह तो समझता था कि मैं रावण के युद्ध में काम आ गया होता तो अच्छा था, तब मुझे सीता को निर्वासित करने का काम तो न करना पड़ता। (१.१७) सीता को भी लक्ष्मण के वचन का आदर था, तभी तो उन्होंने अनिच्छा होने पर भी राम के लिए सन्देश भेजा। (२४.५-८; ३०.१)। राम भी लक्ष्मण का वचन नहीं टालते थे। (१६७.६)

लक्ष्मण में आत्म-त्याग की भावना नाटक के अन्त में और ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करती है। राम ने उसे अपना उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव किया परन्तु लक्ष्मण ने अस्वीकार कर दिया। (१६७.३-४) उसे राम का सेवक बने रहने में ही सन्तोष प्राप्त था। यही नहीं, उसने कुश के राज्याभिषेक के लिए सुझाव दिया। इससे विदित होता है कि लक्ष्मण परम्परा-पालन के प्रति निष्ठावान् था और उसे लोक-व्यवहार का भी यथेष्ट ज्ञान था।

कुश-लव—कुश और लव राम के जुड़वाँ पुत्र थे। कुश में आत्माभिमान अधिक था। माता के कहने पर भी वह राम को—क्षत्रिय राजा को—प्रणाम करने में हिचकिचाया, परन्तु लव माता की आज्ञानुसार राम को प्रणाम करने को उद्यत हो गया। वे वाल्मीकि के आश्रम में पले थे, अतः वे अपने माता-पिता के नाम से अपरिचित ही रहे। वे यही समझते थे कि उनके पिता का नाम 'निरनुक्रोश' था। वे यही समझते थे कि 'सीता' केवल 'गीति-निबन्धन' के अक्षर-मात्र हैं। (१७२.५-६)। इतना वे जानते थे कि वे दोनों सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। दोनों ने सीता-वनवास तक रामायण पढ़ी थी। इसी का वे पाठ करते थे। उन्हें यह विदित नहीं था कि सीता-वनवास तक ही काव्य रचा गया है अथवा इसके अनन्तर की घटनाएँ वर्णित हैं। राम और लक्ष्मण की दशा देखकर उन्होंने अनुमान लगाया कि वे ही कदाचित् राम-लक्ष्मण हों। उन्होंने राम को पुत्र-प्राप्ति पर बधाई दी। परन्तु जब उन्होंने अपने पिता को पहचान लिया तब वे हर्ष-विह्वल होकर मूर्च्छित हो गये। राम ने उन्हें स्वीकार कर लिया। राम को सर्व-प्रथम उन्हें देखकर शंका तो हुई थी कि यदि सीता की सन्तान अब जीवित होती तो इतना बड़ी ही होती, परन्तु तपस्विनी से वह अपना नाता जोड़ना असंगत समझते थे। (१४८.८-९; १५७. ६-७)।

वाल्मीकि—महर्षि वाल्मीकि प्रस्तुत नाटक में बड़े क्रियाशील पात्र हैं। नाटक की सभी घटनाएँ उन्हीं पर केन्द्रित हैं। सभी दृश्य उनके तपोवन वा तपोवनों के निकटवर्ती स्थानों पर रखे गये हैं। वाल्मीकि रामायण रचने के कारण आदि-कवि कहलाये हैं। वे पर-पीड़ा से द्रवीभूत हो जाते थे। शिष्यों

से यह सुनकर कि कोई गर्भवती निःसहाय स्त्री वन में रो रही है वे सीता को ढूँढ़ने निकल पड़े। (३८.२-३) वे जनक के पुराने मित्र थे और दशरथ के बाल-मित्र। (१.२६) उन्होंने ही कुश-लव के जात-कर्म आदि सब संस्कार किये। वे ही रघुवंशियों के संस्कार सम्पन्न किया करते थे। वे राम के गुरु थे। (६.२४) अतः वे सीता को 'पुत्र-वधू' मानते थे। सीता को त्याग देने पर उन्होंने राम की भर्त्सना की। (६.२०-२१) राम को मूर्च्छितावस्था में देखकर उन्होंने सीता को राम पर दृष्टिपात करने को कहा परन्तु सीता बोलीं कि राम ने मुझे देखने को मना कर रखा है। इस पर उन्होंने साभिमान कहा—मेरे रहते कौन आज्ञा दे सकता है और कौन रोक सकता है···(१७५.६७) परन्तु महर्षि के हृदय में दया-स्रोत भी शीघ्र उमड़ पड़ता था। जब कण्व द्वारा उन्हें बताया गया कि राम आदि मूर्च्छित पड़े हैं, तब उन्होंने सीता को शीघ्र चलने के लिए कहा क्योंकि मूर्च्छावस्था में मृत्यु का भय रहता है। (१७४.४-५)

वाल्मीकि में दिव्य प्रभाव पर्याप्त परिमाण में था। उन्हीं के प्रभाव से स्त्री-वर्ग पर-पुरुषों की दृष्टि से बच गया। (८६.१४-१५)

कण्व—कण्व राम का सहपाठी रहा था। (९६.४) वह वाल्मीकि का मेधावी शिष्य था। वह राम का परम हितैषी था। (९५.१-२) उसे सम्पूर्ण रामायण कण्ठस्थ थी। वह नित्य-कर्म में तत्पर था। (१०६.२-३) राम को कुश-लव सहित देखकर वह आनन्द-विभोर हो उठता था। (६.१५)

कौशिक—प्रस्तुत नाटक का विदूषक है। वह राम का बाल-मित्र था। (१३९.२) वह यह नहीं सहन कर सकता था कि राम सदा सीता की चिन्ता में ही घुलते रहें। (१२९.४-८) उसे राम के विरुद्ध कोई बात सुनकर खेद होता था। (११९.८-११) वह भी लक्ष्मण की भाँति, समझता था कि सीता को निर्वासित कर उनके साथ भारी अन्याय हुआ है। (१३२.७-१०) राम का कौशिक के प्रति बहुत आदर था, वे उसे निजी विषयों पर भी चर्चा करने में बुरा नहीं मानते थे। वह राम का सच्चा हितैषी था। वह तपस्वियों पर हँसी उड़ाता था। (१३५.१-२) वह क्षुद्र-स्वभाव का था। वह आत्म-श्लाघा भी करता था। (१२१.६-७) उसकी कई चेष्टाएँ मूर्खता-भरी थीं। (१४९.३-२; १५४-११)

पात्र-सूची

पुरुष-पात्र

राम	नायक
लक्ष्मण	राम का छोटा भाई और उनका सहचर
सुमन्त्र	राम का सारथि
वाल्मीकि, काश्यप, बादरायण, कण्व	ऋषि
कौशिक	विदूषक
कञ्चुकी	
कुश-लव	राम के दो पुत्र

स्त्री-पात्र

सीता	राम की धर्म-पत्नी
वेदवती, यज्ञवती, मुनि-कन्या	मुनि-कन्याएँ
तिलोत्तमा	अप्सरा
कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी	राम की तीनों माताएँ
ऊर्मिला, माण्डवी, श्रुतकीर्ति	लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न की बहुएँ

आश्रम की वृद्ध स्त्रियाँ तथा पृथ्वी और उनकी सहचरियाँ आदि

घटना-स्थल

पहला और दूसरा अंक	वाल्मीकि का गंगा-तटवर्ती आश्रम
तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा अंक	गोमती नदी पर बसा नैमिषारण्य (आधुनिक नेमिसार, जिला सीतापुर)

दिङ्नागाचार्य-प्रणीता

कुन्दमाला

प्रथमोऽङ्कः

जम्भारि-मौलि-मन्दार-मालिका-मधु-चुम्बिनः ।
पिबेयुरन्तरायाब्धिं हेरम्ब-पद-पांसवः ॥ १ ॥

कुन्दमाला—कुन्दानां माला, कुन्दमाला, कुन्द-(चमेली) पुष्पों की माला। यह शब्द प्रथम अंक के अन्त में प्रयुक्त हुआ है और प्रस्तुत नाटक की यह एक प्रधान घटना है। देखिए, तीसरा अंक। 'अभेदोपचार' द्वारा कुन्दमाला शब्द से इसी नाम के नाटक का बोध होता है।

अन्वयः—जम्भारि-मौलि-मन्दार-मालिका-मधु-चुम्बिनः हेरम्ब-पद-पांसवः अन्तरायाब्धिं पिबेयुः।

शब्दार्थः—जम्भारिः—जम्भ दानव का शत्रु अर्थात् इन्द्र। मौलि—किरीट। मन्दारः—पारिजात वृक्ष। मालिका—माला। मधु—मकरन्द, पुष्परस। हेरम्बः—गणेश। पांसु (पु०)—धूलि, रज। अन्तरायः—विघ्न, बाधा। अब्धिः—समुद्र। पिबेयुः—पी लें, सुखा दें।

टिप्पणी—संस्कृत-ग्रन्थों के रचयिता आशीर्वाद (मंगलाचरण) से अपना ग्रन्थ आरम्भ करते हैं। इससे वे ग्रन्थ के पूर्ण होने में जो विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं। इस मंगलाचरण के पद्य को प्रायः 'नान्दी' कहा जाता है। विश्वनाथ के मतानुसार ये मंगलाचरण के पद्य 'रंग-द्वार' कहे गये हैं, जो पूर्वांग का भाग है। नाटक 'नान्दी' से आरम्भ न होकर 'रंग-द्वार' से आरम्भ होता है। उसके मतानुसार पूर्व-रंग से पहले 'नान्दी' तो नटों द्वारा ही पूरी की जाती है। उसी के कथनानुसार 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' रंगमंच का संकेत कई प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियों में मंगलाचरण से पहले पाया जाता है।

जम्भारि-मौलि-मन्दार-मालिका-मधु-चुम्बिका—जम्भः (तन्नामाऽसुरो विशेषः) तस्य अरिः, तस्य मौलौ याः मन्दारस्य मालिकाः, तासां यन्मधु तत् चुम्बितुं शीलमेषां ते, 'जम्भ के शत्रु अर्थात् इन्द्र के मुकुट पर विराजमान मन्दार-

पुष्पों की मालाओं के पुष्प-रस के चूमने वाले।' देखो,

'किरीटे मौलिरक्लीबे चूढासंयतकेशयोः।' इति रभसः

'मन्दारः स्यात् सुरद्रुमे' इत्यमरः

जम्भ—जम्भ एक दैत्य का नाम है जिसे सुरासुर-संग्राम में इन्द्र ने मार डाला। इसीलिए जम्भारातिः, जम्भद्विष्, जम्भभेदिन्, जम्भरिपुः आदि इन्द्र के विशेषण हैं। जम्भ का वास्तव में अर्थ है 'काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डालना।' यह तो दैत्यों का स्वभाव ही था।

हेरम्ब-पद-पांसवः—हेरम्बस्य (गणेशस्य) पदयोः (चरणयोः) ये पांसवः (धूलिकणाः)। हेरम्बः—हे रम्बते इति। 'हः शंकरे हरौ हंसे रणरोमाञ्चवाजिषु' इति नानार्थरत्नमाला। 'अबि रबि शब्दे' पचाद्यच् (पा० ३.१.१३४); 'तत्पुरुषे कृति—' (पा० ६.३.१४) इत्यलुक्। हे उषसि रम्बते इति स्वामी।

अप्येकदन्तहेरम्बलम्बोदरगजाननाः।

कार्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः॥ इत्यमरः

प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में श्रीगणेश की वन्दना विघ्न-बाधा की शान्ति के लिए लाभप्रद समझी जाती है। देवता भी श्रीगणेश की वन्दना करते हैं। देखिए,

अभिप्रेतार्थसिध्यर्थं पूजितो यः सुरैरपि।

सर्वविघ्नच्छिदे तस्मै गणाधिपतये नमः॥

अतएव नाटककार ने यहाँ इन्द्र द्वारा श्रीगणेश की वन्दना दिखाई है।

अन्तरायाब्धिम्—अन्तरायाः (विघ्नाः) तेषाम् अब्धिः (समुद्रः), तम्। अथवा अन्तरायाः एव अब्धिः,तम्। अन्तरायः—अन्तर्मध्ये, अन्तरस्य व्यवधानस्य वायनम्। 'अय गतौ' (१ आ० से०) 'इण् गतौ' (२ पर० अ०) वा+घञ् (पा० ३.३.१८)+अच् (पा० ३.२.५६) वा

'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः। अब्धिः—आपो धीयन्ते अत्र; कर्मण्यधिकरणे च (पा० ३.३.९३) इति धाञः किः। देखिए,

समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः। इत्यमरः

पिबेयुः—√पा १ पर० विधिलिङ् प्रथम पु० बहु०; 'पी डाले, सुखा डाले'। धूलि-प्रधान देश में जलधारा सूख जाती है, ऐसा प्रसिद्ध है। सरस्वती नदी इसी प्रकार शुष्क हो गई कही जाती है।

हिन्दी—श्रीगणेश के चरणों के रज-कण, जो इन्द्र के मुकुट पर विराजमान मन्दार पुष्पों की माला के मकरन्द को चूमते हैं, आपके विघ्न-बाधा रूपी समुद्र को सुखा डालें। [१]

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः)

नान्दी—नाटक में आरम्भ का मंगलाचरण वाला पद नान्दी कहलाता है। इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ नाट्यशास्त्र
देवद्विजनृपादीनामाशीर्वादपरायणा ।
नन्दन्ति देवता यस्मात् तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ काव्यदीपिका
आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः । मातृगुप्ताचार्य

नान्दी का विवरण इस प्रकार किया गया है—नन्दन्ति अस्यां कुशीलवाद्या इति नान्दी । देखिए,

स्तुत्यर्थे नदिधातौ वा समृद्ध्यर्थे च वा पुनः ।
पृषोदरादिपाठेन नान्दीसाधनमीरितम् ॥
नन्दन्ति काव्यादि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः ।
यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी तस्मादियं सा कथितेति नान्दी ॥ नाट्यप्रदीप

और यह नान्दी 'चतुष्पदा' कही गई है । देखिए,

नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृताम् ।
तां षोडशपदामेके केचिदाहुश्चतुष्पदाम् ॥ भरत मुनि

'पद' से भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण किया जाता है :—

श्लोकपादः पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे ।
परेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे ॥ नाट्यप्रदीप
पदैश्चतुर्भिर्द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ।

नान्दी चार प्रकार की कही गई है । देखिए,

नमस्कृतिर्माङ्गलिकी आशीः पत्रावली तथा ।
नान्दी चतुर्धा निर्दिष्टा नाटकादिषु धीमता ॥

यहाँ 'जम्भारि०' एक पद है, 'पिबेयुः' दूसरा पद है, 'अन्तराया०' तीसरा पद है, और 'हेरम्ब०' चौथा पद है । 'हेरम्ब' की स्तुति द्वारा आशीर्वाद स्पष्ट ही है । 'मालिका' से मंगल्य-भाव भी अभिव्यक्त है ।

नान्दी पूर्वरंग का प्रधान अंग है । देखिए,

यं नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।
तथाऽप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ साहित्यदर्पण

ज्वालेवोर्ध्व-विसर्पिणी परिणतस्यान्तस्तपस्तेजसां
गङ्गा-तोय-तरङ्ग-सर्प-वसतिर्वल्मीक-लक्ष्मीरिव ।
सन्ध्येवार्द्र-मृणाल-कोमल-तनोरिन्दोः सदा-स्थायिनी
पायाद्वस्तरुणारुणांशु-कपिला शम्भोर्जटा-सन्ततिः ॥ २ ॥*

सूत्रधारः—सूत्रं प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधारः । अर्थात् जिस पर सारे रंगमंच के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व रहता है । उसका लक्षण इस प्रकार है—

नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत्सूत्रं स्यात् सबीजकम् ।
रंगदेवतापूजाकृत् सूत्रधार इति स्मृतः ॥

(नान्दी के अनन्तर सूत्रधार प्रवेश करता है ।)

अन्वयः—परिणतस्य अन्तस्तपस्तेजसः ऊर्ध्व-विसर्पिणी ज्वाला इव, गंगा-तोय-तरंग-सर्प-वसतिः वल्मीक-लक्ष्मीः इव, आर्द्र-मृणाल-कोमल-तनोः इन्दोः सदा-स्थायिनी सन्ध्या इव, तरुणांशु-कपिला शम्भोः जटा-सन्ततिः वः पायात् ।

शब्दार्थः—परिणत—पूर्णतया विकसित; पूर्ण रूप से उन्नत । ऊर्ध्व—ऊपर । विसर्पिणी—चलनेवाली । ज्वाला—लपट । तोयम्—जल । वसतिः—निवास-स्थान । वल्मीकः—दीमकों का बनाया हुआ मिट्टी का ढेर । लक्ष्मीः—शोभा । आर्द्र—भीगा हुआ, ताजा । मृणाल—बिस, कमल-नाल । इन्दुः—चन्द्र । अरुणांशुः—सूर्य की किरण । कपिलः—भूरा रंग । जटा-सन्ततिः—जटा-जूट । पायात्—रक्षा करे ।

टि०—परिणतस्य—परि + नम् + क्त, षष्ठी एक वचन, प्रवृद्ध । अन्तस्तपस्तेजसा—अन्तः (अभ्यन्तरः) तपसः तेजसा (आन्तरिकतपोवह्नेः), 'भीतर की तप-रूपी अग्नि की ।' शिव की भीतरी तपस्या विख्यात है ।

ऊर्ध्व-विसर्पिणी—ऊर्ध्वं विसर्पणं शीलमस्य इति, 'ऊपर जाने के स्वभाववाली ।' विसर्पिणी—वि + सृप् + इनि + ङीप् । देखिए,

'प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।' माघः

ज्वाला—ज्वलतीति; 'ज्वलितिकसन्तेभ्योणः' (पा० ३.१.१४०) स्त्रियां टाप् (पा० ४.१.४), 'लपट' ।

गङ्गा-तोय-तरङ्ग-सर्प-वसतिः—गङ्गायाः तोयस्य ये तरङ्गाः ते एव सर्पाः तेषां वसतिरिति, 'गंगा-जल की तरंग रूपी साँपों का घर' ।

वल्मीक-लक्ष्मीः—वल्मीकस्य लक्ष्मीः; 'वाल्मीक की शोभा' । देखिए,

शोभा संपत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिति गद्यते ।

आर्द्र-मृणाल-कोमल-तनोः—आर्द्रः यत् मृणालः तद्वत् कोमला तनुः यस्य तस्य, 'ताजे मुलायम बिस के-से कोमल शरीर वाले (चन्द्र) का' ।

आदिष्टोऽस्मि परिषदा-तत्रभवतोऽरारालपु-वास्तव्यस्य कवेर्दिङ्नागस्य कृतिः कुन्दमाला नाम, सा त्वया प्रयोक्तव्येति। तद्यावादस्य सन्दर्भस्य प्रयोग साचिव्य-विधायिनीमार्यामाहूय रङ्गभूमिमवतरामि।

तरुणारुणांशु-कपिला—तरुणस्य अरुणस्य अंशवः तद्वत् कपिला, 'नये उदय हुए सूर्य की किरणों के समान लाल'।

'अरुणो भास्करेऽपि स्याद्वर्णभेदेऽपि च त्रिषु।' इत्यमरः

'किरणोऽस्तमयूखांशुगभस्ति घृणि रश्मयः।' इति

जटा-सन्ततिः—जटानां सन्ततिः, 'जटा-जूट'; सिर पर होने के कारण जटाएँ भी ऊपर की ओर जाने वाली ही थीं। पायात्–√पा २ उभय० विधि०। कविवर शूद्रक ने भी 'मृच्छकटिक' नाटक के प्रारम्भ में शिव की तपस्या की ओर संकेत किया है :—

आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्टया
शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्म लग्नः समाधिः। १.१.

हिन्दी—शिव का जटा-जूट, जो कि बाल-सूर्य के किरण-जाल की भाँति लाल है, आपकी रक्षा करे—वह जटा-जूट जो पराकाष्ठा को प्राप्त हुए आन्तरिक तप रूपी अग्नी के ऊपर उठ रही ज्वाला के सदृश है, उस शोभाशाली वाल्मीकि के समान है जहाँ गंगा-जल की लहरें साँपों के रूप में विद्यमान हैं, जो ताजे मुलायम बिस-सदृश मूर्तिमान् चन्द्र की निरन्तर स्थायी रहने वाली सन्ध्या के समान हैं। [२]

परिषदा—परितः सीदन्त्यस्याम् इति परिषद्; तृतीया एकवचन, 'सभा द्वारा'। वास्तव्यस्य–वसतीति वास्तव्यः, वस् + तव्यत् ('वसेस्तव्यत्कर्त्तरि णिच्च' वा० ३.१.९६), कृतिः—कृ + क्तिन्, रचना।

प्रयोक्तव्या–प्र + √युज् + तव्य + टाप्, अभिनेय की जानी चाहिए। सन्दर्भस्य—संदभ्यते (संग्रथ्यते विरच्यते) इति प्रबन्धः। प्रयोग-साचिव्य-विधायिनीम्—प्रयोगस्य साचिव्यं तद् विधायिनीम्, 'अभिनय में सहयोग देने वाली को'। आहूय—आ + √ह्वे भ्वा० उभय० + ल्यप्, 'बुलाकर'।

अवतरामि—अव + तृ + लट् 'नीचे उतरता हूँ' अर्थात् अभिनय के लिए रंगभूमि में उपस्थित होता हूँ। उपसर्ग के योग से धातु के भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। देखिए,

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहार-संहार-विहार-परिहार-वत्॥

हिंन्दी—दर्शक-जनों द्वारा मैं आज्ञा किया गया हूँ—अरारालपुर-

(नेपथ्ये)[1]

इत इतोऽवतरत्वार्या ।[2]

सूत्रधार—अये ! को नु खल्वयमार्या-समाह्वानेन सहायकमिव मे सम्पादयति । (विलोक्य) कष्टं भोः ! कष्टं भोः ! अतिकरुणं वर्तते—[3]

लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
रामेण लोक-परिवाद-भयाकुलेन ।
निर्वासितां जनपदादपि गर्भ-गुर्वीं
सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् ॥ ३ ॥

[इति निष्क्रान्तः

(स्थापना)

वासी कवि दिङ्नाग की रचना कुन्दमाला है, उसका अभिनय किया जाना चाहिए । अतः मैं इस रचना के अभिनय में सहयोग देने वाली अपनी धर्मपत्नी को बुलाकर रंगभूमि में प्रवेश करता हूँ ।

१. नेपथ्य—अन्तिम परदे के पीछे का स्थान, जहाँ पर नट-नटी वेश-भूषा बनाते हैं और रंगमंच पर आने तक ठहरते हैं ।

कुशीलव-कुटुम्बस्य स्थानं यदतिशोभनम् ।
वर्णिका-ग्रहण-स्थानं नेपथ्यमिति तद् विदुः ॥

नेपथ्य के कई अर्थ हैं, वेश, सजावट अथवा परदा; देखिए, विरल-नेपथ्ययोः (मालविका० अंक १ श्लोक २० से पूर्व); विवाह-नेपथ्यम् (मालविका० ५, श्लोक ३ और ६ के पश्चात्); नेपथ्य-परिगतायाः (मालविका० अंक २.१)

(नेपथ्य में)

२. इधर, देवी ! इधर उतरो ।

३. आर्या-समाह्वानेन—आर्यायाः समाह्वानेन अभिमन्त्रणेन;

सम्पादयति—सम् + पद् + णिच् + लट् ; 'पूरा करता है ।'

'नु खलु' आश्चर्य-द्योतक है । अतिकरुणम्—अति करुणाजनक ।

सूत्रधार—अरे कौन है यह, जो देवी को पुकारते समय मानो मुझे सहायता दे रहा है ? (देखकर) हाय ! शोक है, महान् शोक है; बड़ा करुणाजनक दृश्य है—

अन्वयः—लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थिता इति लोक-परिवाद-भयाकुलेन रामेण जनपदादपि निर्वासिता गर्भ-गुर्वी सीताम् अयं लक्ष्मणः वनाय परिकर्षति ।

शब्दार्थः—सुचिरं–चिरकाल । लोक-परिवादः—जनापवाद, लोकनिन्दा । जनपदः–राज्य । गुर्वी —भारी । परिकर्षति—उतार रहा है ।

(ततः प्रविशति रथाधिरूढा सीता सारथिर्लक्ष्मणश्च)[1]

लक्ष्मणः—इत इतोऽवतरत्वार्या। एतानि गहन-तरु-लता-प्रतान-संरुद्धतया रथ-प्रवेशायोग्यानि भागीरथी-तीर-काननानि। तदवतरत्वार्या।[2]

टिप्पणी—लङ्केश्वरस्य-लङ्कायाः ईश्वरः, तस्य; लंकानरेश (रावण) के। सुचिरम्—चिरकाल; दस मास जब तक कि रावण न मारा गया। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (पा० २.३.५) इति द्वितीया। इति—हेतु-द्योतक 'और राम द्वारा स्वीकृत कर ली गई, पुनः ग्रहण कर ली गई,' शेष वाक्यांश है। लोक-परिवाद-भयाकुलेन—लोकस्य परिवादः, लोकपरिवादः, तस्माद् यद् भयं तेन आकुलेन; 'जनापवाद के भय से व्याकुल (राम) द्वारा'। तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (पा० २.१.३०) द्वारा कृतेऽर्थे तृतीया समास होता है।

गर्भ-गुर्वीम्—गर्भेण गुर्वी ताम्, 'गर्भ से भारी हो रही को'।

परिकर्षति—इस क्रिया-पद का अर्थ कुछ पूर्व-टीकाकारों ने 'बलपूर्वक खेंचने, ले जाने' के अर्थ में लिया है, जो सर्वथा असंगत है। सीता को तो कुछ भी विदित न था कि उसे निर्वासित किया जा रहा है, फिर 'बलपूर्वक खेंचने, ले जाने' का भाव ही कैसा ? 'परिकर्षति' का अर्थ यहाँ '(रथ से) बाहर निकालना, उतारना' उपयुक्त प्रतीत होता है। 'शीघ्रता से ले जा रहा है' भी ठीक है। वनाय—'क्रियार्थोपपदस्य' (पा० १.४.४४) से क्रियार्थे चतुर्थी का प्रयोग हुआ है।

हिन्दी—'लंका-नरेश रावण के राज-भवन में यह चिरकाल रही है, इस कारण जनापवाद के भय से व्याकुल राम द्वारा, गर्भ से भार हो रही सीता को, जिसे अपने देश से भी निकाल दिया गया है, यह लक्ष्मण वन (पहुँचाने) के लिए जल्दी-जल्दी ले जा रहा है। [प्रस्थान [१]

(स्थापना)

१. रथाधिरूढा—रथम् अधिरूढा, द्वितीया तत्पु० (द्वितीयाश्रितातीत० पा० २. १. २४)।

(रथ पर सवार सीता, लक्ष्मण और सारथि का प्रवेश)

२. गहन-लता-प्रतान-संरुद्धतया—गहनः यः तरूणां लतानां च प्रतानः, तेन संरुद्धतया, 'घने पेड़ और लता-जाल से घिरे रहने से।' रथ-प्रवेशायोग्यानि—रथस्य प्रवेशः तस्य अयोग्यानि, 'रथ के प्रवेश के लिए अनुपयुक्त।'

लक्ष्मण—इधर आइये, भाबी जी! इधर। घने पेड़ और लता-जाल के घिरे रहने से गंगा-तीरवर्ती ये वन ऐसे हैं कि रथ आगे बढ़ नहीं सकता, इसलिए आप यहीं उतर जायँ।

सीता—वच्छ, लक्खण, अदिप्पउत्ततुरंगमवेअकंपिअदेहा एत्थ ण पारेमि संठादुं, किं पुण ओदरिदुं। [वत्स! लक्ष्मण! अति-प्रवृत्त-तुरङ्गम-वेग-कम्पित-देहा न पारयामि संस्थातुम्, किं पुनरवतरितुम्।[1]

लक्ष्मणः—सुमन्त्र! ननु तुरङ्गम-नियमने क्रियतां यत्नः।[2]

सुमन्त्रः—क्रियमाणमपि यत्नमतिवर्तन्ते गान्धर्व-प्रिया वाजिनः। तथाहि[3]

अमी पतद्भिः श्रवणेष्वमन्द्रं विकृष्यमाणाः कल-हंस-नादैः।
*अनाश्रवाः प्रग्रह-संयमस्य तुरङ्गमास्तूर्णतरं प्रयान्ति॥ ४॥**

---

१. अति-प्रवृत्त-तुरङ्गम-वेग-कम्पित-देहा—अत्यर्थं प्रवृत्ताः ये तुरङ्गमाः तेषां वेगेन कम्पितो देहः यस्याः सा (बहु०), 'जिसका शरीर तेज़ हो रहे घोड़ों के वेग से थरथरा रहा है'। तुरङ्गः—तुरेण गच्छतीति तुरगः, तुरंगः, 'घोड़ा'।

पारयामि—'शक्नोमि', 'समर्थ हूँ।' संस्थातुम्—सं+स्था+तुमुन्, 'खड़ी होने के लिए।' अवतरितुम्—अव+तृ+तुमुन्, 'नीचे उतरने के लिए।'

सीता—वत्स लक्ष्मण! तेज़ हो रहे घोड़ों के वेग से मेरा शरीर थरथर काँप रहा है, मैं खड़ी भी नहीं रह सकती, उतरना कैसा?

२. तुरङ्गम-नियमने—तुरङ्गमानां नियमनम् (षष्ठी तत्पु०); 'घोड़ों का रोकना।'

लक्ष्मण—सुमन्त्र! घोड़ों को रोकने का यत्न करो।

३. अतिवर्तन्ते—अति क्रम्य वर्त्तन्ते; अति+√वृत् १ आ० लट्।

गान्धर्व-प्रियाः—गन्धं (सौरभम्) अर्वति; अर्व गतौ (१ पर० से०) कर्मण्यण् पा० ३. २. १; शकन्ध्वादिः (वा० ६. १. ९४), (प्रज्ञाद्यणि पा० ५. ४. ३८) 'गान्धर्व' रूप भी बनता है। गान्धर्वं (गानं) प्रियं येषां ते; गान्धर्व का अर्थ 'गान' भी है। देखो—

गन्धर्वस्तु नभश्चरे।
पुंस्कोकिले गायने च मृगभेदे तुरंगमे। हैमः

वाजिनः—अवश्यं वजति; √वज् 'गतौ'+णिनि, (आवश्यका पा० ३.३.१७०) अथवा वाजाः (पक्षाः) अभूवन् यस्य; इनिः (पा० ५. २. ११५)।

'वाजी वाणाश्वपक्षिषु' इति मेदिनी।

सुमन्त्र—गाना सुनने के रसिया ये घोड़े रोकने का यत्न करने पर भी नहीं रुकते।

अन्वयः—अमी तुरङ्गमाः श्रवणेषु अमन्द्रं पतद्भिः कलहंस-नादैः विकृष्यमाणाः प्रग्रह-संयमस्य अनाश्रवाः तूर्णतरं प्रयान्ति।

लक्ष्मणः—सुमन्त्र ! अति-रभस-प्रवृत्त-वेगत्वादनालक्षित-सम-विषमास्तुरङ्गमा गङ्गा-प्रपाते स्यन्दनं विनिपातयन्ति, तत् सर्वात्मना क्रियतां यत्नः।[1]

शब्दार्थः—श्रवणम्—कान। अमन्द्र—कोमल, अगम्भीर। विकृष्य-माण—बरबस खेंचे गये। प्रग्रहः—लगाम। संयमः—थामना। अनाश्रवः—न सुनने वाला। तूर्णतरम्—शीघ्रतर, बहुत जल्दी। प्रयान्ति—भाग रहे हैं।

टिप्पणी—अमी—अदस् पुं० कर्त्ता बहु०। श्रवणम्—श्रूयतेऽनेन, श्रु+ल्युट्; (करणे ल्युट् पा०)। अमन्द्रम्—अगम्भीर, कोमल। 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः। पतद्भिः—(कानों में) प्रवेश करते हुए।

कलहंस-नादैः—कलः (मधुरवाक्) हंसः कलहंसः, तेषां नादैः; अथवा कलाः (मधुराः) ये हंसानां नादाः, तैः, अथवा कलहंसानां नादैः,।

विकृष्यमाणः—विशेषेण आकृष्यमाणाः, 'बरबस खिंचे गए'।

प्रग्रह-संयमस्य—प्रग्रहाणां प्रग्रहैर्वा संयमः, तस्य, 'लगाम से रोकथाम का'। अनाश्रवाः—आश्रवः—आ+√श्रु ५ पर०+अ; न आश्रवाः अनाश्रवाः (नञ् तत्पु०); 'आश्रवो वचनस्थिते। प्रतिज्ञायां च क्लेशे च।' इति हैमः। 'न सुनने वाले अर्थात् कहा न मानने वाले'!

हिन्दी—ये घोड़े कोमल हंस-नाद से बरबस खिंचे हुए लगाम द्वारा रोक-थाम को न मानकर बड़ी जल्दी-जल्दी भाग रहे हैं। [४]

१. अति-रभस-प्रवृत्त-वेगत्वाद्—अतिरभसेन प्रवृत्तो यो वेगः तस्य भावः, तस्मात्; 'रभसो वेगहर्षयोः' इति विश्वः। कल-हंस-नादों से घोड़ों को भारी हर्ष हो रहा है, इससे वे सवेग भाग रहे हैं।

अनालक्षित-सम-विषमाः—अनालक्षिताः समाः विषमाश्च प्रदेशाः यैः ते, 'सम-विषम स्थान का भेद-भाव न देखने वाले।' गंगा-प्रपाते—गंगायाः प्रपातः, तस्मिन्; प्रपातः—प्रपतत्यस्मिन्निति, 'गंगा की ढाल।' स्यन्दनम्—'रथ'; स्यन्दते 'स्यद् प्रस्रवणे' (भ्वा० आ० से०) चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच् (पा० ३. २. १४८)।

विनिपातयन्ति—वि+नि+पत्+णिच्+लट् प्रथम पु० बहु०; वर्त्तमानसामीप्ये लट् (पा० ३. ३. १३१)। 'गिरा देंगे।' तत्—इसलिए। सर्वात्मना—पूर्ण रूप से, सारथि के पूरे चातुर्य द्वारा।

लक्ष्मणः—सुमन्त्र ! भारी उत्साह से बढ़ रहे वेग के कारण ये घोड़े ऊँच-नीच का भेद-भाव तनिक भी न देख रथ को गंगा की ढाल में गिरा देंगे, इसलिए अपना पूरा-पूरा यत्न करो।

सुमन्त्रः—(रज्ज्वाकर्षणमभिनयति)

लक्ष्मणः—एष स्थितो रथः, तदवतरतु देवी।

सीता—(अवतीर्य परिक्रामति)

लक्ष्मणः—सुमन्त्र! दीर्घ-मार्ग-परिश्रान्ता एते तुरङ्गमाः, तद्वि-श्रामयैतान्।[1]

सुमन्त्रः—यदाज्ञापयति देवः। [इति रथमधिरुह्य निष्क्रान्तः[2]

लक्ष्मणः—(परिक्रम्य आत्मगतम्) समादिष्टोऽहमार्येण, अथवा स्वामिना, वत्स! लक्ष्मण! देव्याः किल सीताया रावण-भवन-संस्था-नाच्चारित्रं प्रति समुत्पन्न-विमर्शानां पौराणामन्यादृशाः प्रलापाः प्रव-र्तन्ते, तन्न शक्नोमि सीतमात्रस्य कृते शरच्चन्द्र-निर्मलस्येक्ष्वाकु-कुलस्य कलङ्कमुत्पादयितुम्। सीतया चाहं गर्भिणी-भाव-सुलभेन दोहदेन भागीरथी-दर्शनं प्रार्थितः। तस्मात् त्वमनेन गङ्गा-गमन-व्याजेन सुमन्त्रा-धिष्ठितं रथमारोप्य कस्मिंश्चिद् वनोद्देशे परित्यज्य निवर्तस्व—इति। तदहमपि स्वजन-विस्रम्भ-निविशङ्कां देवीमादाय गृह-हरिणीमिव वध्य-भूमिं वनमुपनयामि।[3]

सुमन्त्रः—(लगाम को खेंचने का अभिनय करता है।)

लक्ष्मणः—लो, रथ रुक गया, भाभी जी! उतरिए।

सीता—(उतरकर इधर-उधर टहलती है।)

१. दीर्घ-मार्ग-परिश्रान्ताः—दीर्घेण मार्गेण परिश्रान्ताः, 'लम्बे सफर के कारण थक रहे।'

लक्ष्मण—सुमन्त्र! लम्बे सफर से घोड़े थक गये हैं, इन्हें सुस्ता लो।

२. सुमन्त्र—जो आप आज्ञा दें। [रथ पर चढ़कर प्रस्थान

३. आत्मगतम्—स्वगतम्। देखिए,

'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्। साहित्यदर्पण

रावण-भवन-संस्थानात्—रावणस्य भवने संस्थानं तस्मात्, 'रावण के घर ठहरने से।'

समुत्पन्न-विमर्शानाम्—समुत्पन्नः विमर्शः (शंका, विचारः) यावत्, तेषाम्, 'उनका जिन्हें शंका उत्पन्न हो गई है।' पौराणाम्—पुरे भवः+अण् (तत्र भवः पा० ४. ३. ५३) पौरः, तेषाम्।

अन्यादृशाः—अन्यस्य इव दर्शनम् अस्य अन्यादृश्; बहु०; 'दूसरे के सदृश; भिन्न प्रकार'। इसी अर्थ में 'अन्यादृक्ष' रूप भी होता है।

सीता—वच्छ ! लक्खण ! अदिसइदगब्भभरुव्वहणपरिस्संता ण प्पहवंति मे चलणा। ता अग्गदो भविअ णिइवेहि कीसदूरे भअवई भाईरई वट्टदिति। [वत्स ! लक्ष्मण ! अतिशयित-गर्भ-भरोद्वहन-परिश्रान्तौ न प्रभवतो मे चरणौ। तदग्रतो भूत्वा निवेदय कियद्दूरे भगवती भागीरथी वर्तत इति।][1]

प्रलापाः—प्र + √लप् १ पर० + घञ् 'अंडशंड, बकवाद'। देखिए, 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' इत्यमरः

उत्पादयितुम्—उत् + √४ आ० पद् + णिच् + तुमुन्।

गर्भिणी-भाव-सुलभेन—गर्भिण्याः भावः, तत्सुलभेन, 'गर्भावस्था में सहज उत्पन्न'। दोहदेन—'दोहदो गर्भलक्षणे। अभिलाषे तथा गर्भे' इति हैमः।

सुमन्त्राधिष्ठितम्—सुमन्त्रेण अधिष्ठितम्; 'सुमन्त्र द्वारा संचालित'।

आरोप्य—आ + रुह् + ल्यप्, 'चढ़ाकर।'

स्वजन-विस्रम्भ-निर्विशङ्काम्—स्वस्य जनः स्वजनः, तस्मिन् यो विस्रम्भः (विश्वासः), तेन निर्विशङ्का, ताम्, 'बन्धु-जन के प्रति विश्वास के कारण निडर हो रही को।' गृह-हरिणीमिव—घर पाली गई हरिणी के समान।

लक्ष्मण—भाईजी अथवा महाराज ने मुझे आज्ञा दी है कि—"हे लक्ष्मण ! रावण के घर रहने से तुम्हारी भाभी के चरित्र के प्रति सन्देह करते हुए नागरिकों में, कई प्रकार के अपवाद फैल रहे हैं। मैं एकमात्र सीता के लिए शरदृऋतु के चन्द्र सदृश निर्मल इक्ष्वाकु-कुल में कालिमा न लगने दूँगा। और सीता ने गर्भावस्था में सहज ही उत्पन्न दोहद इच्छा के रूप में गंगा नदी के दर्शनों की इच्छा प्रकट की है। अतएव तुम, सुमन्त्र द्वारा चलाये रथ पर बैठाकर, गंगा-दर्शन के बहाने किसी वन में छोड़कर लौट आओ।" सो मैं भी स्वजन पर विश्वास के कारण निडर हुई भाभी को, अपने साथ लाकर वन में ऐसे ले जा रहा हूँ, जैसे पालतू हिरणी को कोई कसाईखाने ले जा रहा हो।

१. अतिशयित-गर्भ-भरोद्वहन-परिश्रान्तौ—अतिशयितः यो गर्भः, तस्य यो भरः, तस्य उद्वहनम्, तेन परिश्रान्तौ, 'पूरे दिनों के गर्भ के भार के उठाने से थक रहे (पैर)'।

सीता—वत्स लक्ष्मण ! पूरे दिनों के गर्भ-भार को उठाये रहने से थक रहे मेरे पैर डगमगाने लगे हैं। सो आगे बढ़कर बताओ कि गंगा देवी कितनी दूर हैं।

लक्ष्मणः—नन्वासन्नैव भगवती भागीरथी, तदलं विषादेन, संप्राप्ता एव वयम्। पश्य,[१]

आदाय पङ्कज-वनान्मकरन्द-गन्धान्
कर्षन्नितान्त-मधुरान् कलहंस-नादान्।
शीतास्तरङ्ग-कणिका विकिरन्नुपैति
गङ्गानिलस्तव सभाजन-काङ्क्षयेव ॥ ५ ॥*

सीता—(स्पर्शं नाटयति) संपदं जणणीकरप्फरिससुहसीअलस्स भाईरई-तरंगमारुदस्स परिसेण परिस्समस्स विअ पावस्स परिक्खओ जाओ, तह वि दोहद-कुदूहलं गंगावगाहणे मं समुस्साहदि। ता इमादो तडप्पपादादो जह परिस्संता ओदरामि तह आदेसेहि मे मग्गम्। [सांप्रतं जननी-कर-स्पर्श-सुख-शीतलस्य भागीरथी-तरङ्ग-मारुतस्य स्पर्शेन परिश्रमस्येव पापस्य परिक्षयो जातः, तथापि दोहद-कौतूहलं गङ्गावगहने मां समुत्साहयति। तदस्मात् तट-

---

१. आसन्ना—आ + √सद् + क्त + टाप् 'निकट'।

अलं विषादेन—अलं के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है। 'व्याकुल मत हो।'

लक्ष्मण—गंगादेवी तो अब पास ही हैं; घबड़ाओ मत; हम पहुँच ही गये हैं।

अन्वयः—गङ्गानिलः पङ्कजवनात् मकरन्द-गन्धान् आदाय नितान्त-मधुरान् कलहंस-नादान् कर्षन् शीताः तरङ्ग-कणिकाः विकिरन् तव सभाजन-काङ्क्षया इव उपैति।

शब्दार्थः—आदाय—लाकर। पङ्कजम्—कमल। नितान्त—अत्यन्त। नादः—गूँज। विकिरन्—बिखेरता हुआ। उपैति—आती है। अनिलः—हवा।

टिप्पणी—गङ्गानिलः—गङ्गायाः अनिलः, अनिलः—अनिति अनेन, √अन् २ पर 'सांस लेना' + इलच्, 'वायु'; 'गंगा की वायु।' पङ्कजम्—वनात्—पंके जातं पङ्कजम्; तस्य वनं तस्मात्। मकरन्द-गन्धान्—मकरन्दस्य गन्धान्। नितान्त-मधुरान्—नितान्तं मधुरान् अत्यन्त मधुर को विकिरन्—वि + कृ + शतृ 'बिखेरता हुआ।' उपैति-उप + √इ २ पर० लट् 'आती है।'

सभाजन-काङ्क्षया—सभाजनं आनन्दनं तस्य कांक्षा, तया; 'अथ द्वे आनन्दनसभाजने। आप्रच्छन्नम्' इत्यमरः; 'सेवा की इच्छा से।'

हिन्दी—कमल-वनों से पुष्प-रस की सुगन्ध लेकर गंगा की हवा, कलहंसों की अति मधुर गूँज को संग लिए, तरंग-कणों को बिखेरती हुई, मानो तुम्हारी सेवा की इच्छा से आ रही है। [५]

प्रपाताद्यथा परिश्रन्तावतरामि तथादेशय में मार्गम् ।][1]

लक्ष्मणः—(निर्दिश्य) अत्यन्त-विश्रान्त-मनुष्य-सञ्चारतया दुरवतारा स्तट-प्रदेशाः । तस्मात् प्रपदमास्थाय सम्यक् ।[2]

वामेन नीवार-लतां करेण जानुं समालम्ब्य च दक्षिणेन ।
पदे पदे मे पदमादधाना शनैः शनैरेतु मुहूर्तमार्या ॥ ६ ॥

---

१. जननी-कर-स्पर्श-सुख-शीतलस्य—जनन्याः करः हस्तः जननीकरः, तस्य यः स्पर्शः, जननीकरस्पर्श इव सुखः, जननीकरसुखस्पर्शः, स चासौ शीतलश्च तस्य, 'माता के हाथ के स्पर्श के समान सुखप्रद तथा शीतल ।'

भागीरथी-तरङ्ग-मारुतस्य—भागीरथ्यास्तरङ्गाः तेषां सम्बन्धी यो मारुतः, तस्य, 'गंगा की तरंगों की हवा के ।'

परिक्षयः—परि+ √चि १ पर०+अच्, 'नाश' ।

दोहद-कौतूहलम्—दोहदकृतं तू कौतूहलम्, 'गर्भोत्कण्ठा ।'

गङ्गावगहने—गङ्गायामवगाहनं तस्मिन्, 'गंगा में स्नान करने के लिए ।' तट-प्रपातात—'ढालू किनारे से ।'

सीता—(वायु-स्पर्श का अभिनय करती है) माता के हाथों के स्पर्श के समान सुख-प्रद,तथा शीतल गंगादेवी की लहरों के झोंकों के स्पर्श से थकान रूपी पापों का नाश हो गया, तब भी दोहद इच्छा का कौतूहल मुझे गंगा-स्नान के लिए उकसा रहा है । अतः मुझे मार्ग दिखाओ, जिससे मैं थकी-माँदी इस ढालू किनारे से उतर जाऊँ ।

२. अत्यन्त - विश्रान्त-मनुष्य - सञ्चारतया—अत्यन्तं विश्रान्ताः ये मनुष्याः तेषां सञ्चारः तस्य भावस्तत्ता, तया, 'मनुष्यों का आना-जाना सर्वथा न होने से ।' विश्रान्त—वि+श्रम्+क्त; 'विरत', 'रहित' । दुरवताराः—दुःखेनावतरितुं शक्याः । प्रपदम्—पंजा; 'पादाग्रं प्रपदम्' इति अमरः । आस्थाय—आ+ √स्था १ पर०+ल्यप् 'जमाकर, टिकाकर ।'

लक्ष्मण—(हाथ से संकेत करके) लोगों के बिलकुल भी न आने-जाने से ये किनारे बड़े ही बेढब हो रहे हैं । इसलिए पैरों के पंजे खूब जमाकर...।

अन्वयः—वामेन करेण नीवार-लतां समालम्ब्य दक्षिणेन च करेण जानुं (समालम्ब्य) मे पदे पदे पदमादधाना आर्या मुहूर्त्तं शनैः शनैः एतु ।

शब्दार्थः—वाम—बायाँ । नीवार-लता—धान्य-लता । जानु—घुटना । समालम्ब्य—सहारा लेकर । दक्षिण—दायाँ । आदधाना—जमाए हुए । एतु—आओ । मुहूर्तम्—क्षण भर ।

सीता—(यथोक्तमवतीर्य) वच्छ सु परिस्संतंमि, एतस्सिं पाअवच्छायाए मुहुत्तं उपविसिअ विस्समिस्सं। [वत्स ! सुष्ठु परिश्रान्तास्मि; एतस्यां पादपच्छायायां मुहूर्तमुपविश्य विश्रमिष्यामि।][1]

लक्ष्मणः—यदभिरुचितं देव्यै।[2]

सीता—(उपविश्य विश्रान्ति नाटयति)[3]

लक्ष्मणः—अहो असंहार्य-परिच्छदाः सुकृतिनः। तथाहि,[4]

तरङ्गा वीजन्ते सजल-कणिकान् शीत-मरुत-
स्तथैते सङ्गीतं दधति कलहंसाः कल-गिरः।
सखीव च्छायेयं रमयति परिष्वज्य हृदयं
वने शून्येऽप्यस्मिन् परिजनवतीवाऽत्रभवती॥ ७॥

टिप्पणी—समालम्ब्य—सम्+आ+लम्ब्+ल्यप्; 'पकड़कर।'
आदधाना—आ+दा+ल्युट्+टाप्; 'रखती हुई', 'जमाती हुई'

हिन्दी—बायें हाथ से नीवार-लता को पकड़ और दायें हाथ से घुटने का सहारा लेकर मेरे हर पग पर अपना पैर जमाती हुई धीरे-धीरे क्षण-भर चली आओ। [६]

१. परिश्रान्ता-परि+श्रम्+क्त+टाप् 'थक गई।' पादपच्छायायाम्—पादपस्य छायायामिति; 'पेड़ की छाया में'; पादपः—पादाभ्याम् पिबतीति।

उपविश्य—उप+विश्+ल्यप् 'बैठकर'।

सीता—(उसी प्रकार उतरकर) वत्स ! मैं तो थककर चूर हो गई हूँ। इस पेड़ की छाया में क्षण-भर बैठकर आराम कर लूँ।

२. अभिरुचित' देव्यै—अभिरुचितम्, अभिलाषा। रुच् आदि धातुओं के साथ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।

लक्ष्मण—जैसी आपकी इच्छा हो।

३. सीता—(बैठकर आराम करने का अभिनय करती है।)

४. असंहार्य-परिच्छदाः—असंहार्यः परिच्छदो येषां ते, 'जिनकी भोग-सामग्री अक्षय्य है।' सुकृतिनः— सु+कृत्+इनि, सुकृतिन् 'पुण्यात्मा'; शोभनं कृतं सुकृतम्, तद्विद्यते एषां ते; षष्ठी एक०।

लक्ष्मण—अहो, सौभाग्यशालियों को भोग-सामग्री सदैव घेरे रहती है। क्योंकि—

अन्वयः—तरङ्गाः सजल कणिकान् शीत-मरुतः वीजन्ते तथा एते कलगिरः कलहंसाः सङ्गीतं दधति। इयं छाया हृदयं परिश्वज्य सखी इव रमयति, अस्मिन् शून्येऽपि वने अत्रभवती परिजनवती इव।

सीता—जह भणिदं कुमारेण, सअणमज्झगदाए विअ एत्थ अहिरमदि मे हिअअं। [यथा भणितं कुमारेण, स्वजन-मध्य-गताया इवात्राभिरमते मे हृदयम।][1]

लक्ष्मणः—(आत्मगतम्) एषा विश्रान्ता सुखोपविष्टा च देवी, तदयमेवावसरो यथास्थितं व्यवसितुम्। (प्रकाशम्) (सहसा पादयोर्निपत्य) अयमनवरत-प्रवास-दुःख-भागी निर्लक्षणो लक्ष्मणो विज्ञापयति स्थिरीक्रियतां हृदयम्।[2]

सीता—(ससंभ्रमम्) अवि कुसलं अंअउत्तस्स। [अपि कुशलमार्यपुत्रस्य ?][3]

शब्दार्थः—वीजन्ते—हवा करती हैं। कल-गिरः—मधुर-भाषी। परिश्वज्य—आलिंगन करके। परिजनवती—दासीवर्ग सहित।

टिप्पणी—सजलकणिकान्—जलस्य कणिकाः जलकणिकाः, ताभिः सह वर्त्तन्ते इति तान्, 'जल की नन्ही-नन्ही बूँदों से युक्त को।' शीत-मरुतः—'ठण्डी हवाओं को।' कल-गिरः—कला (मधुरा) गिरः येषामेवम्भूताः।

परिजनवती—परिजन+मतुप्+ङीप् 'दासीवर्ग सहित।'

हिन्दी—लहरें नन्ही-नन्ही बूँदों से भरी ठण्डी हवाओं को चलाती हैं, और ये मधुर-भाषी कलहंस संगीत आलाप रहे हैं। यह छाया हृदय को आलिंगन करके सखी के समान आनन्द देती है, मानो इस सुनसान वन में भी पूज्य भाभी दास-दासियों सहित हैं। [७]

१. स्वजन-मध्य-गतायाः—स्वस्य जनः स्वजनः, तस्य मध्ये गता स्वजन-मध्य-गता, तस्याः। 'अपने बन्धुओं के बीच प्राप्त हुई का।'

सीता—जैसा कि कुमार (लक्ष्मण) ने कहा है, अपने बन्धुओं के बीच प्राप्त हुई का-सा मेरा हृदय आनन्द विभोर हो रहा है।

२. सुखोपविष्टा—सुखेन उपविष्टा, 'सुख से बैठी।' यथास्थितम्—यथा आस्थितम्, 'यथानिश्चित।' व्यवसितुम्—वि+अव+सो ४ पर०+क्त; 'कार्यान्वित करने के लिए।'

लक्ष्मण—(स्वगत) भाभी विश्राम कर चुकीं और सुख से बैठी हैं। अतः जैसा निश्चित किया है वैसा कर डालने का यही अवसर है। (प्रकट) (सहसा चरण-वन्दना करके) निरन्तर वनवास के दुःख का साथी कुलक्षणी लक्ष्मण निवेदन करता है—अपने हृदय को दृढ़ कर लो।

३. ससंभ्रमम्—सम्भ्रमेण सहितं यथातथा; क्रियाविशेषण; 'आवेगपूर्वक'। अपि—वाक्य के प्रारम्भ में अपि का 'प्रश्नार्थे' प्रयोग होता है।

लक्ष्मणः—(वनं निर्दिश्य) एवं गते कीदृशं कुशलमार्यस्य ?[1]

सीता—अज्जूए केकईए पुणो वि समादिट्ठो वणवासो ? [अम्बया कैकेय्या पुनरपि समादिष्टो वनवासः ?][2]

लक्ष्मणः—समादिष्टो वनवासः, न पुनरम्बया ।[3]

सीता—केण उण समादिट्ठो ? [केन पुनः समादिष्टः ?][4]

लक्ष्मणः—आर्येण ।[5]

सीता—कहं समादिट्ठो ? [कथं समादिष्टः ?][6]

लक्ष्मणः—(बाष्पस्तम्भमभिनीय)[7]

आर्यस्यादेश इत्येव वक्तुमिच्छामि यत्नतः ।
तथापि हृदयं गत्वा ग्रन्थिं बध्नाति भारती ॥ ८ ॥

सीता—(सावेग) क्या स्वामी तो सकुशल हैं ?

१. लक्ष्मण—(वन की ओर संकेत करके) ऐसा हो जाने पर भाई साहब का कुशल-मंगल कैसा ?

२. समादिष्टः—सम्+आ+ √दिश् ६ उभय०+क्त, 'आदेश किया गया' ।

सीता—क्या माता कैकेई ने फिर वनवास की आज्ञा दे दी ?

३. लक्ष्मण—वनवास की आज्ञा दी गई है, किन्तु माता जी से नहीं ।

४. सीता—तो किसने दी है ?

५. लक्ष्मण—भाई ने ।

६. सीता—किन्तु कैसे ?

७. बाष्प-स्तम्भम्—बाष्पाणाम् (अश्रूणां) स्तम्भम् (षष्ठी तत्पु०) 'आँसू रोकना ।'

लक्ष्मण—(आँसू रोकने का अभिनय करके)

अन्वयः—आर्यस्य आदेशः इति एव यत्नतः वक्तुमिच्छामि । तथापि भारती हृदयं गत्वा ग्रन्थिं बध्नाति ।

श०—यत्नतः—यत्नपूर्वक । भारती—वाणी । ग्रन्थि—गाँठ ।

टि०—यत्नतः—यत्न+तसिल् ; पञ्चम्यर्थे तसिलः । वक्तुम्—वच्+तुमुन् । भारती √भृ १ उभय० अतच्; स्वार्थे अण्, 'वाक्य, वचन' । बध्नाति— √बन्ध् ९ पर० लट् ।

हिन्दी—भाई की आज्ञा है, इसलिए मैं यत्न से कहना चाहता हूँ किन्तु तब भी वाणी हृदय में गाँठ-सी बाँध देती है । [८]

सीता—किं मम समादिट्ठो वणवासो ? [किं मम समादिष्टो वनवासः][1]

लक्ष्मणः—न केवलं तव, आत्मनोऽपि ।[2]

सीता—कहं विअ ? [कथमिव ?][3]

लक्ष्मणः—

प्रकाम-भुक्ते स्वगृहाभिमानात् सुहृज्जनेनाहित-याग-वह्नौ ।
आर्यस्य रम्ये भवनेऽपि वासस्तव प्रवासे वनवास एव ॥ ६ ॥

सीता—वच्छ ! परिप्फुडं कहेहि, अज्ज कहं मम वणवासो अज्जउत्तस्स वणवासोत्ति ? [वत्स ! परिस्फुटं कथय, अद्य कथं मम वनवास आर्यपुत्रस्य वनवास इति ?][4]

लक्ष्मणः—किमपरं कथयामि मन्द-भाग्यः ?[5]

---

१. सीता—तो क्या वनवास मुझे दिया है ?

२. लक्ष्मण—न केवल तुम्हें ही, अपने आपको भी।

३. सीता—यह कैसे ?

अन्वयः—स्वगृहाभिमानात् सुहृज्जनेन प्रकाम-भुक्ते आहित-याग-वह्नौ रम्ये भवने अपि आर्यस्य वासः तव प्रवासे वनवासः एव ।

श०—प्रकामम्—यथेष्ट । भुक्त—खाया गया । आहित—संस्थापित । याग-वह्निः—यज्ञ की आग ।

टि०—स्वगृहाभिमानात्—स्वस्य गृहस्य अभिमानं तस्मात्, 'अपने घर के अभिमान-वश' । राम के घर को उनके मित्र, अधिक परिचय होने के कारण, अपना ही घर समझते थे । सुहृज्जनेन—शोभनं हृदयमस्य स सुहृत् (सुहृद्-दुर्हृदौ पा० ५. ४. १५०); स चासौ जनश्चेति (कर्म०) । प्रकाम-भुक्ते—प्रकामं भुक्तं यस्मिन् तस्मिन्, 'जहाँ अपनी इच्छानुसार भोजन किया (आनन्द मनाया) जाता है' । आहित-याग-वह्नौ—आहितः यागार्थं वह्निः यस्मिन् तस्मिन्, 'जहाँ यज्ञ-सम्बन्धी आग स्थापित की गई है' ।

लक्ष्मण—भाई जी का उस भव्य भवन में भी निवास, जहाँ अपना घर (समझने) के अभिमान-वश मित्र-वर्ग द्वारा यथेष्ट भोजन किया (आनन्द मनाया) जाता है और जहाँ यज्ञ की आग (सदैव) स्थापित रहती है, तुम्हारे बिना वनवास ही है । [६]

४. सीता—वत्स ! साफ़-साफ़ कहो । आज मेरा वनवास स्वामी का वनवास कैसे हुआ ?

५. लक्ष्मण—मैं मन्दभाग्य और क्या कहूँ ?

त्यक्ता किल त्वमार्येण चारित्र-गुण-शालिना।
मयापि किल गन्तव्यं त्यक्त्वा त्वामिह कानने ॥ १० ॥

सीता—हा ताद ! अय्य कोसलाहिप ! अज्ज उवरदोसि। [हा तात ! आर्य कोसलाधिप ! अद्योपरतोऽसि।][1]

(मोहं गच्छति)[2]

लक्ष्मणः—(ससम्भ्रमम्) कष्टं भोः ! कष्टं भोः ! निर्घात-पात-दारुणेनानेन परित्याग-वार्ता-श्रवणेन नूनमुपरता देवी। (निर्वर्ण्य) दिष्ट्या श्वसिति। तत्को नु खल्वस्याः प्रत्यानयनेऽभ्युपायः। (विषादं नाटयति) आश्चर्यमाश्चर्यम्[3]—

अन्वयः—चारित्र-गुण-शालिना आर्येण त्वं त्यक्ता किल, त्वाम् इह कानने त्यक्त्वा मया अपि गन्तव्यं किल।

श०—चारित्र-गुण-शालिन्—सच्चरित्र रूपी गुण से सुशोभित। किल—सचमुच।

टि०—चारित्र-गुण-शालिना—चरित्रमेव चारित्रं तदेव गुणः, तेन शालते इति चारित्रगुणशाली, तेन। किल—अव्यय; "वार्तासंभाव्ययोः किल।" इत्यमरः; "किल शब्दस्तु वार्तायां संभाव्यानुनयार्थयोः।" इति विश्वः। "वार्तायामरुचौ किल।" इति त्रिकाण्डशेषः।

हिन्दी—सच्चरित्र गुण-धाम भाई जी ने सचमुच तुम्हें त्याग दिया है, तुम्हें यहाँ वन में छोड़कर मैं भी लौट जाऊँगा। [१०]

१. उपरतः—उप + √रम् १ आ० + क्त, 'मृत'।

सीता—हाय पिताजी ! आर्य ! कोशल-नरेश !! आप आज मरे।

२. (मूर्च्छित हो जाती है)

३. निर्घात-पात-दारुणेन—निर्घातस्य (वज्रस्य) पातः इव दारुणः, 'वज्रपात के समान कष्टदायक' तेन। परित्याग-वार्ता-श्रवणेन—परित्यागस्य वार्ता, तस्य श्रवणेन, 'त्याग का समाचार सुनने से'। दिष्ट्या—भाग्य से। 'दैवं दिष्टं भागधेयं स्त्री दिष्टिर्नियतिर्विधिः।' इत्यमरः। प्रत्यानयन—प्रति + आ + √नी + ल्युट्, 'लौटाना अर्थात् चेतना प्राप्त करना, होश में आना'।

लक्ष्मण—(घबराकर) इस परित्याग के समाचार के सुनने से, जो वज्रपात सदृश भयंकर है, भाभी सचमुच मर गईं। (देखकर) सौभाग्य से साँस तो चल रहा है। तो इनको होश में लाने के लिए क्या उपाय करूँ ? (दुःख प्रकट करता है) आश्चर्य है, महान् आश्चर्य है !!

भागीरथी-शीकर-शीतलेन सम्भाव्यमाना मृदुनानिलेन।
*मद्भाग्य-शेषेण च बोध्यमाना प्रत्यागता राजसुता कथञ्चित् ॥ ११ ॥**

सीता—वच्छ लक्खण ! किं गदोसि ? [वत्स लक्ष्मण ! किं गतोऽसि ?][1]

लक्ष्मणः—आज्ञापय, तिष्ठाम्येष मन्द-भाग्यः।[2]

सीता—किं उवालभिअ अंमि परिच्चत्ता ? [किमुपालभ्यास्मि परित्यक्ता ?][3]

लक्ष्मणः—कीदृशो देव्या उपालम्भः।[4]

सीता—अहो मे अधण्णत्तणं, किं उवालम्भमेत्तएण विणा णिगहिदंहि ? [अहो मेऽधन्यत्वम् ! किमुपालम्भमात्रेण विना निगृहीताऽस्मि ? किमस्ति किमपि तेन सन्दिष्टम् ?][5]

अन्वयः—भागीरथी शीकर-शीतलेन मृदुना अनिलेन सम्भाव्यमाना मद्भाग्यशेषेण च बोध्यमाना राजसुता कथञ्चित् प्रत्यागता।

श०—शीकर—जल की नन्हीं बूँद। अनिलः—वायु। सम्भाव्यमाना—सेवा की गई। बोध्यमाना—जगाई गई। कथञ्चित्—बड़े परिश्रम से। प्रत्यागता—सचेत हो गई।

टि०—शीकर-शीतलेन—शीकरैः शीतलेन, 'जल की नन्ही बूँदों से शीतल'। सम्भाव्यमाना—सं+भू+णिच्+शानच्+टाप्, 'सेव्यमाना,' 'सेवित'। मद्भाग्यशेषेण—मम भाग्यं मद्भाग्यम्, तस्य शेषेण 'मेरे सौभाग्य के कुछ बच रहने से'। बोध्यमाना √बुध् ४ आ० + णिच्+शानच्+टाप्, 'जगाई गई'। प्रत्यागता—प्रति+आ+गम्+क्त+टाप्, 'होश में आ गई है'।

हिन्दी—गंगा की नन्हीं बूँदों से शीतल और कोमल हवा से सेवा की गई तथा मेरे सौभाग्य के कुछ बच रहने से जगाई गई राजकुमारी बड़े परिश्रम द्वारा फिर होश में आ गई हैं। [११]

१. सीता—वत्स लक्ष्मण ! क्या तुम चले गये ?

२. लक्ष्मण—आज्ञा कीजिए, मैं अभागा यहीं हूँ।

३. सीता—क्या दोष लगाकर मुझे त्यागा है ?

४. लक्ष्मण—आपमें दोष कैसा ?

५. निगृहीता—नि+ √ग्रह् ६ उभय०+क्त+टाप्, 'दण्डित'। देखिए, परि+ग्रह्, आ+ग्रह्, सं+ग्रह्, वि+ग्रह्, अनु+ग्रह्, अव+ग्रह्।

सीता—हाय ! मेरा दुर्भाग्य ! क्या बिना दोष ही मुझे दण्ड दे डाला है ? क्या उनका कोई सन्देश भी है ?

लक्ष्मणः—अस्ति ।[1]

सीता—कहेहि कहेहि । [कथय कथय ।][2]

लक्ष्मणः—तुल्यान्वयेत्यनुगुणेति गुणोन्नतेति
दुःखे सुखे च सुचिरं सहवासिनीति ।
जानामि केवलमहं जनवाद-भीत्या
सीते ! त्यजामि भवतीं न तु भाव-दोषात् ॥ १२ ॥

अयमार्यस्य सन्देशः ।[3]

सीता—कहं जणवादभयेणेत्ति । किं वि वअणीअं मे अत्थि ? [कथं जन-वाद-भयेनेति ? किमपि वचनीयं मेऽस्ति ?][4]

लक्ष्मणः—कीदृशमार्याया वचनीयम् ?[5]

---

१. लक्ष्मण—है !

२. सीता—कहो, कहो ।

अन्वयः—तुल्यान्वया इति अनुगुणा इति गुणोन्नता इति सुचिरं दुःखे सुखे च सहवासिनी इति जानामि, सीते ! अहं केवलं जनवाद-भीत्या भवतीं त्यजामि न तु भाव-दोषात् ।

श०—अन्वयः—वंश । अनुगुणा—समान गुणों से युक्त । गुणोन्नता—गुणों से विभूषित । सहवासिनी—धर्मपत्नी । जनवादः—लोक-निन्दा । भाव-दोषः—प्रेम का अभाव ।

टि०—तुल्यान्वयः—तुल्यः अन्वयः यस्याः सा, 'समान वंशवाली' । अनुगुणा—गुणैः अनुगता, 'समान गुणों से युक्त' । गुणोन्नता—गुणैः उन्नता, 'गुण-गण से विभूषित' । जनवाद-भीत्या—जनवादाद् भीत्या, 'लोकापवाद के भय से' । भाव-दोषात्—भावस्य दोषात्, 'प्रेम के दोष से; प्रेम के ह्रास के कारण' ।

लक्ष्मण—तुम वंश में मेरे वंश के तुल्य हो, समान गुणों से अलंकृत हो, गुणशालिनी हो, तुम चिरकाल मेरे दुःख-सुख की संगिनी रही हो, ऐसा मैं जानता हूँ, सीता ! मैं तुम्हें लोकापवाद के भय के कारण छोड़ रहा हूँ न कि प्रेम के अभाव से। [१२]

३. यह है भाई जी का सन्देश ।

४. वचनीयम्—निन्दनीय; 'वचनीयं तु निर्वादे सुहृद्दृष्टे च गर्हिते । इति विश्वः ।

सीता—लोक-निन्दा का भय कैसा ? क्या मेरे में कुछ निन्दनीय बात है ?

५. लक्ष्मण—आपमें निन्दनीय बात कैसी ?

ऋषीणां लोकपालानामार्यस्य मम चाग्रतः ।
अग्नौ शुद्धिं गता देवी किन्तु—

सीता—(लज्जां नाटयति) कहेहि, किंतु । [कथय, किन्तु—][1]

लक्ष्मणः— *लोको निरंकुशः ॥ १३ ॥*

सीता—अग्गिसुद्धिसंकित्तणेण पडिबोधिदम्हि । रावण-भवण-उत्तंतो, पुणोवि उब्बादिअदि । सीदाए वि णाम एव्वं संभावीअदित्ति सव्वहा अलं महिलत्तणेण । एव्वं परिच्चत्ता । णु परिच्चत्तम्मि । किं ण खु जुत्तं मम अंअउत्तपरिच्चत्तं अत्ताणं परिच्चइदुं, किं ण खु तस्स एव्व निरनुक्कोसस्स समाणो एसो पसओ पेक्खिदव्वोत्ति वअणीअकंटकोपहिदं जीविदं परिरक्खामि । [अग्नि-शुद्धि-संकीर्तनेन प्रतिबोधितास्मि । रावण-भवनोदन्तः पुनरप्युद्बाधयति । सीताया अपि नाम एवं संभाव्यत इति सर्वथालं महिलात्वेन । एवं परित्यक्ता । ननु परित्यक्तास्मि । किं न खलु युक्तं ममार्यपुत्र-परित्यक्तमात्मानं परित्यक्तुम् ? किं न खलु तस्यैव निरनुक्रोशस्य समान एव प्रसवः प्रेक्षितव्य इति वचनीय-कण्टकोपहितं जीवितं परिरक्षामि ।[2]

अन्वयः—ऋषीणां लोकपालानाम् आर्यस्य मम च अग्रतः अग्नौ शुद्धिं गता देवी, किन्तु लोकः निरङ्कुशः ।

श०—निरङ्कुशः—बिना रोकटोक का, स्वतन्त्र ।

टि०—लोकपालानाम्—लोकान् पालयति; √पा+णिच्+अण् लोकपालः, 'दिशा का स्वामी', तेषाम् । अग्नौ शुद्धिं गता—रावण के मारे जाने पर जब सीता राम के पास लाई गईं, तब उन्हें स्वीकार किये जाने से पहले अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी थी । यहाँ उसी ओर संकेत है । निरङ्कुशः—निर्गतः अंकुशात् ।

हिन्दी—ऋषियों, लोकपालों, भाई के और मेरे सामने आपकी अग्नि-परीक्षा हुई थी । किन्तु—

१. सीता—(लज्जा का अभिनय करती है) कहो, किन्तु……

लक्ष्मण—लोगों के मुँह को लगाम कौन लगा सकता है ?

२. प्रतिबोधिता—स्मरण कराई गई । उदन्तः—वृत्तान्त ।

सीता—'अग्नि-परीक्षा' शब्द के कहने से मुझे सब स्मरण आ गया । रावण के घर रहने का वृत्तान्त फिर सता रहा है । मुझ सीता के विषय में भी ऐसी शंका की जाती है ? संसार में स्त्री कोई न बने ! ऐसे मैं छोड़ दी गई । हाँ, सचमुच छोड़ दी गई हूँ । तो क्या यह ठीक नहीं है कि स्वामी द्वारा छोड़ दी जाने पर मैं अपने प्राणों पर खेल जाऊँ ? उसी निठुर की उसी के समान संतान की रक्षा करनी होगी, तो क्या इसी

लक्ष्मणः—अनुगृहीतोऽस्मि। (उत्थाय प्रणमति) इदमपरमार्येण सन्दिष्टम्।[१]

सीता—किं णु खु भविस्सदि? [किं नु खलु भविष्यति?][२]

लक्ष्मणः—त्वं देवि! चित्त-निहिता गृह-देवता मे
स्वप्नागता शयन-मध्य-सखी त्वमेव।
दारान्तराहरण-निःस्पृह-मानसस्य
यागे तव प्रतिकृतिर्मम धर्मपत्नी ॥ १४ ॥*

सीता—एव्वं संदिशतेण अंअउत्तेण परिच्चाअदुक्कं मयि निरवसेसं

कारण कलंक रूपी कंटक से बिंधे इस जीवन को धारण किये रहूँ?

१. लक्ष्मण—बड़ी कृपा है आपकी। (उठकर प्रणाम करता है) भाई जी ने और भी कुछ कहा है।

२. सीता—क्या कहा होगा?

अन्वयः—देवि! मे गृह-देवता चित्त-निहिता त्वम्, स्वप्नागता शयन-मध्य-सखी त्वम् एव, यागे दारान्तराहरण-निःस्पृह-मानसस्य मम धर्मपत्नी तव प्रतिकृतिः।

श०—चित्त-निहिता—हृदय में बसी। यागः—यज्ञ। दारान्तराहरण—दूसरी स्त्री को लाना। निःस्पृहमानस—अनिच्छुक। प्रतिकृतिः—मूर्ति, चित्र।

टि०—गृह-देवता—गृहाणां देवता, 'घर की देवी, गृह-लक्ष्मी'। चित्त-निहिता—चित्ते (मानसे चेतसि वा) निहिता (सप्तमी तत्पु०), 'हृदय में बसी, मन-मन्दिर में विराज रही'। स्वप्नागता—स्वप्नेषु आगता (सप्तमी तत्पु०)। शयन-मध्य-सखी–शयनस्य यन्मध्यं तत्र सखी, 'पलंग पर की साथिन'। यागे—'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः।' इत्यमरः 'यज्ञ में'। दारान्तराहरण-निःस्पृह-मानसस्य—अन्ये दाराः, दारान्तरम्, 'दार' शब्द सदैव बहुवचन में प्रयुक्त होता है। "भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी।" इत्यमरः। 'दारयन्ति भ्रातॄन्' इति; तस्य आहरणं (ग्रहणं स्वीकरणं वा) दारान्तराहरणम्, दारान्तराहरणे निःस्पृहमानसस्य; निःस्पृहं मानसं यस्य सः, 'दूसरी स्त्री के स्वीकार करने में अनिच्छुक', तस्य; निःस्पृहम्—निवृत्ता स्पृहा यस्य तत्। धर्म-पत्नी—धर्मेण पत्नी (तृतीया तत्पु०)। प्रतिकृतिः—प्रकृष्टा कृतिः, 'प्रतिमा, चित्र'।

हिन्दी—रानी! तुम मेरे घर की लक्ष्मी हो, सदैव मेरे मन में समाई हो, सुपनों में भी प्रकट होकर तुम्हीं मेरे पलंग की साथिन हो, यज्ञ के समय तुम्हारी मूर्ति मेरी धर्म-पत्नी होगी, मेरा मन किसी और स्त्री को स्वीकार करने के विमुख रहेगा। [१४]

अवणीदं, णहि तह अण्णासत्ता पइणो, इत्थिआजणस्स दुक्खं उप्पादेदि जह अण्णासत्तो। [एवं सन्दिशतार्यपुत्रेण परित्याग-दुःखं मयि निरवशेषमपनीतम्, नहि तथान्यासक्ता पत्युः, स्त्री-जनस्य दुःखमुत्पादयति यथान्यासक्तः।][1]

लक्ष्मणः—कः प्रति-सन्देशः ?[2]

सीता—कस्स ? [कस्य ?][3]

लक्ष्मणः—आर्यस्य।[4]

सीता—एव्वं गदेवि पडिसंदेशो। अज्जूणं उण मम वअणादो पादवंदणं कदुअ विण्णवेहि—एव्वं अहं णीरक्खा सावदसमाइण्णे वणे पडिवसंती अ सव्वहा हिअएण अय्याहिं अणुगहीदव्वेत्ति। [एवं गतेऽपि प्रतिसन्देशः। श्वश्रूणां पुनर्मम वचनात् पाद-वन्दनं कृत्वा विज्ञापय—एवमहं नीरक्षा श्वापद-समाकीर्णे वने प्रतिवसन्ती च सर्वथा हृदयेनार्याभिरनुगृहीतव्येति।][5]

---

१. सन्दिशता—सन्देश भेजने से। निरवशेषम्—समस्त। अपनीत—दूर कर दिया।

सन्दिशता—सं + √दिश् ६ उभय० + शतृ, तृतीया एकवचन। निरवशेषम्—निर्गतः अवशेषः यस्मात् तत्, 'जिसमें से बाकी निकल गया, अर्थात् समस्त, सारा।' अन्यासक्ता—अन्यस्मिन् आसक्ता, 'पर-पुरुष में अनुरक्त स्त्री'। अन्यासक्तः—अन्यस्याम् आसक्तः (पतिः), 'पर-स्त्री में अनुरक्त पति'। इसका भाव यह है—पर-पुरुष में आसक्त स्त्री पति के मन को उतना दुःखी नहीं करती, जितना कि पर-स्त्री में अनुरक्त पति स्त्री के मन को दुःखी करता है।

सीता—इस प्रकार सन्देश देते हुए स्वामी ने मेरा सारा परित्याग-दुःख दूर कर दिया, पर-नारी में अनुरक्त स्त्री पति को उतना दुःखी नहीं करती, जितना पर-स्त्री में आसक्त पति स्त्री को पीड़ा पहुँचाता है।

२. लक्ष्मण—सन्देश के उत्तर में आपने कुछ कहना है ?

३. सीता—किसे ?

४. लक्ष्मण—भाई जी को।

५. एवं गतेऽपि—इस दशा में भी। नीरक्षा—रक्षा-रहित। श्वापद-समाकीर्णे—श्वापदैः समाकीर्णे (पूर्णे); 'हिंसक जन्तुओं से व्याप्त'।

सीता—यह सब हो जाने पर भी सन्देश का उत्तर ! तो भी मेरी ओर से सासों की चरण-वन्दना करके निवेदन करना—मैं निःसहाय हूँ, हिंसक जन्तुओं से घिरे घोर वन में रह रही हूँ, वे अपने हृदय में मेरा हित-चिन्तन कर लिया करें।

लक्ष्मणः—प्रतिगृहीतेयमाज्ञा। आर्यस्य न किञ्चित् सन्दिष्टम्।[१]

सीता—तह णिट्ठुरो णाम संदीसीअदित्ति अप्पडिहदवअणदा एसा लक्खणस्स, ण सीदाए धण्णत्तणं। तह मम वअणादो तं जणं विण्णवेहि—मंदभाइणीं अणुसोअंतो वण्णस्समपरिवालणं अहिग्घंतो अत्ताणं ण बाधेहि, सद्धमे-ससरीरे सावधाणो होहित्ति। वच्छ लक्खण, किं उवालंभामि महाराअं! [तथा निष्ठुरो नाम सन्दिश्यत इत्यप्रतिहत-वचनतैषा लक्ष्मणस्य, न सीताया धन्यत्वम्। तथा मम वचनात्तं जनं विज्ञापय—मन्दभागिनीमनुशोचन् वर्णाश्रम-परिपालनमभिघ्नन्नात्मानं न बाधय, सद्धर्मे स्वशरीरे सावधानो भवेति। वत्स! लक्ष्मण! किमुपालभे महाराजम्?][२]

---

१. प्रतिगृहीता–प्रति + √ग्रह् ९ उभय० + क्त + टाप्;'स्वीकृत की गई'।

आर्यस्य—कुछ स्थानों पर चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग मिलता है, जैसे "तं च व्यसृजद् भरतस्य" (उत्तर० ४); "जयसेनायास्तावत्संवेद्य गच्छ" (मालविका० ४)

लक्ष्मण—यह आज्ञा सिर-माथे। भाई जी के लिए कुछ सन्देश नहीं दिया।

२. 'तथा निष्ठुरो नाम सन्दिश्यते' इति····सीता के कहने का तात्पर्य यह है कि जिसने मुझे देश से निर्वासित कर दिया, ऐसे कठोर-हृदय के लिए भी मैं सन्देश भेजूँ। अप्रतिहत-वचनता—न प्रतिहतं वचनम् अप्रतिहतवचनम्, तस्य भावस्तत्ता, अर्थात् लक्ष्मण का वचन निरर्थक व तिरस्कृत न हो, इसलिए मैं सन्देश भेजती हूँ। इसमें मेरे सौभाग्य की कोई बात नहीं। अनुशोचन्—अनु + √शुच् + शतृ 'चिन्तन करते हुए'। वर्णाश्रम-परिपालनम् अभिघ्नन्–वर्ण चार हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र; चार ही आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास। वर्णाः आश्रमाः तेषां परिपालनम्; परिपालनम्—परितः पालनं, 'सब प्रकार से रक्षा करना'। अभिघ्नन्—अभितो घ्नन् (विनाशयन्),'हर प्रकार से नाश कर देना'; इस सारे का अर्थ होगा 'वर्णाश्रम-धर्म के पालन में ढील करते हुए'। बाधय– √बाध् १ आ०, 'पीड़ित करना' शुद्ध रूप बाधस्व होगा। किमुपालभे महाराजम्?—उपालभे—उप + आ + √लभ् १ आ० 'उलाहना देना' लट्। चाहे राम ने सीता को निर्वासित कर दिया, तब भी वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकती कि वह राम को उलाहना दे।

सद्धर्मे—सतां धर्मे, 'सत्पुरुषों द्वारा आचरण किये गये मार्ग पर'। स्वशरीरे—स्वस्य शरीरे। सावधानः—अवधानेन सहितः, 'दत्तचित्त, तत्पर'। कहा गया है कि सत्पुरुषों से सेवन किये गये मार्ग पर चलने से हानि भी हो तो

लक्ष्मणः—किमेतावत्यपि न प्रभवति देवी ?[1]

सीता—एव्वं वि तं जणं विण्णवेहि—ण जुत्तं तव णिरपराहं इमं जणं सपदि हिअआदो णिव्वसिदुं, किं उण विसआदोत्ति ? [एवमपि तं जनं विज्ञापय—न युक्तं तव निरपराधमिमं जनं सपदि हृदयतो निर्वासयितुं किं पुनर्विषयत इति ?][2]

लक्ष्मणः—सन्देष्टव्यमार्यया सन्दिष्टम् ।[3]

आर्या निर्वासिता नाम हृदयात् प्रभविष्णुना ।
कथं गृहाद् गृहं नाम कथं जनपदादपि ॥ १५ ॥

उसका ह्रास होकर लाभ होता है। देखिए,

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः ।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः ॥ भारविः

धर्म में प्रवृत्ति तभी उचित है जब शरीर स्वस्थ रहे। जब शरीर ही न रहेगा तब धर्म का निर्वाह कैसे होगा ? देखिए,

'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम् ।' रघु० ५.३३

सीता—उन निठुर के लिए सन्देश देती हूँ, केवल इसलिए कि लक्ष्मण का वचन न टले। इसमें सीता का कोई सौभाग्य नहीं। तो भी मेरी ओर से उन्हें निवेदन करना—मुझ अभागिन की चिन्ता करते हुए वर्णाश्रम-धर्म के पालन में ढील कर अपने-आपको (मेरे लिए) घुलायें नहीं, पीडित न करें; सत्पुरुषों द्वारा व्यवहृत मार्ग और अपने शरीर की रक्षा में तत्पर रहें। वत्स लक्ष्मण ! महाराज को क्या उलाहना दूँ ?

१. लक्ष्मण—क्या आप इतना भी अधिकार नहीं रखतीं ?

२. सपदि—सहसा, झटपट। "सद्यः सपदि तत्क्षणे ।" इत्यमरः

विषयतः—विषय+तसिल् (पञ्चम्यर्थे तसिल् प्रत्ययः) 'अपने प्रदेश से, अपने राज्य से'। निरपराध को दण्ड देना उचित नहीं। देखिए,

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकञ्चैव गच्छति ॥

सीता—यह भी उन्हें निवेदन कर देना—मुझ निरपराध को सहसा हृदय से निकाल देना उनके लिए ठीक न था और फिर अपने देश से निकालने पर क्या कहा जाय ?

३. लक्ष्मण—आपने अपना सन्देश कह लिया।

अन्वयः—प्रभविष्णुना आर्या हृदयात् नाम निर्वासिता, कथं गृहाद् गृहं नाम कथं जनपदात् अपि।

सीता—एव्वं वि मम वअणादो विण्णविदव्वो—सा तपोवणवासिणी सव्वहा सीमण्टणिहिदेण अंजलिणा विण्णवेदित्ति जइ अहं णिग्गुणा चिरपरिचिदेत्ति वा, अणाहेत्ति वा, सीदेत्ति वा सुमरणमेत्तएण अणुगहिदव्वेत्ति। [एवमपि मम वचनाद्विज्ञापयितव्यः—सा तपोवनवासिनी सर्वथा सीमन्त-निहितेनाञ्जलिना विज्ञापयति, यद्यहं निर्गुणा चिरपरिचितेति वा, अनाथेति वा, सीतेति वा स्मरण-मात्रकेनानुगृहीतव्येति।][1]

लक्ष्मणः—इमं सन्देशमाकर्ण्य क्षते क्षारमिवाहितम्।
दशामसह्यां शोकस्य व्यक्तमार्यो गमिष्यति ॥ १६ ॥

श०—प्रभविष्णुः—सर्व शक्तिमान्।

टि०—प्रभविष्णुना—प्रभू+इष्णुच्, 'बड़ी समर्थवाला'। नाम—अव्यय, देखिए, "नाम कामेऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च।" इति मेदिनी। निर्वासिता—निर्+वस्+णिच्+टाप्, 'निकाल दी गई'।

हिन्दी—सर्व-समर्थ भाईजी ने आपको अपने हृदय से बाहर कर दिया, नहीं तो घर से कैसे निकाल देते? घर से क्या, अपने देश से भी, बड़ा विस्मय है! [१५]

१. सीमन्त-निहितेन—सीमन्ते निहितेन; सीमन्त—सीम्नोऽन्तः, 'केश-विन्यास'; निहितेन—नि+धा+क्त; दधातेर्हिः (पा० ७.४.४२) सूत्र द्वारा √धा 'हि' में बदल जाता है, 'स्थापित'।

सीता—इतना और निवेदन करना—वह तपोवन-निवासिनी सिर पर कर-बद्ध हो प्रार्थना करती है कि यदि मैं गुणहीन भी हूँ तो भी मैं चिरपरिचित हूँ, अथवा अनाथ हूँ, अथवा सीता हूँ, इस नाते ही स्मरण करने का दया-भाव बनाये रखना।

अन्वयः—क्षते क्षारम् इव आहितम् इमं सन्देशम् आकर्ण्य व्यक्तम् आर्यः शोकस्य असह्यां दशां गमिष्यति।

श०—क्षतम्—घाव। क्षारम्—नमक। आहित—रखा हुआ। आकर्ण्य—सुनकर। व्यक्तम्—निश्चय रूप से।

टि०—क्षते क्षारमिवाहितम्—'घाव पर नमक लगाना'। आहितम्—आ+√धा+क्त, 'स्थापित'।

लक्ष्मण—यह सन्देश सुनकर निश्चय ही भाईजी गहरे शोक में लीन हो जायेंगे (शोक-सागर में डूब जायेंगे) मानो घाव पर नमक छिड़क दिया हो। [१६]

सीता—अदिमहिदे वि सअमंडले कहं तुमं सोंत्ति एत्तिआ दुक्खसहाया, संपदं मए विणा तए एक्केण एसो चिंतिदव्वो। तुमं भादुस्सरीरे सावहाणो होहित्ति। [अतिमहितेऽपि स्वमण्डले कथं ते सन्ति एतावन्तः दुःख-सहायाः, साम्प्रतं मया विना त्वयैकेनैष चिन्तयितव्यः। त्वं भ्रातुः शरीरे सावधानो भवेति।][1]

लक्ष्मणः—अनुरूपमेतन्महानुभावतायाः।[2]

सीता—वच्छ लक्खण! पणमिदव्वा तुए मम वअणादो राहवउल-राअधाणी भअवदी अयोज्जा, सुस्सूसिदव्वो पडिमागदो महाराओ, साहिदव्वा अज्जूणं आणत्ति, समस्सासिदव्वा पिअंवदा मम पिअसहीओ, सुमरिदव्वा सव्व-कालं मंदभाइणी। [वत्स लक्ष्मण! प्रणमितव्या त्वया मम वचनात् राघव-कुल-राजधानी भगवत्ययोध्या, शुश्रूषितव्यः प्रतिमागतो महाराजः, साधयितव्या श्वश्रूणामाज्ञप्तिः, समाश्वासयितव्याः प्रियंवदा मम प्रिय-सख्यः, स्मर्तव्या सर्वकालं मन्दभागिनी।] (इति रोदिति)[3]

लक्ष्मणः—(सोद्वेगम्)

आर्यां स्वहस्तेन वने विमोक्तुं श्रोतुं च तस्याः परिदेवतानि।
सुखेन लङ्का-समरे हतं मामजीवयन्मारुतिरात्त-वैरः॥ १७॥

---

१. स्वमण्डल—स्वराष्ट्र, राज्य। दुःख-सहायाः—दुःखे सहायाः, 'दुःख में सहायक'। 'एत्तिआ' का छाया में 'स्त्रियः' पाठ लिया गया है, जो ठीक नहीं।

सीता—इतने विशाल राज्य में भी वे दुःख के भागी (प्रजा-जन) कितने होंगे, अब मेरे पीछे अकेले तुम ही उनकी देख-रेख रखना। तुम भाई के शरीर की रक्षा में तत्पर रहना।

२. लक्ष्मण—यह बात आपकी महानुभावता के सदृश ही है।

३. प्रणमितव्या—प्र+ √नम्+णिच्+तव्य+टाप्, 'प्रणाम की जानी चाहिए'। शुश्रूषितव्यः— √श्रु ५ पर०+सन्+णिच्+तव्य, 'सेवा की जानी चाहिए'। प्रतिमागतः-प्रतिमां गतः (द्वितीया तत्पु०), 'प्रतिमा रूप को प्राप्त हुआ अर्थात् स्वर्गीय'। साधयितव्या— √साध् ५ पर०+णिच्+तव्य+टाप्; 'पूरी करनी चाहिए'।

सीता—वत्स लक्ष्मण। मेरी ओर से राघव-कुल राजधानी भग-वती अयोध्या को प्रणाम करना, प्रतिमा रूप को प्राप्त हुए स्वर्गीय महा-राज की सेवा करना, सासों की आज्ञा पूरी करना, प्रियभाषिणी मेरी प्रिय सखियों को धीरज बँधाना और मुझ अभागिन को सदैव स्मरण रखना। (कह कर रोती है।)

(विलोक्य)

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोक-विधुराः करुणं रुदन्ति ।
नृत्तं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं
तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः ॥ १८ ॥

अन्वयः—स्वहस्तेन आर्यां वने विमोक्तुं तस्याः परदेवितानि च श्रोतुम् आत्त-वैरः मारुतिः लंका-समरे सुखेन हतं माम् अजीवयत् ।

श०—विमोक्तुम्—छोड़ने के लिए । परिदेवित—विलाप । आत्त—बद्ध, ठन गया । मारुतिः—हनुमान् । समरः—युद्ध ।

टि०—परिदेवितानि—परि+ √दिव् १० आ० 'विलाप करना'+ णिच्+क्त, प्रथमा बहु०, 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । आत्त-वैरः—आत्तः वैरः यस्य सः; 'जिसका वैर ठन गया है' । मारुतिः—मरुतः अपत्यम्+इञ्, 'वायु-पुत्र हनुमान्' । देखिए, दाशरथिः (दशरथस्य अपत्यम्) । लक्ष्मण के कहने का अभिप्राय यह है कि जब वे बरछी से मूर्च्छित हो गये थे, तब हनुमान् ने संजीवनी बूटी लाकर उन्हें ,सुषेण द्वारा पुनर्जीवित करके वैर कमाया । यदि वे फिर जीवित न होते तो न सीता को वन में छोड़ आने का काम उन पर पड़ता, न उनके विलाप सुनने पड़ते । सुखेन—संजीवनी बूटी के प्रयोग द्वारा सुषेण नाम के चिकित्सक ने लक्ष्मण को पुनर्जीवित किया था ।

लक्ष्मण—(घबराहट के साथ) लंका के युद्ध में सुख से मारे गये को पुनर्जीवित कर मरुत्-पुत्र हनुमान् ने वैर कमाया, जो मुझे अपने हाथों भाबी को वन में छोड़ना पड़ा और उनके विलाप सुनने पड़े । [१७]

(देखकर)

अन्वयः—देवीं विलोक्य एते हरिणाः हरितं विमुच्य रुदन्ति, शोक-विधुराः हंसाः च करुणं रुदन्ति, शिखिनः अपि नृत्तं त्यजन्ति, अमी तिर्यग्गताः वरं न परं मनुष्याः ।

श०—विधुरः—व्याकुल । शिखिन्—मोर । तिर्यग्—पशु-पक्षी ।

टि०—शोक-विधुराः—शोकेन विधुराः (अभिभूताः) 'शोक-विह्वल, शोक-ग्रस्त' । शिखिनः—शिखा अस्ति अस्य+इनि; 'चोटीवाला अर्थात् मोर' । तिर्यग्गताः—तिर्यग्योनिगताः, 'पशु-पक्षी' । लक्ष्मण के कहने का तात्पर्य यह है कि पशु-पक्षी भी, जो बुद्धिहीन हैं, वे सीता को देखकर शोक-ग्रस्त हो रहे हैं । हरिण घास छोड़कर रोने लगे हैं, हंस शोक-वश करुण विलाप करने लगे हैं, मोरों ने नाच छोड़ दिया है । अर्थात् ये पशु-पक्षी भी सीता के प्रति सहानुभूति दिखा रहे

सीता—वच्छ लक्खण ! आसण्णात्थमयो सूरो । दूरे अ इदो माणुस-संपादो । उड्डीणा पक्खिणो । संचरंति सापदा । गच्छ, ण जुत्तं परिलंबिदुं ।
[वत्स लक्ष्मण ! आसन्नास्तमयः सूर्यः । दूरे चेतो मानुष-सम्पातः । उड्डीनाः पक्षिणः । सञ्चरन्ति श्वापदाः । गच्छ न युक्तं परिलम्बितुम् ।][1]

लक्ष्मणः—(अञ्जलिं बद्ध्वा) सर्व-पश्चिमोऽयं लक्ष्मणस्य प्रणामाञ्जलिः । तत्सावधानं परिगृह्यताम् ।[2]

सीता—णिच्चावहिदा खु अहं । [नित्यावहिता खल्वहम् ।][3]

लक्ष्मणः—विज्ञापयामि देवीम्[4]—

आर्यं मित्रं बान्धवान् वा स्मरन्त्या शोकादात्मा मृत्यवे नोपनेयः ।
इक्ष्वाकूणां संततिर्गर्भ-संस्था सेयं देव्या यत्नतो रक्षणीयः ॥ १६ ॥

हैं, परन्तु मनुष्य, जो अपने आपको पशु-पक्षियों से श्रेष्ठ मानता है, उसका हृदय नहीं पसीजता ।

हिन्दी—सीता देवी को देखकर ये हरिण घास से विमुख हो रोने लगे हैं । शोक-ग्रस्त हुए हंस करुणा-भरा विलाप करने लगे हैं, मोरों ने भी नाचना छोड़ दिया है, ये पशु-पक्षी ही अच्छे हैं, न कि मनुष्य (जिनके हृदय पत्थर के हो रहे हैं) । [१८]

१. आसन्नास्तमयः—आसन्नम् अस्तमयनं यस्य सः, 'अस्ताचलगामी' । मानुष-सम्पातः—मानुषाणां सम्पतनं यत्र स प्रदेशः, 'मनुष्यों के संचार-योग्य भूमि-भाग' । परिलम्बितुम्—परि + √लम्ब् + तुमुन्, 'देरी के लिए' ।

सीता—वत्स लक्ष्मण ! सूर्य अस्त होने लगा, यहाँ से बस्ती दूर है, पक्षी घोंसलों को उड़ने लगे, हिंसक पशु घूमने लगे । जाओ, अब रुकना तुम्हें ठीक नहीं ।

२. सर्व-पश्चिमः—सर्वेषां पश्चिमः; पश्चिमः—पश्चात् भवः + डिमच् (अग्रादि पश्चाड्डिमच् वा० ४. २. ६८), 'अन्तिम' ।

लक्ष्मण—(हाथ जोड़कर) लक्ष्मण का यह अन्तिम प्रणाम है । इसे सावधान होकर स्वीकार कीजिए ।

३. अवहिता—अव + धा + क्त + टाप् (दधातेर्हिः पा० ७. ४. ४२) ।

सीता—मैं तो सदैव सावधान हूँ ।

४. लक्ष्मण—भाभी जी से प्रार्थना है—

अन्वयः—आर्यं मित्रं बान्धवान् वा स्मरन्त्या देव्या शोकात् आत्मा मृत्यवे न उपनेयः । सा इयं गर्भ-संस्था इक्ष्वाकूणां सन्ततिः यत्नतः रक्षणीया ।

श०—उपनेयः—पास लाने योग्य । गर्भ-संस्था—गर्भ में स्थित ।

सीता—अप्पडिहदवअणो खु सोमित्ती। [अप्रतिहत-वचनः खलु सौमित्रिः।][1]

लक्ष्मणः—इयमपरा विज्ञापना।[2]

सीता—का अवरा ? [काऽन्या ?][3]

लक्ष्मणः—ज्येष्ठस्य भ्रातुरादेशादानीय विजने वने।
परित्यक्तासि देवि ! त्वं दोषमेकं क्षमस्व मे॥ २०॥

सीता—(ससंभ्रमम्) जेट्ठवअणाणुवत्ति तुमेत्ति परितोसकाले को दोसो आसंकीअदि ? [ज्येष्ठ-वचनानुवर्ती त्वमिति परितोष-काले को दोष आशङ्क्यते ?][4]

टि०—मृत्यवे नोपनेयः—'आत्महत्या न कर लेना'। इक्ष्वाकूणां सन्ततिः—इक्ष्वाकु नाम का राजा सूर्यवंश का संस्थापक था। वह मनु वैवस्वत का पुत्र था। ऐसे प्रतापी राजा की सन्तान की रक्षा करना उचित ही है।

हिन्दी—भाई जी, सखियों तथा बान्धवों का स्मरण करती हुई आप शोकवश आत्म-हत्या न कर लें। इक्ष्वाकु-कुल की सन्तान की, जो तुम्हारे गर्भ में वर्तमान है, यत्न से रक्षा करना। [१६]

१. अप्रतिहत-वचनः—अप्रतिहतं वचनं यस्य सः (बहु०), 'जिसका वचन विफल नहीं होता।' खलु—निश्चयपूर्वक। सौमित्रिः—सुमित्रायां भवः + अण् (इञ् वा), 'सुमित्रा का पुत्र अर्थात् लक्ष्मण'।

सीता—लक्ष्मण की बात तो टाली नहीं जा सकती।

२. लक्ष्मण—एक प्रार्थना और है—

३. सीता—और क्या ?

अन्वयः—देवि ! ज्येष्ठस्य भ्रातुः आदेशात् आनीय विजने वने परित्यक्ता असि, एकं दोषं मे क्षमस्व।

श०—विजन—निर्जन।

टि०—'विजने—विगतो जनो यस्मात्, 'निर्जन' तस्मिन्। एकं दोषम्—यही मेरा पहला अपराध है; पहला अपराध क्षमा किया जाना चाहिए।

लक्ष्मण—भाई जी की आज्ञानुसार मैं आपको निर्जन वन में लाकर छोड़ रहा हूँ, मेरे इस पहले अपराध को क्षमा कर दें। [२०]

४. परितोष-काले—परितोषस्य काले 'प्रसन्नता के अवसर पर'। तुम बड़े भाई के आज्ञावर्ती हो, यह तो हर्ष का विषय है, इसमें दोष कैसा ?

सीता—तुम बड़े भाई के आज्ञाकारी हो, अतः हर्ष के विषय पर दोष की शंका कैसी ?

लक्ष्मणः—(सप्रदक्षिणं प्रणम्य परिक्रामति)[१]

सीता—(रोदिति)[२]

लक्ष्मणः—(दिशोऽवलोक्य) भो भो लोकपालाः ! शृण्वन्तु भवन्तः—[३]

एषा वधूर्दशरथस्य महारथस्य

सीता—अदि सिलाहणिज्जाइं अक्खराइं सुणीअंदि। [अतिश्लाघनीयान्यक्षराणि श्रूयन्ते।][४]

लक्ष्मणः— *रामाह्वयस्य गृहिणी मधुसूदनस्य।*

सीता—कुदो मे तादिसो भाअधेयो ? [कुतो मे तादृशो भागधेयः ?][५]

लक्ष्मणः—*निर्वासिता पतिगृहात्—*

सीता—(कर्णौ पिदधाति)

लक्ष्मणः— *विजने वनेऽस्मिन्*

एकाकिनी वसति रक्षत रक्षतैनाम् ॥ २१ ॥

---

१. लक्ष्मण—(प्रदक्षिणा तथा प्रणाम कर के घूमता है)।

२. सीता—(रोती है)

३. लोकपालाः !—जाने से पहले लक्ष्मण इन्द्र आदि देवताओं को, जो दिशाओं के स्वामी हैं, आह्वान करके सीता की रक्षा का भार सौंप जाता है।

लक्ष्मण—(दिशाओं को देखकर) रेरे लोकपालो ! सुनिए।

अन्वयः—एषा महारथस्य दशरथस्य वधूः,रामाह्वस्य मधुसूदनस्य गृहिणी, पति-गृहात् निर्वासिता, एकाकिनी अस्मिन् विजने वने वसति, एनां रक्षत।

श०—महारथः—महान् योधा। आह्वय—नाम।

टि०—महारथस्य— 'महान् रथो यस्य स महारथः, तस्य। देखिए,

एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेयः स महारथः॥

हिन्दी—यह महापराक्रमी योद्धा दशरथ की पतोहू है।

४. सीता—बड़े सुन्दर अक्षर सुनाई पड़े हैं।

रामाह्वयस्य—राम इति आह्वयो यस्य सः; 'राम नाम का।' आह्वय-आ + √ह्वे १पर० + श, 'नाम'; मधुसूदनस्य—मधु (तन्नामासुरं) सूदयति मधुसूदनः; मधु + सूद् + ल्युट्; मधु नामक असुर का संहार-कर्ता, यह विष्णु का उपनाम है। श्रीरामचन्द्र विष्णु के अवतार थे। अतः उन्हें मधुसूदन कहा गया है।

लक्ष्मण—रामनाम मधुसूदन (भगवान् विष्णु) की पत्नी है।

५. भागधेयः—भाग + धेय; भाग, रूप, नाम आदि शब्दों के आगे धेय

सीता—(गर्भं दर्शयति)[1]

लक्ष्मणः—एनामपि भगवतीम् आर्यायाः कृते विज्ञापयामि—[2]

जात-श्रमां कमल-गन्ध-कृताधिवासैः
काले त्वमप्यनुगृहाण तरङ्ग-वातैः।
देवी यदा च सवनाय विगाहते त्वां
भागीरथि ! प्रशमय क्षणमम्बु-वेगम्॥ २२ ॥

प्रत्यय जोड़ा जाता है परन्तु अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। देखिए,

"दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः" इत्यमरः।

सीता—ऐसे भाग्य मेरे कहाँ ?

लक्ष्मण—पति-गृह से निकाली गई है।

पिदधाति—अपि + √धा ३ उभय० + लट्; अपि और अव के अ का विकल्प से लोप हो जाता है (वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः)।

सीता—(कान मूँद लेती है)

लक्ष्मण—इस निर्जन वन में वे अकेली हैं, आप सब उनकी रक्षा करें। [२१]

१. सीता—(गर्भ दिखाती है)

२. भगवतीम्—भगवती शब्द से अभिप्राय गंगा नदी से है।

लक्ष्मण—इनके लिए भगवती भगीरथी से भी प्रार्थना करता हूँ—

अन्वयः—भागीरथि ! जात-श्रमां कमल-गन्ध-कृताधिवासैः तरङ्ग-वातैः काले त्वम् अपि अनुगृहाण। यदा च देवी सवनाय त्वां विगाहते क्षणं अम्बु-वेगं प्रशम।

श०—जात-श्रम—परिश्रान्त। अधिवासः—सुगन्ध। वातः—वायु। कालः—थकान का समय। अनुगृहाण—कृपा करना। सवनः—स्नान। विगाहते—डुबकी लगाती है।

टि०—जात-श्रमाम्—जातः श्रमो यस्याः सा; 'परिश्रान्त', ताम्। कमल-गन्ध-कृताधिवासैः—कमलानां गन्धः, कमलगन्धः तेन कृतः अधिवासो येषु, 'कमलों की गन्ध से सुगन्धित', तैः। काले—थकान के समय। अनुगृहाण—अनु + √ग्रह् ९ उभय० लोट् 'दया करो।' सवनाय—√सु ५ उभय० + ल्युट् (नपुं०), 'यज्ञ का अंग-रूप स्नान'। देखिए,

'सवनं त्वध्वरे स्नाने सोमनिर्दलनेऽपि च।' इति मेदिनी।

विगाहते—वि + √गाह् १ आ० 'स्नान करना' + लट्; 'स्नान के लिए प्रवेश करती है'। अम्बु-वेगम्—अम्बुनो वेगः, 'जल का वेग', तम्। प्रशम—

ये केचिदत्र मुनयो निवसन्त्यरण्ये
विज्ञापयामि शिरसा प्रणिपत्य तेभ्यः।
स्त्रीत्युज्झितेत्यशरणेति कुलागतेति
देवी सदा भगवतीत्यनुकम्पनीया ॥ २३ ॥
एषोऽञ्जलिर्विरचितो वन-देवतानां
विज्ञापनं क्षणमिमामवधारयन्तु।
सुप्ता प्रमाद-वशगा विषमस्थिता वा
यत्नादियं भगवतीभिरवेक्षणीया ॥ २४ ॥*

प्र + √शम् ४ पर० 'शान्त होना', लोट् 'शान्त करना'।

हिन्दी—जब ये थक जायें, तब, हे गंगे! ऐसे अवसर पर लहरों की हवा के झोंकों से, जो कमलों की सुगन्ध से सुवासित हों, कृपा करना; जब भाभी जी स्नान के लिए तुम में डुबकी लगावें, तब क्षण भर अपने जल के वेग को थाम लेना। [२२]

अन्वयः—ये केचिद् मुनयः अत्र अरण्ये निवसन्ति तेभ्यः शिरसा प्रणिपत्य विज्ञापयामि—स्त्री इति, उज्झिता इति, अशरणा इति, कुलागता इति, भगवती इति देवी सदा अनुकम्पनीया।

श०—प्रणिपत्य—प्रणाम करके।

टि०— उज्झिता—√उज्झ् ६ पर० 'छोड़ना' + क्त + टाप्, 'परित्यक्त'। कुलागता—कुलादागता, 'कुलीन'। अशरणा—नास्ति शरणं यस्याः सा।

हिन्दी—जो-जो मुनि यहाँ वन में रहते हैं, उन-उनसे मैं शिर झुकाकर निवेदन करता हूँ—यह अबला है, त्याग दी गई है, निःसहाय है, कुलीन है, (राम की) पूजनीय रानी है, सदैव दया-भाव रखें [२३]

अन्वयः—एषः अञ्जलिः वन-देवतानां विरचितः, इमां विज्ञापनां क्षणम् अवधारयन्तु, सुप्ता प्रमाद-वशगा विषम-स्थिता वा इयं भगवतीभिः यत्नाद् अवेक्षणीया।

श०—अवधारयन्तु—सावधान होकर सुनें। प्रमादः—असावधानता। विषम-स्थिता—आपद्ग्रस्त। अवेक्षणीयः—रक्षणीय।

टि०—वनदेवतानाम्—वनस्य देवता वनदेवता, तेषाम्। 'वन के स्वामी देवताओं का'। अवधारयन्तु—अव + √धृ १० उभय० + लोट् 'दत्तचित्त होना'। प्रमाद-वशगा—प्रमादस्य वशं गता, 'असावधानता के वश में हुई; प्रमादः—प्र + √मद् ४ पर० + घञ्। विषम-स्थिता—विषमे (आपदि) स्थिता, 'विपद्ग्रस्त'। अवेक्षणीया—अव + √ईक्ष् १ आ० + अनीय 'रक्षणीय'।

भो भो हिंस्रा भूमिरेषा भवद्भि-
र्वर्ज्यो देशो न प्रवेश्यः परेषाम् ।
मृग्यो मृग्यो विप्रवासे सखीनां
यूयं सख्यो मा क्षणं मुञ्चतैनाम् ॥ २५ ॥*

सख्यो नद्यः स्वामिनो लोकपाला मातर्गङ्गे ! भ्रातरश्शैलराजाः !
भूयो भूयो याचते लक्ष्मणोऽयं यत्नाद्रक्ष्या राजपुत्री गतोऽहम् ॥ २६ ॥

[प्रणम्य निष्क्रान्तः

हिन्दी—मैं वन-देवियों को हाथ जोड़ता हूँ, वे मेरी यह प्रार्थना, क्षण भर, दत्तचित्त हो सुनें—ये (सीता) सो रही हों, असावधान हों, अथवा विपद्ग्रस्त हों, आप देवियाँ इनकी यत्नपूर्वक रक्षा करें। [२४]

अन्वयः—भोः भोः हिंस्राः ! एषा भूमिः भवद्भिः वर्ज्या, परेषाम् (अयं) देशः न प्रवेश्यः । मृग्यः मृग्यः ! सखीनां विप्रवासे यूयम् (एव) सख्यः एनां क्षणं मा मुञ्चत ।

टि०—वर्ज्या— √वृज् ७ पर० 'त्यागना' + ल्यप् + टाप्, 'त्यागनीय' । परेषाम् अयं देशः न प्रवेश्यः—दूसरों का यह देश; अथवा आपके विरुद्ध स्वभाव वाले अहिंसक जीव-जन्तु तथा तप में तत्पर तपस्वियों के देश (=स्थान, तपोवन) में प्रवेश न करना होगा। विप्रवासः—'वियोग'; वि + प्र + √वस् + घञ् ।

हिन्दी—रे रे हिंसक जीवो ! यह स्थान आपको छोड़ देना होगा, दूसरों के (अथवा आपसे भिन्न स्वभाव वालों के) स्थान में तुम्हें प्रवेश न करना होगा। हे हरिणियो ! सखियों से बिछुड़ जाने पर तुम ही (सीता की) सखियाँ हो; इन्हें क्षण भर छोड़कर मत जाना। [२५]

अन्वयः—सख्यः नद्यः ! स्वामिनः लोकपालाः ! मातः गङ्गे ! भ्रातरः शैल-राजाः ! राजपुत्री यत्नाद् रक्ष्या(इति)अयं लक्ष्मणः भूयः भूयः याचते, अहं गतः ।

टि०—शैल-राजाः—शैलानां राजा, 'पर्वत-श्रेष्ठ', बहु० । तत्पु० समास के अन्त में राजन् 'राज' में बदल जाता है (राजाहःसखिभ्यष्टच् पा० ४. ५. ९१) । इसी प्रकार प्रियसखः, चिरन्तनसखः आदि । यही भाव नीचे देखिए,

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल,
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामेषः प्रणामाञ्जलिः । भर्तृहरि : वैराग्य०

हिन्दी—हे सखी नदियो ! हे स्वामी लोकपालो ! हे माता गंगे ! हे भाई पर्वत-श्रेष्ठो ! राजपुत्री (जानकी) की रक्षा करना, यह लक्ष्मण बार-बार प्रार्थना करता है; मैं जा रहा हूँ। [२६]

[प्रणाम करके प्रस्थान

सीता—कहं सच्चं एव मं एआइणीं परिच्चइअ गदो लक्खणो। (विलोक्य) हद्धी हद्धी! अत्थमिदो सूरो, सरेण वि लक्खणो ण दीसइ हरिणा वि सअं आवासं आअन्ति, उड्डीणा पक्खिणो, संचरंति सापदा, आच्छादीअदि अंधआरेण दिट्ठी, णिमाणुसं महारण्णं, किं करेमि मंदभाआ, कीस अरण्णाहिं पव्वजमि एआइणी, अदेस असलाका ति णं मि मि (?) किंणु खु मए पापं किदं, जस्स दाणिं एव विरहं सव्वहा अणुभाविदोम्हि, कहं देहवितोनलि (?) कहं दाव लक्खणणिउत्ता वणदेवदा....,कहं दे राहवकुलक्कमागदा वसिष्ठवंमीइप्पमुहा महाप्पहावा महेसिणो ते दाणि मं परित्ता अ अभिदेहिति (?) [कथं सत्यमेव मामेकाकिनीं परित्यज्य गतो लक्ष्मणः। (विलोक्य) हा धिक्, हा धिक्! अस्तमितः सूर्यः, स्वरेणापि लक्ष्मणो न दृश्यते, हरिणा अपि स्वकमावासमायान्ति, उड्डीनाः पक्षिणः, सञ्चरन्ति श्वापदाः, आच्छाद्यतेऽन्धकारेण दृष्टिः, निर्मानुषं महारण्यम्, किं करोमि मन्दभाग्या, कीदृशमरण्ये प्रव्रजाम्येकाकिनी......किंनु खलु मया पापं कृतम्, यस्येदानीमेव विरहं सर्वथाऽनुभावितास्मि, कथं......कथं तावल्लक्ष्मणनियुक्ता वन-देवता...कथं ते राघव-कुल-क्रमागता वसिष्ठ-वाल्मीकि-प्रमुखा महा-प्रभावा महर्षयः, त इदानीं मां परित्राय...

(इति मोहं गच्छति)

अस्तमितः—अस्त हो गया। निर्मानुषम्—निर्गताः मानुषाः यस्मात् तत्, 'निर्जन'। अनुभाविता अनु + भू + णिच् + क्त + टाप्, 'अनुभव कराई गई'।

वसिष्ठ-वाल्मीकि-प्रमुखाः—वसिष्ठ सूर्यवंशी राजाओं का कुल-पुरोहित था। एक जन्म में वह ब्रह्मा का पुत्र था, तथा दूसरे जन्म में मित्रावरुण का। वैदिक साहित्य में वह कई ऋचाओं के द्रष्टा के रूप में हमारे सामने आता है। विशेषकर ऋग्वेद के सातवें मण्डल में उसकी अनेक ऋचाएँ हैं। वाल्मीकि—वाल्मीकि का नाम रामायण द्वारा अमर हो चुका है। वह ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ परन्तु कुसंगत से डाकू बन गया। इसके पश्चात् एक मुनि के उपदेशवश उसने 'मरा' शब्द का जाप वर्षों तक किया। उसी स्थान पर वह जाप में लीन हुआ, बांबी का टीला-सा बन गया और वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सीता—क्या सचमुच लक्ष्मण मुझे अकेली छोड़कर चला गया? (देखकर) हाय! बड़ा शोक है! सूर्य डूब गया, लक्ष्मण की आवाज़ भी सुनाई नहीं देती, हरिण भी अपने-अपने वासस्थानों को जाने लगे, पक्षी उड़ गये, हिंसक जीव विचरने लगे, आँखों के आगे अँधेरा-ही-अँधेरा छा गया, महारण्य निर्जन हो गया, मैं अभागिन क्या करूँ?

(ततः प्रविशति वाल्मीकिः)

वाल्मीकिः—(ससम्भ्रमम्)

आकर्ण्य जह्नु-तनयां समुपागतेभ्यः
सन्ध्याभिषेक-विधये मुनि-दारकेभ्यः।
एकाकिनीमशरणां रुदतीमरण्ये
*गर्भातुरां स्त्रियमतित्वरयागतोऽस्मि ॥ २७ ॥**

तद्यावत्तामेवान्वेष्यामि। (अन्वेषं नाटयति)[1]

वन में अकेली कैसे घूमूँ ?...मैंने क्या पाप-कर्म किया था, जिसका फल मुझे अब विरह सहना पड़ रहा है ? कैसे....कैसे लक्ष्मण द्वारा नियुक्त किये गये वन-देवता,....कैसे वे राघव-कुल-परम्परागत वसिष्ठ-वाल्मीकि आदि प्रभावशाली महर्षि, मेरी अब रक्षा करें....

(वाल्मीकि का प्रवेश)

१. वाल्मीकि—(व्याकुलता के साथ)

अन्वयः—सन्ध्याभिषेक-विधये जह्नु-तनयां समुपागतेभ्यः मुनि-दारकेभ्यः एकाकिनीम् अरण्ये रुदतां गर्भातुरां स्त्रियम् आकर्ण्य अतित्वरया आगतः अस्मि।

श०—अभिषेक—स्नान। जह्नु-तनया—गंगा। एकाकिनी—असहाय। दारक—पुत्र। अशरण—रक्षक-हीन। गर्भातुर—गर्भभार से परेशान। त्वरा—शीघ्रता।

टि०—सन्ध्याभिषेक-विधये—सन्ध्याया अभिषेकः, तस्य विधये, 'साँझ के स्नान-कर्म के लिए'। जह्नु-तनयाम्—सुहोत्र का पुत्र जह्नु प्राचीन समय में एक राजा हुआ है। उसने यज्ञ का अनुष्ठान कर रखा था, जब भगीरथ स्वर्गलोक से गंगा को नीचे लाये और पाताल-लोक को ले चले। पाताल को जाते समय गंगा ने जह्नु की युद्ध-भूमि को जल में डुबो दिया। इस पर जह्नु ने बिगड़कर गंगा का सारा जल पी डाला। परन्तु ऋषि-मुनियों और देवताओं के प्रसन्न करने पर जह्नु ने गंगा-प्रवाह को अपने कानों में से बाहर निकालना स्वीकार कर लिया। गंगा को इसलिए उसकी पुत्री अर्थात् जह्नु-तनया कहा जाता है। इसीलिए गंगा का नाम जाह्नवी, जह्नु-कन्या, जह्नु-सुता, आदि पड़ा।

हिन्दी—सन्ध्या के स्नान-कर्म के लिए गंगा पर आये मुनि-पुत्रों से सुनकर कि वन में कोई असहाय अशरण गर्भ-पीड़ित स्त्री रो रही है, मैं बड़ी शीघ्रता से आया हूँ। [२७]

१. हिन्दी—तो पहले उसी को ढूँढ़ता हूँ।

(ढूँढ़ने का अभिनय करता है)

सीता—(प्रत्यागम्य) को एस मं विज्जई। (विचिन्त्य) ण कोवि, आणत्तिकरलक्खणविण्णत्तिआ अणुच्चरन्ति भअवई भाईरई तरंगाए मामणुगह्णादि ? [क एष मां वीजते ? (विचिन्त्य) न कोऽपि, आज्ञप्तिकर-लक्ष्मण-विज्ञप्त्या अनुचरन्ती भगवती भागीरथी तरङ्गैर्मामनुगृह्णाति।][1]

वाल्मीकिः—इयमन्धकार-संरुद्धतया दृष्टि-सञ्चारस्य न दृश्यते, अतः शब्दापयिष्ये। अयमहं भोः।[2]

सीता—(सहर्षम्) वच्छ लक्खण पडिणिउत्तोसि ? [वत्स लक्ष्मण ! प्रतिनिवृत्तोऽसि ?][3]

वाल्मीकिः—नाहं लक्ष्मणः।[4]

सीता—(अवगुण्ठं नाटयति) अच्चाहिदं, अण्णो एसो को वा परपुरुसो, कहं दाणिं वारइस्सं महाहिदं। (विचिन्त्य) एव्वम्—इत्थिआहं एआइणी अ। [अत्याहितम् ! अन्य एष को वा पर-पुरुषः ? कथमिदानीं वारयिष्यामि महाऽहितम् ? (विचिन्त्य) एवम्—स्त्री अहमेकाकिनी च।[5]

---

१. प्रत्यागम्य—सचेत होकर।

प्रत्यागम्य—प्रति + आ + √गम् + ल्यप्, 'सचेत होकर'। आज्ञप्ति-कर-लक्ष्मण-विज्ञप्त्या—आज्ञप्तिकरः (आज्ञप्तिं करोतीति) यो लक्ष्मणः तस्य विज्ञप्त्या, 'प्रार्थना करने वाले लक्ष्मण की याचना अनुसार'। अनुचरन्ती—अनु + √चर् + शतृ + ङीप्, 'अनुसरण करती हुई'।

सीता—मुझे कौन हवा कर रहा है ? (सोचकर) नहीं, कोई नहीं। लक्ष्मण ने (मेरी रक्षा के लिए) सबसे प्रार्थना की थी, उसी की याचना अनुसार भगवती गंगा अपनी तरंगों द्वारा मुझ पर दया दिखा रही हैं।

२. अन्धकार-संरुद्धतया—अन्धकारेण संरुद्धः, तस्य भावस्तत्ता, तया, 'अन्धकार के कारण रुक जाने से'। दृष्टि-सञ्चारस्य—दृष्टेः सञ्चारः, तस्य, 'दृष्टि-प्रसार का'। शब्दापयिष्ये— √शब्द् + णिच् + लृट् 'पुकारता हूँ'।

वाल्मीकि—अन्धकार के कारण दृष्टि रुक जाने से वह दिखाई नहीं पड़ती। अतः पुकारता हूँ। यह मैं हूँ !

३. सीता—(सहर्ष) वत्स लक्ष्मण ! तुम लौट आये ?

४. वाल्मीकि—लक्ष्मण नहीं, मैं हूँ।

५. अत्याहितम्—महाभीति-सूचक अव्यय; अतीवाधीयते स्म मनसि, √धा का 'हि' में परिवर्तन हो गया। देखिए,

"अत्याहितं महाभीतिः कर्म जीवानपेक्षि च।" इत्यमरः

सीता—(घूँघट का अभिनय करती है) हाय ! दैया ! यह और

वाल्मीकिः—एष स्थितोऽस्मि। वत्से ! तवाप्यलं पर-पुरुष-शङ्कया, दिवसावसान-सवनाय भागीरथीं समुपास्य प्रतिनिवृत्तेभ्यो मुनि-दारकेभ्यस्त्वद्वृत्तान्तमुपलभ्य तपोधनोऽहं त्वामेवाभ्युपपत्तुमुपागतः। पृच्छामि चात्रभवतीम्[1]—

धर्मेण जित-संग्रामे रामे शासति मेदिनीम्।
कथ्यतां कथ्यतां वत्से ! विपदेशा कुतस्तव ॥ २८॥

सीता—तदो एव्व पुण्णचंदादो मे असणिपादो। [तत एव पूर्णचन्द्रान्मेऽशनि-पातः][2]

पराया आदमी कौन आ धमका ? अब इस बला को कैसे टालूँ ! (सोचकर) ऐसे सही—मैं अबला हूँ, और असहाय हूँ।

१. दिवसावसान-सवनाय—दिवसस्य अवसाने (सायंकाले) सवनाय, 'सायंकाल के स्नान के लिए'। समुपास्य—सम्+उप+√आस्+ल्यप्, 'सेवा करके'। प्रतिनिवृत्तेभ्यः—प्रति+नि+√वृत्+क्त, पञ्चमी, 'लौटे हुओं से'। अभ्युपपत्तुम्—अभि+उप+√पद्+तुमुन्, 'अनुग्रह करने के लिए, अर्थात् अनिष्ट को दूर कर अभीष्ट को पूरा करने के लिए'। देखिए, "अभ्युपपत्तिरनुग्रहः।" इत्यमरः; "द्वे हितसंपादनाहितनिवारणप्रवृत्तेः।"

वाल्मीकि—लो, यह रहा मैं, पुत्री ! पर-पुरुष की शंका को दूर करो। सायंकालीन स्नान के लिए गंगानदी की सेवा से निपटकर लौटे हुए मुनि-पुत्रों से तुम्हारा वृत्तान्त जानकर मैं तपस्वी तुम्हें ही सहायता देने के लिए आया हूँ। और तुमसे पूछता हूँ—

अन्वयः—वत्से ! धर्मेण जित-संग्रामे रामे मेदिनीं शासति कुतः तव एषा विपद् (इति) कथ्यताम्।

*श*०—मेदिनी—पृथ्वी। शासति—राज्य करने पर।

*टि*०—जित-संग्रामे–जितः संग्रामो येन सः, 'जिसने युद्ध जीत लिया है', तस्मिन्। मेदिनी मेदमस्त्यस्याम्; जब मधु और कैटभ दैत्य मारे गये, तब पृथ्वी उनकी मेदा से लथपथ हो गई। इसलिए पृथ्वी मेदिनी कहलाने लगी। शासति—√शास् २ पर० + शतृ, सप्तमी। कहने का तात्पर्य यह कि राम के धर्म-राज्य में अधर्म का काम कैसा ? तुझ पर विपत्ति कैसी ?

हिन्दी—पुत्री ! धर्म द्वारा युद्ध के विजेता राम के पृथ्वी पर धर्मपूर्वक राज्य करते हुए तुम पर यह विपत्ति कहाँ से आई, बताओ तो सही। [२८]

२. अशनि-पातः—अशनेः पातः, 'वज्रपात'।

वाल्मीकिः—कामं रामादेव हि विपत्तिमुपागता ।[1]

सीता—अह इं ! [अथ किम् ?][2]

वाल्मीकिः—यदि त्वं वर्णाश्रम-व्यवस्था-भूतेन महाराजेन निर्वासितासि तत् स्वस्ति भवत्यै, गच्छाम्यहम् । (परिक्रामति)[3]

सीता—अहं विण्णवेमि । [अथ विज्ञापयामि ।][4]

वाल्मीकिः—कथय ।[5]

सीता—जइ रहुवरेण णिव्वासिदेत्ति भअदा णाणुकंपणीआ, एसा उण गब्भगदा रहुसअरदिलीपदसरहपहुदीणं ताइसाणं संतदित्ति दाणिं पडिपालणीआ । [यदि रघुवरेण निर्वासितेति भवता नानुकम्पनीया, एषा पुनर्गर्भ-गता रघु-सगर-दिलीप-दशरथ-प्रभृतीनां तादृशानां सन्ततिरिति इदानीं प्रति-पालनीया ।][6]

सीता—उसी पूर्ण चन्द्रमा से यह वज्रपात हुआ है ।

१. कामम्—सचमुच; देखिए,

"कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम् ।" इत्यमरः

वाल्मीकि—तो सचमुच राम से ही तुम्हें यह दुःख मिला है ।

२. सीता—और क्या ?

३. वाल्मीकि—यदि वर्णाश्रमधर्म के व्यवस्थापक राम ने तुम्हें निकाला है, तो तुम्हारा कल्याण हो, मैं जाता हूँ । [जाने लगता है

४. सीता—मेरी प्रार्थना है ।

५. वाल्मीकि—कहो ।

६. गर्भ-गता—गर्भं गता, 'गर्भवती' । रघु-सगर-दिलीप-दशरथ-प्रभृतीनाम्—रघु, सगर, दिलीप और दशरथ सूर्य-वंश के प्रतापी राजा हुए हैं । उनके नाम गिना कर सीता उन्हीं के वंश से अपना सम्बन्ध बताती हुई ऐसे यशस्वी कुल की गर्भस्थित सन्तान की रक्षा करना चाहती हैं । रघु—रघु एक प्रतापी राजा हुआ है उसने सिंहासन पर बैठते ही दिग्विजय आरम्भ कर दी और अनेक राजाओं को जीता । इसके पश्चात् उसने विश्वजित् यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिसमें उसने अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को दान में दे दिया । सगर—यह भी सूर्यवंशी राजा हुआ है । यह बाहु का पुत्र था । सुमति पत्नी द्वारा इसे ६०,००० पुत्र प्राप्त हुए । इसने ९९ यज्ञ समाप्त कर लिए, परन्तु जब १००वाँ यज्ञ आरम्भ किया, तब इन्द्र ईर्ष्यावश इसका घोड़ा चुराकर पाताल-लोक ले गया । इस पर सगर ने अपने ६०,००० पुत्रों को घोड़े की खोज में भेजा । ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे पाताल तक जा पहुँचे । उन्होंने

वाल्मीकिः—(प्रतिनिवृत्य) कथमिक्ष्वाकु-वंशमुदाहरति, तदनुयोक्ष्ये। वत्से ! किञ्च दशरथस्य वधूः ?[१]

सीता—जं भअवं आणवेदि। [यद् भगवानाज्ञापयति।][२]

वाल्मीकिः—किञ्च विदेहाधिपतेर्जनकस्य दुहिता ?[३]

सीता—अह इं ? [अथ किम् ?][४]

वाल्मीकिः—किञ्च सीता ?[५]

वहाँ कपिल मुनि के पास वह घोड़ा पाया और मुनि को ही चोर ठहराया। मुनि ने दण्ड-स्वरूप उन सबको भस्म कर दिया। कई हजार वर्षों के पश्चात् राजा भगीरथ स्वर्लोक से गंगा नदी को पाताल तक ले आये और तब गंगाजल के प्रभाव से उन ६०,००० पुत्रों की भस्म पवित्र हो गई और उनकी आत्माएँ स्वर्ग जा पहुँचीं। दिलीप—यह भी सूर्यवंशी राजा हुआ है। कालिदास ने इसे रघु का पिता दिखाया है। इसके कोई सन्तान नहीं थी। अतएव यह अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ कुल-पुरोहित वसिष्ठ के पास उपाय के लिए गया। मुनि ने नन्दिनी गाय की सेवा ही उपाय बताया। २१ दिन की अथक सेवा करने पर गाय ने प्रसन्न होकर वर दिया जिससे रघु का जन्म हुआ। दशरथ—राम के पिता का नाम प्रसिद्ध ही है।

सीता—यदि राम द्वारा देश से निकाल दिये जाने के कारण मैं आपके लिए दया की पात्र नहीं हूँ तो रघु, सगर, दशरथ आदि जैसे प्रभावशाली राजाओं की मेरे गर्भ में सन्तान वर्तमान है, इसलिए तो अब रक्षा करनी चाहिए।

१. इक्ष्वाकु-वंशम्—इक्ष्वाकु मनु वैवस्वत का पुत्र था और अयोध्या के सूर्य-वंश का संस्थापक था। अनुयोक्ष्ये—अनु + √युज् ७ उभय० लृट् 'पूछता हूँ'। परि + √युज् का अर्थ भी 'पूछना' होता है।

वाल्मीकि—(लौटकर) हैं ! यह तो इक्ष्वाकु-वंश से अपना सम्बन्ध बता रही है, तो पूछूँ—पुत्री ! क्या तुम दशरथ की पुत्र-वधू हो ?

२. सीता—जो आपकी आज्ञा (अर्थात् जो आप समझें।)

३. विदेहाधिपतेः—विगतो देहो यस्य सः विदेहः, 'देहाभिमान रहित'; ['विदेहः' से तात्पर्य 'जनक' और उसके जनपद दोनों से है। जनपद-वासी भी 'विदेहाः' कहलाये।] तस्य अधिपतेः, 'विदेह-राज के'।

वाल्मीकि—और विदेह-राज जनक की पुत्री ?

४. सीता—जी, हाँ।

५. वाल्मीकि—और सीता ?

सीता—णहि सीदा, भअवं मंदभाइणी। [नहि सीता, भगवन्! मन्दभागिनी!][1]

वाल्मीकिः—हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। किंकृतोऽयमत्रभवत्याः प्रासाद-तलादधोऽवतारः।[2]

सीता—(लज्जां नाटयति)[3]

वाल्मीकिः—कथं लज्जते? भवतु, योग-चक्षुषाऽहमवलोकयामि। (ध्यानमभिनीय) वत्से! जनापवाद-भीरुणा रामेण केवलं परित्यक्ता, न तु हृदयेन। निरपराधा त्वमस्माभिरपरित्याज्यैव। एह्याश्रमपदं गच्छावः।[4]

सीता—को णु तुमं? [को नु त्वम्?][5]

वाल्मीकिः—श्रूयताम्[6]

सोऽहं चिरन्तन-सखा जनकस्य राज्ञ-
स्तातस्य ते दशरथस्य च बाल-मित्रम्।
वाल्मीकिरस्मि विसृजान्य-जनाभिशङ्कां
*नान्यस्तवायमबले! श्वशुरः पिता च॥ २६॥**

---

१. सीता—सीता नहीं, भगवन्! अभागिन।

२. किंकृतः—किंकृते, 'किस कारण'। अवतारः—उतार, अधःपतन।

वाल्मीकि—हाय! मुझ अभागे का सर्वनाश हो गया। किस कारण राजभवन से तुम्हारा अधःपतन हुआ?

३. सीता—(लज्जा का अभिनय करती है।)

४. योग-चक्षुषा—योग एव चक्षुः, तेन (मयूरव्यंसकादि)।

वाल्मीकि—क्या लजा रही हो? अच्छा, योग-दृष्टि से देखता हूँ। (ध्यान का अभिनय करके) पुत्री! लोक-निन्दा के भय से राम ने केवल छोड़ ही दिया है, हृदय से नहीं निकाला। तुम निरपराध हो, मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। आओ, आश्रम को चलें।

५. सीता—आप हैं कौन?

६. वाल्मीकि—सुनो,

अन्वयः—अबले! सः अहं राज्ञः जनकस्य ते तातस्य चिरन्तन-सखा, दशरथस्य च बाल-मित्रम्, वाल्मीकिः अस्मि, न अन्यः, अन्य-जनाभिशङ्कां विसृज, तव अयं श्वशुरः पिता च!

श०—चिरन्तन-सखा—पुराना मित्र। बाल-मित्र—लंगोटिया।

टि०—चिरन्तन-सखा—चिरन्तनः सखा (राजाहःसखिभ्यष्टच् पा० ४. ५. ९१; शुद्ध रूप होगा चिरन्तन-सखः। (देखो पृष्ठ ३४) देखिए, "पुरातन-

सीता—भअवं वंदामि। [भगवन्! वन्दे।][1]

वाल्मीकिः—वीर-प्रसवा भव, भर्तुश्च पुनर्दर्शनमाप्नुहि।[2]

सीता—तुमं लोअस्स वम्मीई, मम उण तादो एव्व, ता गच्छ सअं अस्समपअं। (गङ्गामवलोक्याञ्जलिं बद्ध्वा) भअवइ भाईरइ, जइ अहं सोत्थिणा गब्भं अभिणिउत्तोमि तदा तव दिणे दिणे सुठ्ठु उच्छाए कुन्दमालाए उवहारं कर-इस्सम्। [त्वं लोकस्य वाल्मीकिः मम पुनस्तात एव, तद्गच्छ स्वकमाश्रमपदम्।—भगवति भागीरथि! यद्यहं सुखेन गर्भमभिनिर्वर्तयामि तदा तव दिने दिने सुष्ठु प्रथितया कुन्दमालयोपहारं करिष्यामि।][3]

वाल्मीकिः—अत्यन्त-दुःख-सञ्चारोऽयं मार्गः, विशेषतस्त्वां प्रति, तद्यथा यथा मार्गमादेशयामि तथा तथा समागन्तव्यम्।[4]

चिरन्तनाः" इत्यमरः। चिरन्तनः—चिरे भवम्; चिरं+ट्युल्+तुट् च। (सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च। पा० ४. ३. २३) अन्य-जनाभिशङ्काम्—अन्यस्य जनस्य अभिशङ्का 'किसी दूसरे पुरुष का डर', ताम्।

हिन्दी—हे अबले! मैं तुम्हारे पिता राजा जनक का पुराना मित्र हूँ, दशरथ का बाल-मित्र हूँ, वाल्मीकि हूँ, कोई अपरिचित नहीं, किसी दूसरे की आशंका छोड़ो, मैं तुम्हारा ससुर और पिता भी हूँ। [२६]

१. सीता—भगवन्! प्रणाम करती हूँ।

२. वीर-प्रसवा—वीरः प्रसवो यस्याः सा, 'वीर-माता'।

वाल्मीकि—वीर-माता बनो और पति के फिर दर्शन पाओ।

३. सुखेन—अनायास, बिना कठिनाई के। अभिनिर्वर्तयामि—अभि + निर् + √वृत् + लट्, 'निपट जाऊँ'। कुन्दमालयोपहारं करिष्यामि—यह अंश सारे नाटक में बड़े महत्त्व का है। इसी के आधार पर नाटक का नाम कुन्दमाला पड़ा है। कुन्द पुष्प सदैव मिलता है, माघ के महीने में अधिक होता है। देखिए,

कुन्दं तु कथितं माध्यं सदा-पुष्पं च तत्स्मृतम्।

कुन्दं शीतं लघु श्लेष्म-शिरो-रुग्विष-पित्तहृत्॥ भावप्रकाशनिघण्टु

सीता—तुम संसार के लिए वाल्मीकि हो, परन्तु मेरे लिए तो पिता हो, अपने आश्रम को चलो। (गंगा को देखकर हाथ जोड़े) भगवति गंगे! यदि बिना किसी कठिनाई, मैं प्रसव से निपट जाऊँगी तो प्रतिदिन अच्छी गुँथी हुई कुन्दमाला की भेंट किया करूँगी।

४. अत्यन्त-दुःख-सञ्चारः—अत्यन्तं दुःखेन सञ्चारो यत्र सः, अर्थात् 'ऊबड़-खाबड़ (मार्ग)'। विशेषतस्त्वां प्रति—स्त्री होने के नाते ऐसे विषम-स्थल पर चलना-फिरना और भी कठिन है। समागन्तव्यम्—सम् + आ + गम् +

एतस्मिन् कुश-कण्टके लघुतरं पादौ निधत्स्वाग्रतः
शाखेयं विनता नमस्व शनकैर्गर्तो महान् वामतः।
हस्तेनामृश तेन दक्षिण-गतं स्थाणुं समं साम्प्रतं
पुण्येऽस्मिन् कमलाकरे चरणयोर्निर्वर्त्यतां क्षालनम् ॥ ३० ॥

सीता—(यथोक्तं परिक्रामति)

वाल्मीकिः—इक्ष्वाकूणाञ्च सर्वेषां क्रियाः पुंसवनादयः।
अस्माभिरेव पच्यन्ते मा शुचो गर्भमात्मनः ॥ ३१ ॥

तव्य, 'आना चाहिए।'

वाल्मीकि—मार्ग बड़ा ऊबड़-खाबड़ है, विशेषकर तुम्हारे लिए, जैसे-जैसे मैं मार्ग दिखाऊँ, वैसे-वैसे चली आना।

अन्वयः—एतस्मिन् कुश-कण्टके अग्रतः पादौ लघुतरं निधत्स्व, इयं शाखा विनता शनकैः नमस्व; वामतः महान् गर्त्तः, तेन हस्तेन दक्षिण-गतं स्थाणुं आमृश; साम्प्रतं समम्, अस्मिन् पुण्ये कमलाकरे चरणयोः क्षालनं निर्वर्त्यताम्।

श०—अग्रतः—आगे से (अर्थात् पंजे के बल)। लघुतरं—हल्के-हल्के। निधत्स्व—रखना। विनता—बहुत झुकी हुई। वामतः—बाईं ओर। गर्त्तः—गड्ढा। दक्षिण-गतम्—दाईं ओर। स्थाणुः—ठूँठ (बिना पत्तों का सूखा पेड़)। आमृश—सहारा ले लो। समम्—समतल भूमि। कमलाकरः—कमल-सरोवर। क्षालनम्—धोना।'

टि०—कुश-कण्टके—कुशानां कण्टका यत्र तस्मिन्, 'कुश के कांटों वाला(मार्ग)'। अग्रतः—अग्र + तसिल् (पञ्चम्यर्थे तसिल्) 'अगले भाग से'। निधत्स्व—नि + √धा + लोट्, 'रखो'। विनता–विशेषेण नता (नम् + क्त + टाप्), 'बहुत झुकी हुई। नमस्व— √नम् परस्मैपदी है, अतः शुद्ध रूप 'नम' होगा। वामतः—वाम + तसिल्, 'बाईं ओर'। दक्षिण-गतम्—दक्षिणं गतम्, 'दाईं ओर'। स्थाणुम्—तिष्ठतीति स्थाणुः,स्था + णु (स्थो णुः उ० ३. ३७), 'ठूँठ', तम्। आमृश—आ + मृश् ६ पर० लोट् 'थाम लो'। कमलाकरे—कमलानाम् आकरः; 'सरोवर', तस्मिन्। क्षालनम्—√क्षल् १० उभय० 'धोना' + ल्युट्।

हिन्दी—कुश-कांटों से भरे मार्ग पर पैरों के पंजे हल्के-हल्के रखना, यह टहनी बहुत झुकी हुई है, धीरे से झुक जाओ, बाँईं ओर भारी गड्ढा है, इस दाएँ हाथ से ठूँठ को थाम लो, अब समतल भूमि आ गई है, इस पवित्र कमल-सरोवर में दोनों पैर धो डालो। [३०]

सीता—(कहे अनुसार चलती है)

अन्वयः—सर्वेषां च इक्ष्वाकूणां पुंसवनादयः क्रियाः अस्माभिः एव

कौसल्या-पाद-शुश्रूषा-सौख्यं वृद्धासु लप्स्यसे ।
(निर्दिश्य)
पश्य सख्यो भगिन्यश्च तवैता मुनि-कन्यकाः ॥ ३२ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे

इति प्रथमोऽङ्कः

पच्यन्ते, आत्मनः गर्भे मा शुचः ।

श०—पुंसवन—गर्भाधान से तीसरे मास में यह संस्कार किया जाता है। क्रिया—संस्कार। पच्यन्ते—पूरे किये जाते हैं। मा शुचः—शोक मत कर।

टि०—पुंसवनादयः क्रियाः—हिन्दुओं में पुंसवनसंस्कार से लेकर दाह-संस्कार तक १६ संस्कार किये जाते हैं। वाल्मीकि सीता से कहते हैं कि तुम्हारे जो सन्तान होगी, उसके भी संस्कार मैं ही करूँगा, इस विषय में चिन्ता मत कर। पच्यन्ते—पच् + णिच् + लट्; 'पकना, विकसित होना, सफल होना।' देखिए,

सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम्। रघु० ११. ५०
दुखाग्निर्मनसि पुनर्विपच्यमानः। उत्तर० १. ३०

मा शुचः—न माङ् योगे (पा. ६. ४. ७४) से धातु के आदि में लुङ् लकार होने पर भी अट् नहीं हुआ।

वाल्मीकि—सब इक्ष्वाकु-राजाओं के पुंसवन आदि संस्कार हम ही संपन्न करते हैं, अपने गर्भ (-स्थ बालक) की चिन्ता मत कर। [३१]

अन्वयः—कौसल्या-पाद-शुश्रूषा-सौख्यं वृद्धासु लप्स्यसे। एताः मुनि-कन्यकाः तव सख्यः भगिन्यः च।

श०—शुश्रूषा—सेवा। सौख्यम्—आनन्द।

टि०—कौसल्या-पाद-शुश्रूषा-सौख्यम्—कौसल्यायाः पादयोः या शुश्रूषा तत्र यत्सौख्यं तत्, 'कौसल्या की चरण-सेवा का सुख'; सौख्यम्—सुखम् एव सौख्यम्; सुख + ष्यञ्। मुनि-कन्यकाः—मुनीनां कन्यकाः; कन्यकाः—कन्या + कन् (ह्रस्वे पा० ५. ३. ८६) वहु०।

हिन्दी—कौशल्या की चरण-सेवा का सुख तुम्हें वृद्धाओं में मिलेगा। (दिखाकर) देखो, ये मुनि-कन्यायें तुम्हारी सखियाँ और बहनें हैं। [३२]

[सब का प्रस्थान

पहला अंक समाप्त

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो द्वे मुनि-कन्यके)

प्रथमा—हला वेदवदि, दिठ्ठिआ वड्ढसि, सीदाए तव पिअसहीए रामच्चामा दुवे पुत्तआ जाआ। [हला वेदवति ! दिष्ट्या वर्द्धसे, सीतायास्तव प्रियसख्या रामश्यामौ द्वौ पुत्रकौ जातौ ।]

वेदवती—पिअं मे पिअं मे ! किंणामहेआ ? [प्रियं मे प्रियं मे ! किन्नामधेयौ ?]

प्रथमा—जेठ्ठो दाणिं भअवदा कुसेत्ति सद्दाविदो दुदिओ लवोत्ति । [ज्येष्ठ इदानीं भगवता कुश इति शब्दापितो द्वितीयो लव इति ।]

वेदवती—किं समत्था पहि परिब्भमिदुं । [किं समर्थौ पथि परिभ्रमितुम् ?]

प्रथमा—किं समात्थत्ति भणिअदि । [किं समर्थाविति भण्यते ?]

धावन्ति हरिणएहिं जह पडिमल्ला किसोरसीहाणं ।
तह अ तपस्सिणिहिअअं हरंति पिअदंसणा जुअला ॥ १ ॥
[धावति हरिणकैर्यथा प्रतिमल्लं किशोरसिंहानाम् ।
तथा च तपस्विनी-हृदयं हरति प्रिय-दर्शनं युगलम् ॥१॥]

(दो मुनि-कन्याओं का प्रवेश)

१. पहली—सखी वेदवति ! वधाई हो ! तुम्हारी प्रिय-सखी सीता के राम-के-से सुन्दर वर्ण के दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं।

२. वेदवती—अहा ! बड़ी प्रसन्नता हुई ! उनके नाम क्या-क्या रखे हैं ?

३. पहली—भगवान् वाल्मीकि बड़े को कुश पुकारते हैं, दूसरे को लव ।

४. वेदवती—क्या वे मार्ग पर चलने-फिरने लगे हैं ?

५. पहली—क्या तुम चलने-फिरने की पूछ रही हो ?

अन्वयः—यथा प्रियदर्शनौ युगलौ हरिणकैः (सह) धावतः तपस्विनी-हृदयं च हरतः तथा किशोर-सिंहानां प्रतिमल्लौ (प्रतिभातः) ।

मुणिजणस्स अंकादो अंकं अदि संचरंति । संपदं वंमीइ-विरइदं रामाअणं पडंति । [मुनि-जनस्याङ्कादङ्कमतिसञ्चरतः । साम्प्रतं वाल्मीकिविरचितं रामायणं पठतः ।][1]

वेदवती—इमं उत्तंतं सुणिअ एदावत्थं सीदा किदपुण्णेत्ति तक्केमि । अहं इंह वहंति सीदासोवो अणिवत्यं आओ सिणिद्धं अंणोण्णं । [इमं वृत्तान्तं श्रुत्वा एतावदर्थं सीता कृत-पुण्येति तर्कयामि । अहं····सीता-शोकः अनिवर्त्यः····स्निग्धमन्योन्यम् ।][2]

प्रथमा—संभरणीअं खु एदं । को णेमिसउत्तंतो ? [सम्भरणीयं खल्वेतत् । को नैमिश-वृत्तान्तः ?[3]

वेदवती—संभरिदो एव्व जण्णसंभारो महाराअस्स, निमंतिदो सांतरवासिणीओ तपोघणाणं संपादो । [सम्भृत एव यज्ञसम्भारो महाराजस्य,

---

श०—प्रियदर्शन – नयनाभिराम, चित-चोर । युगल—जोड़ा । किशोर—बालक । प्रतिमल्ल—महायोद्धा ।

टि०—प्रिय-दर्शनौ–प्रियं दर्शनं ययोः तौ (बहु०) । हरिणकैः–हरिण + क; 'हरिण का बच्चा' । तपस्विनी-हृदयम्–तपस्विनीनां हृदयम् ,'तपस्विनियों के हृदय को' । किशोर-सिंहानाम्— किशोरश्च ते सिंहाश्च, 'अवयस्क सिंह' तेषाम् ।

हिन्दी—जब वह नयनाभिराम जोड़ा हरिणों के साथ दौड़ताफिरता है, तब वह तपस्वियों के हृदयों को मोह लेता है, अवयस्क शेरों की टक्कर का प्रतीत होता है। [१]

१. अंक—गोदी । अतिसञ्चरतः—फिरते हैं ।

पहली—वे मुनियों की गोदी-गोदी फिरते हैं। अब वाल्मीकि द्वारा रची रामायण पढ़ते हैं ।

२. कृत-पुण्या—कृतं पुण्यं (कर्म) यया सा, 'पुण्य-कर्मशीला' । तर्कयामि—समझती हूँ । स्निग्ध—प्रेम ।

वेदवती—यह वृत्तान्त सुनकर मैं तो समझती हूँ कि यही सीता के पुण्य-कर्मों का फल है।···परस्पर प्रेम···।

३. सम्भरणीयम्—सं + भृ + अनीय, 'भली प्रकार पूरा होना चाहिए'। नैमिष-वृत्तान्तः—पुराणों में नैमिष का अनेक बार उल्लेख आया है। कई-एक प्रसिद्ध ऋषियों का यह वास-स्थान था । इसका आधुनिक नाम नेमिसार है (जिला सीतापुर) । एतत्—सीता के पुत्र सम्बन्धी वृत्तान्त की ओर संकेत है ।

पहली—(पुत्र-प्राप्ति से) सीता का यह सौभाग्य और फूले-फले। नैमिषारण्य का क्या समाचार है ?

निमन्त्रितः सान्तर्वासिनीकस्तपोधनानां सम्पातः ?][1]

प्रथमा—किं णिमंतिदो भअवं वंमीई ? [किं निमन्त्रितो भगवान् वाल्मीकिः ?][2]

वेदवती—सुदं वंमीइतपोवणं वि आअदो रामदूदोत्ति। कहिं दाणिं सीदा पेखिदव्वा। [श्रुतं वाल्मीकि-तपोवनमपि आगतो रामदूत इति, कुत्रेदानीं सीता प्रेक्षितव्या ?][3]

प्रथमा—एत्थ एव्व सालपाअवच्छाआए उपविसदि कहं अदिवाहेमित्ति। [अत्रैव साल-पादप-च्छायायामुपविशति—कथमतिवाहयामीति।][4]

[इति निष्क्रान्ते

प्रवेशकः

---

१. सम्भृतः—एकत्रित। सम्भारः—सामग्री। सान्तर्वासिनीकः—सपत्नीक, पत्नियों सहित। सम्पातः—समूह, वर्ग।

वेदवती—महाराज के यज्ञ की सारी सामग्री वहाँ एकत्रित हो चुकी है। मुनि-वर्ग को सपत्नीक निमन्त्रण भेजे जा चुके हैं।

२. पहली—क्या भगवान् वाल्मीकि को निमन्त्रण भेजा है ?

३. वेदवती—सुना तो है कि वाल्मीकि के तपोवन में भी श्रीराम का दूत आया है। अच्छा, तो अब सीता को कहाँ ढूँढूँ ?

४. साल-पादपच्छायायाम्—सालश्चासौ पादपश्च, तस्य छायायाम्, 'साल वृक्ष की छाया में'; पादपः—पादैः पिबति, पाद + कः (सुपि स्थः पा० ३.२.४)। अतिवाहयामि—अति + √वह् + णिच् + लट् 'व्यतीत करूँ'।

पहली—यही साल वृक्ष की छाया में बैठी सोच रही है कि मैं दिन कैसे व्यतीत करूँ ?

[दोनों का प्रस्थान

प्रवेशक

प्रवेशक का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है :—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा॥ (६. ५७)

विष्कम्भक का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है :—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः।
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥ (६. ५५-५६)

(ततः प्रविशति चिन्तां नाटयन्ती भूम्यासनोपविष्टा सीता)

सीता—(निःश्वस्य) अहो ! अविस्ससणीअदा पइदिणिठ्ठुरभावाणं पुरुसहिअआणं, जं तंभप्पलिहिंदव्वणेआणं दंपदीणं पसंगे उमामहेस्सारोत्ति सग्गे पुडवीए सीदारामोत्ति अदिप्पसिद्धिं आरोविअ णिरवराधा एदं गइं अत्तंतमणु-भाविदोम्हि। अथ कीस अहं अंअउत्तं णिंदामि, एव्वं पुरा अंअउत्तेण एअस्स वअणीअगाधाधणं सुअमेत्तएण अदरीदमणुत्ति संपदं अणेअजोअणांतरिदे... सणं अकारणं मारिसि पुण्णदुक्ककारिणी जादा। तेण सह दिठ्ठो चंदोदओ, तेण सह सुदो कोकिलकलप्पलाओ, तेण सह अणुभूदो मलअमारुदप्परिसो, संपदं मए एआइणीए दिठ्ठो सुदो अ अणुभूदो अ। पाणं परिच्चआमित्ति सव्वहा अलिअं मारिसीहिं इत्थिआहिं। पुरा अहं सामिवल्लहदाए सअलमिहिलाजणपत्थणिअं भमिअ अज्ज उण एदावत्थं सोअणीआ संवुत्तेत्ति परिच्चायदुक्कादो लज्जा एव्व मं अहिअदरं बाहेदि। संपदं उण जादा दारा संवड्ढिआ अ, सादरो दाणिं भअवं वंमीई; ण जुत्तं मम एदिणा तपोवणवासविरुद्धेण दीहणिस्सासेण कालं अदि-वाहिदुं। एत्त एव्व मरणव्ववसाअस्स पडिबंधो जं मए पिअसही वेदवदी ण संदिठ्ठा णवि उपणिमंतिदा अ। [अहो ! अविश्वसनीयता प्रकृति-निष्ठुर-भावानां पुरुष-हृदयानाम्, यत् स्तम्भ-प्रलिखितव्य-स्नेहानां दम्पतीनां प्रसंगे उमा-महेश्वराविति स्वर्गे, पृथिव्यां सीता-रामाविति अति-प्रसिद्धि-मारोप्य निरपराधा एतां गतिमत्यन्तमनुभाविताऽस्मि ! अथ कीदृगहमार्य-पुत्रं निन्दामि। एवं पुरार्यपुत्रेण एकस्य वचनीय-गाढध्वनं श्रुतमात्रेण अत्यादृतः अणुरिति साम्प्रतमनेक-योजनान्तरिते निर्वासनम् अकारणं मादृशी पूर्ण-दुःखकारिणी जाता। तेन सह दृष्टचन्द्रोदयः, तेन सह श्रुतः कोकिल-कल-प्रलापः, तेन सहानुभूतो मलय-मारुत-स्पर्शः, साम्प्रतं मयैकाकिन्या दृष्टश्च श्रुतश्चानुभूतश्च। प्राणान् परित्यजामीति सर्वथा अलीकं मादृशीभिः स्त्रीभिः। पुराहं स्वामि-वल्लभतया सकल-मिथिला-जन-प्रार्थनीया भूत्वा अद्य पुनरेतदवस्थं शोचनीया संवृत्तेति परि-त्याग-दुःखतो लज्जा एव मामधिकतरं बाधते। साम्प्रतं पुनः जातौ दारौ संवर्द्धितौ च, सादरम् इदानीं भगवान् वाल्मीकिः। न युक्तं ममैतेन तपो-वन-वास-विरुद्धेन दीर्घ-निःश्वासेन कालमतिवाहयितुम्। एतदेव मरण-व्यवसायस्य प्रतिबन्धो यन्मया प्रिय-सखी वेदवती न संदिष्टा नाप्युप-निमन्त्रिता च।][1]

(भूमि पर बैठी चिन्तित मुद्रा में सीता का प्रवेश)

१. अविश्वसनीयता—विश्वास-हीनता, छल-कपट। दम्पति—पति-पत्नी।

प्रसङ्गः—अवसर, बातचीत । गतिः—दशा, दुर्दशा । आरोप्य—चढ़ाकर, ले जाकर । अनुभाविता—अनुभव कराई गई हूँ । पुरा—पहले । अन्तरित—दूरी । प्रलापः—आलाप । अलीकम्—मिथ्या । वल्लभता—प्रियता, प्रेम । प्रार्थनीया—प्रार्थना की जाने योग्य । अतिवाहयितुम्—व्यतीत करने के लिए । व्यवसायः—निश्चय । प्रतिबन्धः—रुकावट, बाधा ।

निःश्वस्य—नि + √श्वस् २ पर० + ल्यप् , 'गहरा साँस लेकर' । अविश्वसनीयता—विश्वसनीयस्य भावः, विश्वसनीयता, न विश्वसनीयता अविश्वसनीयता; अ + वि + √श्वस् + अनीय अविश्वसनीय, तस्य भावः तत्ता । प्रकृति-निष्ठुर-भावानाम्—प्रकृत्या निष्ठुरो भावो येषां तेषाम्, 'स्वभाव में निठुर प्रवृत्ति वालों का' । स्तम्भ-प्रलिखितव्य-स्नेहानाम्—स्तम्भेषु प्रलिखितव्यः स्नेहो येषां तेषाम्, 'स्मृति-स्तम्भों पर लिखने योग्य स्नेह वालों का' । दम्पतीनाम्—जाया च पतिश्च जम्पती, दूसरा रूप दम्पती भी बनता है । देखिए,

"दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ ।" इत्यमरः

प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में शब्द 'दम्पती' ही था, जिसका अर्थ था 'गृह-स्वामी' । वैदिक भाषा में 'दम्' का अर्थ 'गृह' है (अंग्रेजी 'dome') । प्रसंगे—प्र + √सञ्ज् + घञ् ; देखिए, कथा-प्रसंगे—'वार्तालाप के क्रम में' । उमा-महेश्वरौ—उमा च महेश्वरश्च उमामहेश्वरौ (द्वन्द्व०) । सीतारामौ—सीता च रामश्च सीतारामौ । आरोप्य—आ + √रुह् + ल्यप् , 'चढ़ाकर' । अनुभाविता—अनु + √भू १ पर० + णिच् + क्त + टाप् , 'पहुँचाई गई हूँ' ।

अथ कीदृगहमार्यपुत्रं निन्दामि—सती-साध्वी स्त्री के लिए पति परम देवता तथा गुरु कहा गया है, अतः स्त्री अपने पति की निन्दा नहीं कर सकती । देखिए,

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ मनुः

तो स्त्री स्वयं अपने पति की निन्दा कैसे कर सकती है ? तेन सह दृष्टचन्द्रोदयः....चन्द्रोदय, कोयल की कू-कू ध्वनि, मलयवायु आदि शृंगार के उत्तेजक माने गये हैं । सीता ने राम के साथ इन सब का अनुभव किया है, परन्तु ऐसे अवसरों पर अब वह निःसहाय हैं, इन सब से उनकी छाती पर साँप लोटने लगते हैं । यह कुछ देखकर, सुनकर और अनुभव करके वे आत्महत्या कर लेना चाहती हैं । अतिवाहयितुम्—अति + √वह् + णिच् + तुमुन्, 'व्यतीत करने के लिए' । एतद्—इसका सम्बन्ध 'मया प्रियसखी वेदवती न सन्दिष्टा नाप्युपनिमन्त्रिता च' के भाव के साथ है, 'प्रतिबन्धः' के साथ नहीं, अतः नपुंसकलिंग का प्रयोग हुआ है । व्यवसायस्य—वि + अव + √सो + घञ् + षष्ठी ।

(ततः प्रविशति वेदवती)

वेदवती—किदो एव्व तपोधरणाणं वंदणुव्वआरो, अदिहिजणसमुइदो समुदाआरो अ। ता इदो एव्व सालपादपं गदुअ पिअसहिं संभावइस्सं (परिक्रम्य विलोक्य च) एसा विदेहराअतणआ णिदाहमासलआ विअ परिक्खामपंडुराए अवत्थाए हिअअं अक्खिवंती सालमूलमलंकरेदि। ता उवसप्पिस्सं (उपसृत्य) एसा चिन्तापरवसा विअ अहोमुही लंबालआच्छाइअणअणा दीणपेक्खिदा। सद्दावइस्सं। सहि वैदेहि। (इति शब्दापयति) [कृत एव तपोधनानां वन्दनोपचारः, अतिथि-जन-समुचितः समुदाचारश्च। तदित एव साल-पादपं गत्वा प्रिय-सखीं सम्भावयिष्यामि। (—) एषा विदेह-राज-तनया निदाघ-मास-लतेव परिक्षाम-पाण्डुरयाऽवस्थया हृदयमाक्षिपन्ती साल-मूलमलङ्करोति। तदुप-

---

सीता—(गहरी साँस लेकर) ओह! स्वभाव से ही निठुर प्रवृत्ति वाले पुरुष-हृदय का छल-कपट! स्मृति-स्तम्भों पर अङ्कित कराने योग्य (आदर्श-) प्रेम वाले पति-पत्नियों के कथा-प्रसङ्ग में—स्वर्ग में शिव-पार्वती और पृथ्वी-तल पर सीता-राम के—प्रेम को महान् प्रसिद्धि को चढ़ाकर—मैं निरपराधिन इस भारी दुर्दशा को पहुँचाई गई हूँ। हाय! किस मुँह से मैं स्वामी की निन्दा करूँ? पहले तो इस प्रकार मेरे स्वामी ने (मेरा इतना आदर-सत्कार किया) अब सैकड़ों कोसों की दूरी पर पटका दिया। बिना कारण......मैं पूर्ण रूप से दुखिया बन गई हूँ। उनके साथ मैंने चन्द्रोदय देखा, उनके साथ कोयल की कू-कू ध्वनि सुनी, उनके साथ मलयपर्वत की वायु का स्पर्श अनुभव किया, और अब मैंने अकेली ने ही वह सब कुछ देखा, सुना और अनुभव किया। क्या प्राण त्याग दूँ? परन्तु मुझ जैसी स्त्रियों को यह शोभा नहीं देता। (वनवास से) पहले जब मैं अपने स्वामी की प्रिय थी, तो सकल मिथिला-वासी मेरे आगे प्रार्थना किया करते थे...और आज मेरी यह दुर्दशा हो गई है कि परित्याग के दुःख से अधिक लज्जा ही मुझे खाये जा रही है। अब मेरी गोदी में दो लाल हैं, दोनों भलीभाँति पल रहे हैं। भगवान् वाल्मीकि मुझे आँखों पर रखते हैं। यह ठीक नहीं कि मैं तपोवन-वास के विरुद्ध इस प्रकार गहरे साँस ले-लेकर समय व्यतीत करूँ! मैंने प्रिय सखी वेदवती को (कुश-लव के जन्म का) न तो सन्देश ही भेजा है, और न उसे बुलावा ही दिया है, यही मेरे आत्म-घात के निश्चय में बाधा है।

(वेदवती का प्रवेश)

सर्पामि। (—) एषा चिन्ता-पर-वशेवाधोमुखी लम्बालकाऽऽच्छादित-नयना दीन-प्रेक्षिता। शब्दापयिष्यामि। सखि वैदेहि !(—)[1]

सीता—(ससम्भ्रमं विलोक्य) पिअं मे ! पिअं मे ! संपत्ता पिअसही वेदवदी। साअदं पिअसहीए। [प्रियं मे ! प्रियं मे ! सम्प्राप्ता प्रिय-सखी वेदवती। स्वागतं प्रिय-सख्याः।][2] (परिष्वज्योपवेशयति)

वेदवती—अवि कुसलं कुसलवाणं ? [अपि कुशलं कुश-लवयोः ?][3]

---

१. वन्दनोपचारः—प्रणामपूर्वक शिष्टाचार। समुदाचारः—शिष्टाचार, व्यवहार। सम्भावयिष्यामि—अभिनन्दन करूँगी। निदाघ—ग्रीष्म। परिक्षाम—क्षीण, दुर्बल। पाण्डुर—पीला। आक्षिपन्ती—कोसती हुई। अधोमुखी—नीचे मुख किये। लम्बालका—लटक रही लटें। आच्छादित—ढकी हुई (आँखें)। दीन-प्रेक्षिता—कातर दृष्टि। शब्दापयिष्यामि—बुलाऊँगी।

तपोधनानाम्—तपः एव धनं येषां तेषाम्, 'तपस्वियों का'। वन्दनोपचारः—वन्दनम् एव उपचारः, 'प्रणाम-पूर्वक शिष्टाचार'। सम्भावयिष्यामि—सम्+ √भू+ णिच्+लृट्, 'सत्कार करूँगी, अभिनन्दन करूँगी'। चिन्ता-पर-वशा—चिन्तायां (चिन्तया वा) परवशः; परवशः—परस्मिन् वशः इति, 'परतन्त्र, पराधीन'। अधोमुखी—अधः मुखं यस्याः सा (बहु०)। लम्बालका-च्छादित-नयना—लम्बैः अलकैः आच्छादिते नयने यस्याः सा (बहु०) 'लटक रही लटाओं से ढंपी आँखों वाली'। दीन-प्रेक्षिता—दीनं प्रेक्षितं यस्याः सा। (बहु०)

वेदवती—तपस्वियों का प्रणामपूर्वक शिष्टाचार और अतिथि-जनों का यथोचित अतिथि-सत्कार तो मैं कर चुकी। तो यहाँ से साल पेड़ की ओर जाकर प्रिय-सखी (सीता) का अभिनन्दन करूँ।" (घूमकर और देखकर) यह विदेह-राजकुमारी सीता, जो ज्येष्ठ-आषाढ के महीनों में लता के समान सूख कर पीली पड़ी रही है, अपने हृदय को धिकारती हुई साल पेड़ की शोभा बढ़ा रही है। तो पास चलूँ। (पास पहुँचकर) यह रही चिन्ता में डूबी, नीचे मुँह लटकाये, लटक रही खुली लटाओं से आँखें ढँपे, कातर दृष्टि वाली (सीता)। बुलाती हूँ। सखि वैदेहि ! (बुलाती है)

२. ससम्भ्रमम्—शीघ्रता से; देखिए, 'सम्भ्रमस्त्वरा' इत्यमरः।

सीता—(जल्दीसे देखकर) धन्य मेरे भाग्य ! मेरी प्रिय सखी वेदवती आई है। (गले लगाकर बिठाती है) प्रिय सखी का स्वागत हो !

३. अपि—वाक्य के आरम्भ में 'अपि' शब्द द्वारा प्रश्न का बोध होता है।

सीता—जह वणवासिणं। [यथा वनवासिनाम्।][1]

वेदवती—कीदिसो तुम्हाणं वुत्तंतो ? [कीदृशो युष्माकं वृत्तान्तः ?][2]

सीता—(वेणीं निर्दिश्य) कीदिसो सो। [कीदृशोऽसौ ?][3]

वेदवती—(आत्मगतम्) अदिमत्तं संतवइ एसा वराई, रामसंदेसस्स संकित्तणेण विणिधारइस्सं। (प्रकाशम्) अयि अपंडिदे, तह णिरपेक्खस्स णिरणुक्कोसस्स किदे कीस तुमं असिदपक्खचंदलेहा विअ दिणे दिणे परिहीअसि। [अतिमात्रं सन्तपति एषा वराकी; राम-सन्देशस्य सङ्कीर्तनेन विनिधारयिष्यामि। (प्रकाशम्) अयि अपण्डिते ! तथा निरपेक्षस्य निरनुक्रोशस्य कृते कीदृक् त्वमसित-पक्ष-चन्द्र-लेखेव दिने-दिने परिहीयसे ?][4]

सीता—कहं स णिरणुक्कोसो ! [कथं स निरनुक्रोश : ?][5]

वेदवती—जेण परिच्चत्तासि। [येन परित्यक्तासि।][6]

सीता—किमहं परिच्चत्ता ? [किमहं परित्यक्ता ?][7]

वेदवती—(विहस्य वेणीं परिमार्जयति) एव्वं लोओ भणादि, सच्चं परि-

---

वेदवती—कुश-लव तो सकुशल हैं ?

१. सीता—जैसे वनवासी सकुशल हो सकते हैं।

२. वेदवती—तुम्हारा क्या हाल-चाल है ?

३. वेणीं निर्दिश्य—प्राचीन समय में पति से वियुक्त स्त्रियों की केश-रचना अन्य प्रकार की होती थी। अतः सीता अपनी वेणी दिखाती हैं।

सीता—(वेणी को दिखाकर) मेरा हाल-चाल कैसा होना है ?

४. वराकी—बेचारी। सङ्कीर्तन—वर्णन। विनिधारयिष्यामि—धीरज बधाती हूँ। अपण्डिते—मूर्खे, री भोलीभाली। निरपेक्ष—बेपरवाह। निरनुक्रोश—निठुर। असित-पक्ष—कृष्ण-पक्ष। परिहीयसे—सूख रही है।

वेदवती—(मन ही मन) बेचारी बहुत-ही दुःख मान रही है ! राम के वार्तालाप द्वारा इसे धीरज बँधाती हूँ। (प्रकट) अरी भोलीभाली ! उस बेपरवाह निर्दय के लिए तू कृष्ण-पक्ष की चन्द्रकला के समान दिन प्रति दिन क्यों घुली जा रही है ?

५. निरनुक्रोशः—निर्गतः अनुक्रोशः यस्मात्, 'निर्दय'। देखिए, 'निरनुक्रोशस्य' पृष्ठ २१; निरनुक्रोश इत्यभिमानः' (अंक ३);

सीता—वे निर्दय कैसे हुए ?

६. वेदवती—जिस कारण त्याग दी गई हो।

७. सीता—क्या में त्याग दी गई हूँ !

च्चत्ता। [एवं लोको भणति, सत्यं परित्यक्ता।][1]

सीता—अह सरीरेण, ण उण हिअएण। [अथ शरीरेण, न पुन-र्हृदयेन।][2]

वेदवती—कहं परकेरअं हिअअं जाणासि ? [कथं परकीयं हृदयं जानासि ?][3]

सीता—कहं तस्स हिअअं सीदाए परएरअं भविस्सदि ? [कथं तस्य हृदयं सीतायाः परकीयं भविष्यति ?][4]

वेदवती—अहो अपरिच्चत्ताणुराअदा। [अहो अपरित्यक्ता-नुरागता !][5]

सीता—कहं सो मम उवरि परिच्चत्ताणुराओ जेण अदिप्पसित्तो एव्व मं अधण्णं उंदिसिअ अंअउत्तेण अणुभूदो सेदुबंधादिपरिस्समो ! [कथं स ममोपरि परित्यक्तानुरागः येनातिप्रसिद्ध एव मामधन्यामुद्दिश्यार्यपुत्रेणानुभूतः सेतु-बन्धाऽऽदि-परिश्रमः।][6]

वेदवती—अत्तसिलाहिणि ! खत्तिआणं समुइदो एसो रावणस्स उवरि रोसो, ण सीदाए उवरि अणुराओ ! [आत्मश्लाघिणि ! क्षत्रियाणां समुचित एव रावणस्य उपरि रोषो, न सीतायाः उपर्यनुरागः।][7]

---

१. परिमार्जयति—स्पर्श करती है।

वेदवती—(हँसकर उसकी वेणी पर हाथ फेरते हुए) लोग ऐसा कहते हैं कि सचमुच तुम त्याग दी गई हो।

२. सीता—शरीर से त्याग दी गई हूँ, न कि हृदय से।

३. परकीयम्—परस्य इदम्; 'पराया'।

वेदवती—तुम पराये हृदय की बात कैसे जानती हो ?

४. तुलना कीजिए,

"अहमेतस्य हृदयं जानामि। ममाप्येषः।" (उत्तर० २. १०-११)

सीता—उनका हृदय सीता के लिए पराया कैसे हो सकता है ?

५. अपरित्यक्त—दृढ़, अटूट।

वेदवती—अहो ! कैसा अटूट अनुराग है !

६. अधन्या—अभागिन।

सीता—मेरे लिए वे निर्मोही कैसे हो सकते हैं क्योंकि मुझ अभा-गिन के लिए उन्होंने जगत्प्रसिद्ध पुल बाँधा तथा अन्य उद्योग किये ?

७. वेदवती—अरी अपने मुँह मियाँ मिट्ठू ! क्षत्रियों का रावण पर क्रोध करना उचित ही है, इससे सीता पर अनुराग प्रकट नहीं होता।

सीता—एदं अवरं ण पेक्खसि । [एतदपरं न प्रेक्षसे ?][1]

वेदवती—किं एदं अवरं ? [किमेतदपरम् ?] [2]

सीता—एदं । [एतत् ।] [3]

वेदवती—किं एदं ? [किमेतत् ?][4]

सीता—(सलज्जम्) जं सवत्तीजणणीसासाणुपविद्धे रामवच्छत्थले अदिचिरं संभाविदम्हि । [यत् सपत्नी-जन-निःश्वासानुपविद्धे राम-वक्षःस्थले अतिचिरं सम्भावितास्मि ।][5]

वेदवती—सहि ! मा उत्तम्म, समासण्णो रामस्स जण्णादिक्खासमओ । [सखि ! मा उत्ताम्य, समासन्नो रामस्य यज्ञ-दीक्षा-समयः ।][6]

सीता—तदो किं ? [ततः किम् ?][7]

वेदवती—णं तहिं अस्सस्स सहधंमआरिणीए पाणिग्गहो णिव्वत्तिदव्वो । [ननु तत्राऽऽश्वस्य सह-धर्मचारिण्या पाणि-ग्रहो निर्वर्तयितव्यः ।][8]

सीता—अंहउत्तस्स हिअए पहवामि, ण उण हत्ते । [आर्यपुत्रस्य हृदये प्रभवामि, न पुनर्हस्ते ।[9]

वेदवती—(आत्मगतम्) अहो से दिढाणुराअदा । [अहो अस्या दृढा-

---

१. सीता—यह और नहीं देखती हो ?

२. वेदवती—यह और क्या ?

३. सीता—यह ।

४. वेदवती—यह क्या ?

५. सपत्नी-जन-निःश्वासानुपविद्धे—समानः पतिर्यासां ताः सपत्न्याः ताश्च जना इति तेषाम्, निःश्वासेन अनुपविद्धे, 'सौतिन के साँसों से अदूषित'; अनुपविद्धे—न उपविद्धे, अनुपविद्धे; उपविद्ध—उप+विद्+क्त, 'स्पृष्ट, दूषित' । सम्भावितास्मि—सम्मान पा रही हूँ ।

सीता—(लजाकर) यही कि सौतनों के साँसों से अदूषित उनके हृदय में मैं ही बड़ी देर से विराज रही हूँ ।

६. मा उत्ताम्य—घमण्ड मत कर ।

वेदवती—घमण्ड मत कर । राम के अश्वमेधयज्ञ का समय निकट ही है ।

७. सीता—तो क्या ?

८. आशु—शीघ्र । निर्वर्तयितव्यः—सम्पन्न करना होगा ।

वेदवती—तो शीघ्र ही किसी धर्मपत्नी का पाणिग्रहण करना होगा ।

९. सीता—स्वामी के हृदय पर मेरा अधिकार है, हाथ पर नहीं ।

नुरागता !] (प्रकाशम्) सहि, पुत्तमुहदंसणेण वि दे पवाससोओ णावणीदो। [सखि ! पुत्र-मुख-दर्शनेनापि ते प्रवास-शोकः नापनीतः ?][1]

सीता—सोअपडिआरेण वि सोओ वड्ढिअदि। [शोक-परिहारेणापि शोको वर्द्धते।][2]

वेदवती—कहं विअ ? [कथमिव ?][3]

सीता—जह जह दे दारआ ईससमुब्भिण्णदसणंकुरकोमलेण वदणेण मम मुहं आलोअंता पहसंति, अच्चंतकोमलेण आलावेण तादिसं सद्दावेअंति, तह जाणामि तस्स मुद्दे णिमज्जामिति। संपदं उण कालवसेण परिणदा परिच्चत्तबाल-भावा अबाला संवुत्ते त्ति मं अहिअतरं बाधेयदि। [यथा यथा तौ दारकावीष-त्समुद्भिन्न-दशनाङ्कुर-कोमलेन वदनेन मम मुखमालोकयन्तौ प्रहसतः, अत्यन्त-कोमलेनाऽऽलापेन तादृशं शब्दापयतः, तथा जानामि तस्य मौग्ध्ये निमज्जामीति। साम्प्रतं पुनः काल-वशेन परिणतौ परित्यक्त-बाल-भावा-वबालौ संवृत्ताविति मामधिकतरं बाधते।][4]

---

१. अपनीतः—अप+नी+क्त, 'दूर किया गया'।

वेदवती—(मन ही मन) अहो ! कैसा अटूट प्रेम है। (प्रकट) सखि ! क्या पुत्रों का मुँह देखकर भी तुम्हारा प्रवास-शोक अभी दूर नहीं हुआ ?

२. सीता—ज्यों-ज्यों शोक दबाती हूँ, त्यों-त्यों वह बढ़ता है।

३. वेदवती—कैसे ?

४. दारकौ—दो बालक (कुश-लव)। ईषत्—थोड़ा-सा। समुद्भिन्न—निकला। दशन—दांत। अङ्कुर—दांत का किनारा। वदन—मुख। आलाप—बोल। शब्दापयतः—(मा-मा) पुकारते हैं। मौग्ध्य—मोहकता। निमज्जामि—डूब जाती हूँ। परिणत—बढ़ा हुआ। अबाल—कुमार। संवृत्त—हो जाना।

ईषत्समुद्भिन्न-दशनाङ्कुर-कोमलेन—ईषत् समुद्भिन्नां दशनानां ये अङ्कुराः तैः कोमलेन, 'कुछ-कुछ निकली कोमल दंतुलियों से'; दशनः—दश्यते अनेन, 'जिससे डसा जाता है, अर्थात् दांत'। परिणतौ—परि+नम्+क्त+ प्रथमा द्वि०। परित्यक्त-बाल-भावौ—परित्यक्ता बालभावः याभ्यां तौ (बहु०)।

सीता—जैसे-जैसे दोनों बच्चे कुछ-कुछ निकली कोमल दन्तुलियों वाले मुखड़े से मेरी ओर देखते हुए हँस देते हैं, बहुत मीठे बोलों से उसी प्रकार (माँ-माँ) बुलाते हैं, वैसे-वैसे मैं उनकी मोहनी सूरत पर डूबी जाती हूँ। अब तो वे समय के साथ-साथ बचपन को लाँघकर और भी बढ़े हो गये हैं, यह बात मुझे और भी अधिक दुःख देती है।

वेदवती—अहो किंति तस्स महग्घं णिसंसत्तणं जं सीदा णाम बालतणआ ईरिसं अवत्थं अणुभवदित्ति । [अहो किमिति तस्य महार्घं नृशंसत्वं यत्सीता नाम बाल-तनयेदृशीमवस्थामनुभवतीति !][1]

सीता—सहि वेदवदि अवि णाम....[सखि वेदवति ! अपि नाम...][2]

वेदवती—कीस लज्जिदेण ? भणाहि अंअउत्तं पेक्खामित्ति । [किं लज्जितेन ? भण "आर्यपुत्रं प्रेक्षे" इति ।][3]

सीता—किं लज्जावेसेण, एव्वं भणामि । [किं लज्जाऽऽवेशेन, एवं भणामि ।] (प्रकाशम्) अवि कुसलवाणं तादस्स दंसणेण जम्मं अमोहं भवेदित्ति । [अपि कुश-लवयोस्तातस्य दर्शनेन जन्मामोघं भवेदिति ?][4]

वेदवती—णं समासण्णं एव्व तुम्हाणं राअदंसणं । [ननु समासन्नमेव युष्माकं राज-दर्शनम् ।][5]

सीता—कहं विअ ? [कथमिव ?][6]

(नेपथ्ये ऋषिः)

भो भो आश्रम-वासिनो जनाः । शृण्वन्तु भवन्तः— इतो नातिदूरे महाक्रतुरश्वमेधः प्रवर्तते, सम्भृतानि यज्ञोपकरणानि, सन्निपतिताश्च नाना-देशाऽऽश्रम-वासिनो वसिष्ठाऽऽत्रेय-प्रभृतयो महा-मुनयः ।

---

१. महार्घम्—बहुमूल्य, अर्थात् बहुत भारी । नृशंसत्वम्—क्रूरता । महार्घम्—महान् अर्घः यस्य सः, अर्घ—मूल्य । बाल-तनया—बालौ तनयौ यस्याः सा, (बहु०) 'छोटे-छोटे बच्चों वाली' ।

वेदवती—अहो ! कितनी भारी है क्रूरता उसकी, कि सीता भी, जिसका छोटे-छोटे बच्चों का साथ है, ऐसी दुर्दशा भोग रही है ।

२. सीता—सखि वेदवति ! क्या कभी······

प्रेक्षे—देखूँगी (आशंसायां भूतवच्च पा० ३.३.१३२) ।

३. वेदवती—लजाती क्या हो ? कहो न, कि स्वामी को फिर देख पाऊँगी ।

४. लज्जावेशः—लज्जावश । अमोघ—सफल ।

सीता—(स्वगत) लज्जा की क्या बात है ? ऐसे कहती हूँ । (प्रकट) क्या कुश-लव के पिता के दर्शन द्वारा यह जन्म कभी सफल होगा ?

५. वेदवती—महाराज के दर्शन तो अब हुआ ही चाहते हैं ।

६. सीता—कैसे ?

(नेपथ्य में ऋषि)

केवलं भगवतो वाल्मीकेरागमनमुदीक्षमाणो नाद्यापि यज्ञ-दीक्षां प्रविशति महाराजः। आगतश्च वाल्मीकि-तपोवन-वासिनामुपनिमन्त्रणार्थं राम-दूतः। तस्मान्नैव परिलम्बितव्यम्।[1]

तीर्थोदकानि समिधः परिपूर्ण-रूपा
दर्भाङ्कुरानविहतान् परिगृह्य सद्यः।

---

१. महाक्रतुः—महायज्ञ। प्रवर्तते—आरम्भ हो रहा है। सम्भृतानि—एकत्र की गई हैं। उपकरण—घी आदि सामग्री। सन्निपतिताः—इकट्ठे हो चुके हैं। प्रभृतयः—इत्यादि। उदीक्षमाणः—प्रतीक्षा करते हुए। उपनिमन्त्रण—बुलावा। न परिलम्बितव्यम्—विलम्ब न करना चाहिए।

अश्वमेधः—यह यज्ञ घोड़े से आरम्भ होने के कारण अश्वमेधयज्ञ कहलाता है। इससे सब पाप नष्ट हो जाते हैं, ऐसा कहा है। देखिए,

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः। मनुस्मृति ११. २६१

इसमें घोड़ा एक विशेष प्रकार का चुना जाता हैः—

गोक्षीरसमवर्णञ्च कुन्देन्दुहिमसन्निभम्।
पीतपुच्छं श्यामकर्णं सर्वतो गतिमुक्तमम्।
श्यामं वापि महीपालयज्ञेऽस्मिंस्तुरगं विदुः॥

इस प्रकार का घोड़ा, सैनिकों सहित, छोड़ा जाता है। जिस-जिस देश में वह जाता है, यदि उसे कोई पकड़ न ले तो यह समझा जाता है कि उस-उस देश ने यज्ञ में दीक्षित राजा की अधीनता स्वीकार कर ली। जो राजा उसे पकड़ लेता है, उससे सूचित होता है कि वह राजा कर-दाता नहीं होना चाहता, अतः उससे युद्ध किया जाता है। यदि सभी राजा जीत लिए जायँ, तो अश्वमेध यज्ञ होता है, अन्यथा नहीं। एक वर्ष के अनन्तर यह घोड़ा अधीन हुए राजाओं के साथ, अपने स्थान को लौट आता है और यह यज्ञ प्रारम्भ होता है। ऐसे सौ यज्ञ कर लेने वाला शतक्रतु (इन्द्र) कहलाता है। देखिए, उत्तर-रामचरित अंक ४।

उदीक्षमाणः—उद्+ईक्ष १ आ०+शानच्; उद्वीक्षमाणः का भी यही अर्थ है। देखिए, पंजाबी शब्द 'उडीकना'।

हिन्दी—हे हे आश्रमवासियो! आप सब सुनें—यहाँ से कुछ ही दूरी पर अश्वमेध यज्ञ नाम का महायज्ञ आरम्भ हुआ है, यज्ञ की सारी सामग्री बटोर ली गई है, नाना देशवासी तथा आश्रमवासी वसिष्ठ, आत्रेय आदि महर्षि पधार चुके हैं। केवल भगवान् वाल्मीकि के आने की प्रतीक्षा करते हुए महाराज अभी तक यज्ञ में दीक्षित नहीं हुए। वाल्मीकि-तपोवन में निमन्त्रण देने के लिए महाराज रामचन्द्र का

अग्रे भवन्तु मुनयो मुनि-कन्यकाश्च
कुर्वन्तु मङ्गल-बलीनुटजाङ्गणेषु ॥ २ ॥

सीता—तुवरेमि, तुवरेमि, एस अंग्र कस्सवो पत्ताणघोसणासमणन्तरं गहिदजण्णोवकरणो अग्गदो पत्थिदो। अहं वि कुसलवाणं पत्थाणमङ्गलं अणुचिठ्ठिस्सं। [त्वरे, त्वरे। एष आर्य-काश्यपः प्रस्थान-घोषणा-समनन्तरं गृहीत-यज्ञोपकरणोऽग्रतः प्रस्थितः। अहमपि कुश-लवयोः प्रस्थान-मङ्गलमनुष्ठास्यामि।][1]

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे

इति द्वितीयोऽङ्कः

दूत आ चुका है, इसलिए अब विलम्ब नहीं करना चाहिए।

अन्वयः—तीर्थोदकानि परिपूर्ण-रूपाः समिधः अविहतान् दर्भाङ्कुरान् परिगृह्य मुनयः सद्यः अग्रे भवन्तु; मुनि-कन्यकाः च उटजाङ्गणेषु मङ्गल-वलीन् कुर्वन्तु।

श०—उदक—जल। परिपूर्ण-रूप—शास्त्र विहित रूप, अखण्डित। समिधः—हवन की लकड़ी। अविहत—अक्षत, समूचा। दर्भ—दूब। परिगृह्य—लेकर। सद्यः—तुरन्त। उटज—कुटिया।

टि०—तीर्थोदकानि—तीर्थानाम् उदकानि; 'अनेक तीर्थों से लाये गए पवित्र जल'। परिपूर्ण-रूपा—परिपूर्णं (शास्त्रविहितं) रूपं यासां ताः, 'शास्त्र-विधि के अनुसार बताये गए आकार-प्रकार वाली'। अग्रे भवन्तु—'आगे हो लें, आगे-आगे चलें'। उटजाङ्गनेषु—उटजानाम् अङ्गणेषु, 'कुटियों के आँगन में'; उटजः—उटेभ्यो जायते; उट 'पत्र'। मङ्गलवलीन्—मङ्गलार्थं वलीन्, 'शकुन के उपाहारों को'। कुर्वन्तु—प्रदान करें।

हिन्दी—तीर्थों का जल, शास्त्रोक्त आकार-प्रकार की समिधा, और दूब के अक्षत अंकुर लेकर मुनि शीघ्र ही आगे-आगे चलें, और मुनि-कन्याएँ कुटियों के आँगनों में मंगलकारी उपहार प्रदान करें। [२]

१. त्वरे—जल्दी करती हूँ। समनन्तरम्—तुरन्त बाद। अनुष्ठास्यामि—संपन्न करती हूँ।

सीता—चलूँ, जल्दी चलूँ। प्रस्थान-घोषणा के सुनने के तुरन्त बाद ही आर्य काश्यप तो यज्ञ की सब सामग्री साथ लिए आगे-आगे चल पड़े हैं। मैं भी कुश-लव के प्रस्थान के लिए शुभ शगुन मना लूँ।

[सब का प्रस्थान

दूसरा अंक समाप्त

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति मार्ग-परिश्रान्तो गृहीत-भारस्तापसः)[1]

तापसा—(श्रममभिनीय) भो सुट्ठु परिस्संतोम्हि एदिणा संदाप-दीहेण गिम्मसमएण। ण प्पहवामि परिस्समगआणं जंघाणं विक्खेवणिक्खेवं कादुं। पाददलं अ मे संपक्कं पिअअसंफोडएहिं संवुत्तं। अण्णच्च, तह सुउमाला देवी सीदा तह कोमला अ कुसलवा तापससत्थेण सह अणत्थमिदे सूरे नेमिसं पत्ता। अहं अज्ज वि णासादेमि अडविदिसामुहे (विचिन्त्य) को दाणिं मे णेमिसमग्गं आचक्खिस्सदि (विलोक्य) णूणं एसो लक्खणसहाओ रामो णेमिसं संपत्तो। ता अहं वि दाणं गइं अणुसरेमि। (निष्क्रान्तः) [भोः! सुष्ठु परिश्रान्तोऽस्मि एतेन सन्ताप-दीर्घेण ग्रीष्म-समयेन। न प्रभवामि परिश्रम-गतयोर्जङ्घयोर्विक्षेप-निक्षेपौ कर्तुम्। पाद-तलं च मे सम्पक्वं पिटक-संस्फोटकैः संवृत्तम्। अन्यच्च, तथा सुकुमारा देवी सीता तथा कोमलौ च कुश-लवौ तापस-सार्थेन सहानस्तमिते सूर्ये नैमिशं प्राप्ताः। अहमद्यापि नासादयामि अटवी-दिशा-मुखे (—) क इदानीं मे नैमिश-मार्गमाख्यास्यति ! (—) नूनमेष लक्ष्मण-सहायो रामो नैमिशं सम्प्राप्तः। तदहमपि तयोः गतिमनुसरामि।] [निष्क्रान्तः

प्रवेशकः

तीसरा अंक

१. (मार्ग चलने से थके हुए तथा बोझ उठाये तपस्वी का प्रवेश)

२. सुष्ठु—बहुत। सन्ताप-दीर्घं—गरमी के कारण लम्बा। प्रभवामि—समर्थ। विक्षेप-निक्षेप—(पग) उठाना और रखना। पाद-तलम्—तलुआ। संपक्व—पक जाना, छाले पड़ जाना। पिटक—फोड़ा। संस्फोटक— फोड़ा। सार्थ—टोली। अनस्तमित—अस्त होने से पहले, छिप जाने से पहले। आसादयामि—पहुँचा हूँ। अटवी—वन। दिशामुख—प्रवेश-स्थल।

सन्ताप-दीर्घेण—सन्तापेण दीर्घः (सुप्सुपा समास)। गरमियों में दिन लम्बे प्रतीत होते हैं। सार्थः—सरतीति, √सृ 'जाना' + थन्; देखिए, "संघसार्थौ तु जन्तुभिः।" इत्यमरः टोली; देखिए,

"सार्थो वणिक्समूहे स्यादपि सङ्घातमात्रके" इति मेदिनी।

(ततः प्रविशति शोक-सन्तप्तो रामः लक्ष्मणश्चाग्रतः)[1]

लक्ष्मणः—आर्य ! इत इतः । (परिक्रम्य)[2]

प्रथममनपराधां तां समुत्कृष्य देवी-
मगममगाधे कानने त्यक्तु-कामः
पुनरपि कुल-शेषं राममादाय देवं
स्वजन-विपदि दक्षः क्वाप्यधन्यः प्रयामि ॥ १ ॥

यह तपस्वी तपोवन में कोई भारवाहक जान पड़ता है, जो वहाँ सामान उठाने का काम करता है । यही कारण है कि यह प्राकृत बोलता है ।

तपस्वी—(थकान का अभिनय करके) रे रे ! ग्रीष्म ऋतु में गरमी के कारण दिन लम्बा हो जाने से चलता-चलता थककर चूर हो गया । थकान से टाँगें ऐसी जकड़ी गईं कि टांग का उठाना-रखना कठिन हो गया । तलुए पक गये, छाले-फफोले फूट-फूटकर फोड़े बन गए हैं । और, इतनी कोमल सीता देवी और वैसे ही कोमल कुश-लव तपस्वियों की टोली के साथ सूर्य छिपने से पहले ही नैमिष पहुँच गये । मैं अब भी वन के किनारे तक नहीं पहुँच पाया । (सोचकर) अब मुझे नैमिश का मार्ग कौन बतायेगा ? (देखकर) हो न हो ये लक्ष्मण सहित राम हैं, जो नैमिश पधारे हुए हैं । सो मैं भी उनके पीछे-पीछे चलता हूँ । [प्रस्थान

(प्रवेशक)

(आगे लक्ष्मण तथा पीछे-पीछे शोक-विह्वल राम का प्रवेश)

लक्ष्मण—भाई ! इधर आइए, इधर । (घूमकर)

अन्वयः—ताम् अनपराधां देवीं समुत्कृष्य अगाधे कानने त्यक्तुकामः अहं प्रथमम् अगमम्, स्वजन-विपदि दक्षः अधन्यः कुल-शेषं देवं रामम् आदाय पुनः अपि क्व अपि प्रयामि ।

श०—समुत्कृष्य—(छलपूर्वक) लेजाकर । अगाधः—घना । प्रथमम्—पहली बार । दक्षः—चतुर । अधन्यः—हतभाग्य ।

टि०—अनपराधाम्—न अपराधो यस्या सा, ताम्, (बहु०) 'निर्दोष को' । समुत्कृष्य—सम्+उत्+कृष्+ल्यप् । त्यक्तुकामः—त्यक्तुं कामो यस्य सः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि' सूत्र द्वारा काम और मनस् सहित बहुव्रीहि समास में तुमुन् के न् का लोप हो जाता है; 'छोड़ने की इच्छावाला' । अगमम्—√गम् लुङ्, 'गया था' । कुल-शेषम्—कुलस्य शेषः, तम् । 'कुल के एकमात्र शेष (राम को)' । लक्ष्मण के कहने का तात्पर्य यह है कि पहली बार मैं सीता को लाकर छोड़ गया था, अब सीता तथा उनकी सन्तान नष्ट हो गई,

हा ! सुष्ठु खल्विदमुच्यते[3]

प्रमादः सम्पदं हन्ति प्रश्रयं हन्ति विस्मयः ।
व्यसनं विनयं हन्ति हन्ति शोकश्च धीरताम् ॥ २ ॥ इति ।

तथाहि—एष मन्दर-महीधर-समान-धैर्यो भगवतो वाल्मीकेरागमनमुपलभ्य तद्दर्शनार्थं गोमती-तीराश्रम-पदमुच्चलितः । सम्प्रति तामेव दिशं परित्यज्य शोकाऽऽवेग-समाक्षिप्त-हृदयो महावनाभिमुखं प्रस्थितः । ततः किमेनं सम्यग् ज्ञापयामि ? अथवा तत्किमनेन ? प्रतिहारेण धावितं मार्गमादेशयामि, यथाऽयमचेतयन्नेव वाल्मीकेराश्रममनुप्राप्नोति । इत इत आर्यः ।[1]

केवल राम बचे हैं, सो उन्हें भी यहाँ लाकर कहीं छोड़कर चला जाऊँगा ।

हिन्दी—पहले मैं उन निर्दोष सीता देवी को (छल-कपट से) लाकर घोर वन में छोड़ देने की इच्छा से आया था, अब मैं हतभाग्य, जो अपने बन्धुओं की विपत्ति लाने में चतुर हूँ, कुल के एकमात्र शेष रहे राम को न जाने कहाँ लेकर आया हूँ । [१]

हा ! यह ठीक ही कहा गया है—

अन्वयः—प्रमादः सम्पदं हन्ति, विस्मयः प्रश्रयं हन्ति । व्यसनं विनयं हन्ति, शोकः च धीरतां हन्ति ।

श०—प्रमादः—लापरवाही । विस्मयः—दर्प की अधिकता । प्रश्रयः—प्रीति, सद्भाव । व्यसन—मदिरा, व्यभिचार, मृगया आदि (अथवा काम-क्रोध-लोभ) आदि से आसक्ति ।

टि०—प्रमादः—प्र + मद् + घञ् ; 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । विस्मयः—वि + स्मि + अच् ; 'विस्मयो अद्भुतदर्पयोः' इति हैमः ।

हिन्दी—आलस्य धन-सम्पत्ति का नाश कर देता है, भारी घमंड प्रीति का नाश कर देता है, व्यसन नम्रता का नाश कर देता है और शोक धैर्य का नाश कर देता है । [२]

१. महीधर—पर्वत । उपलभ्य—जानकर । उच्चलितः—चले आये हैं । समाक्षिप्त—व्याकुल हुआ । ज्ञापयामि—बतलाता हूँ । धावित—भागा हुआ । अचेतयन्—न जानते हुए, बिना जाने ।

हिन्दी—तभी तो—मन्दर पर्वत के समान धीर-गम्भीर भाई जी भगवान् वाल्मीकि के आने की सूचना पाकर उनके दर्शनों की अभिलाषा से गोमती के किनारे की ओर चल पड़े हैं । अब उसी दिशा को छोड़कर, शोक की प्रबलता के कारण व्याकुल हृदय हो, महावन

रामः—(निश्वस्य)[२]

नीतस्तावन्मकर-वसतौ वन्ध्यतां शैल-सेतु-
र्देवो वह्निर्न च विगणितः शुद्धि-साक्ष्ये नियुक्तः।
इक्ष्वाकूणां भुवन-महिता सन्ततिर्नेक्षिता मे
*किं किं मोहादहमकरवं मैथिलीं तां निरस्य ॥ ३ ॥**

(परिक्रम्य)

भो भोः! कष्टम्! अतिनिरालम्बस्तपस्विन्यः प्रवासः।

(नैमिशारण्य) की ओर चल दिये हैं। तो क्या इन्हें ठीक-ठीक (मार्ग) बतला दूँ? अथवा इससे क्या लाभ? प्रतिहार बनकर मार्ग पर आगे-आगे जाकर निर्देश करता हूँ, जिससे ये अनजाने ही वाल्मीकि के आश्रम को पहुँच जायें। इधर आइए, इधर! भाई जी!

रामः—(गहरा साँस लेकर)

अन्वयः—मकर-वसतौ शैल-सेतुः तावत् वन्ध्यतां नीतः, शुद्धि-साक्ष्ये नियुक्तः देवः वह्निः न च विगणितः। भुवन-महिता इक्ष्वाकूणां सन्ततिः मे न ईक्षिता, तां मैथिलीं मोहात् निरस्य किं किम् अहम् अकरवम्?

श०—मकर-वसतिः—समुद्र। शैल-सेतुः—पत्थरों का पुल। तावत्—पहले। वन्ध्यता—निष्फलता। वह्निः—अग्नि। विगणितः—संमानित। महिता—पूजित। ईक्षिता—विचार की गई। निरस्य—निकालकर।

टि०—मकर-वसतौ—मकराणाम् वसतिः, तस्मिन् 'समुद्र में'। शैल-सेतुः—शिलानामयं शैलः (तस्येदम् पा० ४-३-१२० इत्यण्); प्रचुराः शिलाः सन्त्यत्र (ज्योत्स्नादित्वादण् वा० ५. २. १०३) शैलश्चासौ सेतुः। शुद्धि-साक्ष्ये—शुद्धौ साक्ष्यम् तत्र; साक्ष्यम्—साक्षिणः कर्म। सीता की अग्नि-परीक्षा की ओर संकेत है। भुवन-महिता—भुवनेषु (त्रिषु लोकेषु) महिता, '(तीनों) लोकों में पूजित'। मैथिलीम्—मिथिलायां भवा+अण्, 'सीता', ताम्। निरस्य—निर्+अस् 'फेंकना'+ल्यप्।

हिन्दी—पहले समुद्र पर सेतु-बन्धन निष्फल कर दिया, अग्नि-परीक्षा में नियुक्त अग्नि देवता का प्रमाण स्वीकार नहीं किया। लोक-सम्मानित इक्ष्वाकुओं की सन्तान का मैंने ध्यान नहीं किया, (सुख-दुःख की संगिनि) उस जानकी को मोह-वश निकालकर मैंने क्या-क्या (अनर्थ) कर डाला? [३]

(घूमकर)

अतिनिरालम्बः—सर्वथा आश्रय-हीन।

पातयति सा क्व दृष्टिं कस्मिन्नासाद्य चित्तमाश्वसिति ।
जीवति कथं निराशा श्वापद-भवने वने सीता ॥ ४ ॥

लक्ष्मणः—(आत्मगतम्) आर्याया विप्रवासं तनय-वैशसं च समनुचिन्त्य सुतरामयं सन्तप्यते, ततः प्रस्तावान्तरेण देवी-वृत्तान्तमपसारयामि । (प्रकाशम्) इतस्तावदवलोकयत्वार्यः ।[1]

मरकत-हरितानामम्भसामेकयोनि-
मद-कल कलहंसी-गीत-रम्योपकण्ठा ।
नलिन-वन-विकासैर्वासयन्ती दिगन्तान्
*नर-वर ! पुरतस्ते दृश्यते गोमतीयम् ॥ ५ ॥**

लक्ष्मण—ओह ! ओह ! भारी दुःख है ! बेचारी का निर्वासन ऐसा है कि कोई भी आश्रय नहीं ।

अन्वयः—सा क्व दृष्टिं पातयति, चित्तं कस्मिन् आसाद्य आश्वसिति ? श्वापद-भवने वने निराशा सीता कथं जीवति ?

श०—आसाद्य—पाकर । श्वापदः—हिंसक जन्तु ।

टि०—सा क्व दृष्टिं पातयति—मनोरञ्जन के स्थान का अभाव होने के कारण किसे देखकर अपना समय काटती होगी ? चारों ओर हिंसक जन्तुओं से घिरे रहने पर धीरज कैसे होता होगा । आसाद्य—आ + √सद् + ल्यप् 'पाकर' ।

हिन्दी—वह किस ओर दृष्टि डालती होगी ? किसे पाकर हृदय को धीरज बँधाती होगी ? पग-पग पर हिंसक जन्तुओं से घिरे वन में निराश सीता कैसे जीवित रही होगी ? [४]

१. तनय-वैशसम्—सन्तान-नाश । समनुचिन्त्य—स्मरण करके । सुतराम्—अत्यन्त । प्रस्ताव—प्रसंग । अन्तर—अन्य । उपसारयामि— दूर करता हूँ ।

तनय-वैशसम्—तनयस्य (तनययोर्वा) वैशसं (निधनम्) 'सन्तान-विनाश (का दुःख)' । वैशसम्—विशसस्य भावः; विशसतीति विशसः, देखिए, "निवर्पाणं विशसनं मारणं प्रतिघातनम् ।" इत्यमरः । प्रस्तावान्तरेण—अन्यः प्रस्तावः तेन; प्रस्तूयते इति प्रस्तावः, प्र + √स्तु + घञ् 'अवसर, प्रकरण' ।

लक्ष्मण—(स्वगत) भाभीजी के निर्वासन और उनकी गर्भस्थ संतान के नाश का स्मरण करके ये दुःखी हो रहे हैं, तो विषय बदल कर भाभीजी के प्रसंग को टालता हूँ । (प्रकट) भाईजी, तनिक इधर देखिए,

अन्वयः—मरकत-हरितानाम् अम्भसाम् एक-योनिः, मद-कल-कलहंसी-गीत-रम्योपकण्ठा दिगन्तान् वन-विकासैः वासयन्ती इव गोमती, नरवर ! ते पुरतः दृश्यते ।

रामः—(स्पर्शमभिनीय)

मुक्ता-हारा मलय-मरुतश्चन्दनं चन्द्र-पादाः
सीता-त्यागात्प्रभृति नितरां तापमेवाऽऽवहन्ति ।
अद्याकस्माद्रमयति मनो गोमती-तीर-वायु-
*र्नूनं तस्यां दिशि निवसति प्रोषिता सा वराकी ॥ ६ ॥**

श०—मरकत—पन्ना । हरित—हरा रंग । अम्भस्—जल । एक-योनिः—प्रधान कारण, मुख्य स्थान । मद—हर्ष । कल—उन्मत्त, मधुर । उपकण्ठ—समीप । दिगन्तान्—उपदिशाओं को । वासयन्ती—सुगन्धित करती हुई । पुरतः—सामने ।

टि०—मरकत-हरितानाम्—मरकतमिव हरितानाम्, देखिए, "गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः" इत्यमरः

एक-योनिः—एका (अद्वितीया) योनिः (स्थानम्) 'मुख्य स्थान' । मद-कल-कलहंसी-गीत-रम्योपकण्ठा—मदेन कलाः मदकलाः, मदकलाः याः कलहंस्याः, तासां गीतेन रम्यम् उपकण्ठं (समीपवर्ती प्रदेशः) यस्याः सा, 'मदोन्मत कलहंसियों के गीत से मनोहर निकटवर्ती प्रदेश वाली (गोमती नदी); अथवा मदेन (हर्षेण) कलं (मधुरं) यत् कलहंसीनां गीतम्, तेन रम्यः उपकण्ठः यस्याः सा, 'कलहंसियों को हर्ष से मधुर गीत द्वारा मधुर निकटवर्ती प्रदेश वाली (गोमती नदी)' । दिगन्तान्—दिशामन्तान् 'दिशा-उपदिशाओं को, अर्थात् दूर-दूर दिशाओं को' । नलिन-वन-विकासैः—नलिनानां यानि वनानि तेषां विकासैः, 'कमल-वनों के खिलने से' । वासयन्ती—√वास् १० उभय० + शतृ+ङीप्; √वस् धातु की दो संज्ञाएँ बनती हैं, वास और वासना । नरवर—नरेषु वरः, सम्बोधन, 'नर-श्रेष्ठ !'

हिन्दी—हे नर-श्रेष्ठ ! गोमती नदी तुम्हारे सामने ही दिखाई दे रही है जो पन्ने जैसे हरे रंग वाले जल की एक-मात्र स्रोत है, मदोन्मत्त कलहंसियों के गीतों से मधुर हो रहे जिसके निकटवर्ती प्रदेश हैं, और जो कमलोपवन के खिल उठने से दिशा-उपदिशाओं को सुगन्धित कर रही है । [५]

राम—(स्पर्श का अभिनय करके)

अन्वयः—सीता-त्यागात्प्रभृति मुक्ताहाराः मलय-मरुतः चन्दनं चन्द्रपादाः नितरां तापम् एव आवहन्ति । अद्य गोमती-तीर-वायुः अकस्मात् मनः रमयति, नूनं सा वराकी प्रोषिता तस्यां दिशि निवसति ।

श०—मुक्ताहाराः—मोतियों की मालाएँ । चन्द्र-पादाः—चन्द्रमा की किरणें । नितराम्—अत्यन्त । आवहन्ति—प्रदान करते हैं ।

लक्ष्मणः—अतिविषमोऽयं निम्नगावतारः, तदप्रमत्तमवतीर्यताम् । (उभाववतरणमभिनीय) (निर्वर्ण्य)[1]

यथैतान्यविरल-पद-न्यास-लाञ्छितानि सैकतानि वृन्त-मात्रावशेषतया संसूच्यमान-कुसुमापचया रोधोलताः तदालून-किसलयतया विरल-च्छाया-वनस्पतयः, तथा जानामि प्रत्यासन्न-वर्तिना मनुष्याधिवासेन भवितव्यम् । तथाहि[2]—

टि०—प्रभृति—अव्यय, प्रभृति के साथ पञ्चमी विभक्ति होती है। चन्द्रपादाः—चन्द्रस्य पादाः, देखिए, "पादो बुध्ने तुरीयांशे शैलप्रत्यन्तपर्वते । चरणे च मयूखे च ॥" इति मेदिनी ।

आवहन्ति—आ + √वह् १ पर० 'करना, उत्पन्न करना ।' 'व्रीडामावहति मे स सम्प्रति' रघु० ११. ७३; √वह् के कुछ अन्य उपसर्गों सहित भी अर्थ देखिए, उद् + √वह् 'विवाह करना'; 'पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो' रघु० ११. ५४; निर् + √वह् 'निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ।' मुद्रा० २. १८; सं + √वह् 'संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ।' शकु ३. २१

सीता-त्यागात्प्रभृति....आवहन्ति—सीता के निर्वासन से लेकर जो-जो वस्तु शान्ति प्रदान करने वाली है—जैसे मोतियों की मालाएँ, मलयवायु, चन्दन, चन्द्र-किरणें, वह-वह मेरे लिए भारी सन्तापकारी बन जाती हैं। परन्तु आज गोमती नदी की वायु सहसा मेरा मनोरंजन करने लगी है, इससे प्रतीत होता है कि वह बेचारी सीता उसी दिशा में रहती है जहाँ से यह हवा आ रही है। अन्यथा यह भी सन्तापकारी सिद्ध होती। कितना सच्चरित्र था राम का!

हिन्दी—सीता के निर्वासन से लेकर मुक्तामाला, मलयवायु, चन्द्रमा, तथा चन्द्र-किरणें सभी महासन्तापकारी बन रहे हैं। (किन्तु) आज गोमती नदी के तट की वायु सहसा (निष्कारण ही) मन को प्रसन्न कर रही है, निश्चय ही वह निर्वासित बेचारी (सीता) उसी दिशा में रहती होगी, जिसे छू कर यह हवा आई है। [६]

१. अतिविषमः—बहुत ऊबड़-खाबड़ । निम्नगावतारः—नदी की ढाल । निम्नगावतारः—निम्नगायाः (नद्याः) अवतारः; निम्नगा—निम्नं गच्छतीति ।

लक्ष्मण—नदी की यह ढाल बहुत ही ऊँची-नीची है। सावधान होकर उतरिये। (दोनों उतरने का अभिनय करके) (देखकर)

२. अविरल—घना । पद-न्यास—पद-चिह्न । लाञ्छित—चिह्नित । सैकत—रेतीला किनारा । वृन्त—डण्ठी । अपचय—तोड़ना । रोधस्—तट । आलून—तोड़ लिये गए । किसलय—कोंपल । प्रत्यासन्न—समीप ।

अभिनव-रचितानि देवतानां जल-कुसुमैर्बलिमन्ति सैकतानि ।
*इयमपि कुरुते तरङ्ग-मध्ये भुजग-वधू-ललितानि कुन्दमाला ॥ ७ ॥**

रामः—न केवलं प्रत्यासन्न-वर्तिना प्रतिस्रोतोऽपगतेनापि मनुष्या-

---

अविरल-पद-न्यास-लाञ्छितानि—अविरलाः ये पद-न्यासाः तैः लाञ्छितानि, 'घने पद-चिह्नों से चिह्नित' । सैकतानि—सिकता सन्त्यस्मिन् सैकतम्; सिकताः + अण् (मत्वर्थे अण्) । वृन्त-मात्रावशेषतया—वृन्तमात्रस्य अवशेषो वृन्त-मात्रावशेषः, तस्य भावस्तत्ता, 'केवल डण्डी मात्र शेष रह जाना,' तया । संसूच्यमान-कुसुमापचयः—संसूच्यमानाः यावत् कुसुमानाम् अपचयः यासां ताः 'फूलों के तोड़ने से सूचित' । रोधोलताः—रोधसः (तटस्य) लताः । देखिए, 'रोधः कूलं च तीरश्च प्रतीरञ्च तटं त्रिपु ।' इत्यमरः । तदालून-किसलयतया—तया आलूनानि च किसलयानि तदालूनकिसलयानि, तेषां भावस्तत्ता, तया । विरलच्छाया—विरला छाया येषां ते । वनस्पतयः—वनस्य पतिः—(पारस्कर-प्रभतीनि···पा० ६. १. १५७) पुष्प-रहित फल वाला पेड़ । देखिए,

"वनस्पतिर्ना द्रुमात्रे विना पुष्पं फलिद्रुमे ।" इति कोषः

प्रत्यासन्न-वर्तिना–प्रत्यासन्नं यथा स्यात्तथा वर्तते इति, 'निकटवर्ती', तया ।

हिन्दी—प्रतीत होता है कि यहाँ कहीं पास ही कोई बस्ती है, क्योंकि ये रेतीले किनारे पास-पास पद-चिह्नों से चिह्नित हैं, तटवर्ती लताएँ केवल डण्डी शेष रह जाने से बता रही हैं कि इनके फूल चुन लिए गये हैं, और पत्ते तोड़ लेने से इन पेड़ों की छाया छीदी हो गई है । क्योंकि,

अन्वयः—देवतानां जल-कुसुमैः सैकतानि अभिनव-रचितानि बलिमन्ति । इयमपि कुन्दमाला तरङ्ग-मध्ये भुजग-वधू-ललितानि कुरुते ।

श०—कुन्दमाला—चमेली के फूलों की माला । भुजग-वधू—साँपिन । ललितानि—विलास-क्रीड़ाएँ ।

टि०—जल-कुसुमैः—जलैः कुसुमैश्च, 'देवताओं के पूजन के निमित्त लाये गये जल व फूल द्वारा' । अभिनव-रचितानि–अभिनवं रचितानि (सुप्सुपा); 'तुरन्त की गई ।' बलिमन्ति—बलिमत् का प्रथमा बहु०, 'पूजा की बलि से युक्त' । भुजग-वधू-ललितानि—भुजग-वध्वाः (सर्पिण्याः) ललितानि (विलासचेष्टितानि), 'साँपिन की विलास-क्रीड़ाएँ'; भुजगः–भुजेन गच्छतीति ।

हिन्दी—देव-पूजन के निमित्त अर्पण किये गए जल तथा पुष्पों की बलियों से रेतीले किनारे भरपूर हो रहे हैं । यह कुन्दमाला भी लहरों के बीच साँपिन की-सी विलास क्रीड़ाएँ कर रही है । [७]

वासेन भवितव्यम् ।[1]

लक्ष्मणः—आश्चर्यमाश्चर्यम् ! एषा हि कुन्दमाला चरण-सपर्यामपि हर्तुं कामया समुद्र-गामिन्या तरङ्ग-परम्परया क्रमेण देवस्य पादान्तिक-कमुपता । अवहितं प्रेक्षणीया विरचना, तदवलोकयत्वार्यः ।[2]

(गृहीत्वोपनयति)

रामः—(निर्वर्ण्य रोमाञ्चमभिनीय) वत्स ! दृष्ट-पूर्वमिदं, कुसुम-रचना-विन्यास-कौशलम् ।[3]

लक्ष्मणः—क्व दृष्टम् ?[4]

रामः—क्व वान्यत्रेदृशस्यावस्थानम् ?[5]

---

१. प्रतिस्रोतोऽपगतेन—स्रोतः प्रतिगतं प्रतिस्रोतः, तद् अपगतेन 'नदी प्रवाह के उलट ऊपर'। प्रतिस्रोतोपगतेन में से उपगतेन शब्द पृथक् करने से संधि विचारणीय हो जाती है। मनुष्याधिवासः—मनुष्याणाम् अधिवासः; 'मनुष्यों की बस्ती'; अधिवासः–अध्युष्यते इति अधि+वस्+घञ् 'निवास' !

राम—मनुष्यों की बस्ती न केवल पास ही है, बल्कि नदी-प्रवाह से ऊपर ही है ।

२. सपर्या—पूजा । देवस्य—राम का । अन्तिक—निकट । अवहितम्–सावधान । विरचना—गूँथना ।

चरण-सपर्याम्— चरणयोः सपर्या, 'चरण-पूजन', ताम् । समुद्रगा-मिन्या–समुद्रं गन्तुं शीलमस्याः समुद्रगामिनी, तया । तरङ्ग-परम्परया—तरङ्गाणां परम्परा, 'तरंग-माला', तया । पादान्तिकम्–पादयोः अन्तिकम्, 'चरणों के समीप' । उपहृता—उप+ √हृ+क्त+टाप्, 'लाई गई' ।

लक्ष्मण—बड़ा आश्चर्य है ! यह कुन्दमाला मानो आपकी चरण-सेवा करने की इच्छा से समुद्र की ओर धीरे-धीरे जाने वाली तरंग-माला ने आपके चरणों के पास ला दी है । इसका गूँथन ध्यान से देखने योग्य है, आप भी देखिए । (माला पकड़कर लाता है)

विन्यासः—गूँथना ।

३. कुसुम-रचना-विन्यास-कौशलम्—कुसुमानां यो रचना-विन्यासः तस्य कौशलम् । दृष्ट-पूर्वम्—पूर्वं दृष्टमिति ।

राम—(देखकर रोमांच का अभिनय करके) वत्स ! माला गूँथने का यह चमत्कार पहले देखा हुआ है ।

४. लक्ष्मण—कहाँ देखा है ?

५. अवस्थानम्—स्थिति ।

लक्ष्मणः—किं देव्याम् ?[१]

रामः—अथ किम् ।[२]

लक्ष्मणः—को जानाति दुर्विदग्धः प्रजापतिः कथं कथं क्रीडतीति । गच्छत्वार्यः । इदमेव गोमती-तीरं प्रतिस्रोतोऽनुसरावः यावदस्याः कुन्दमालायाः प्रभवमासादयावः ।[३]

रामः—सुलभ-सादृश्यो लोक-सन्निवेशः । न चैतावदस्माकं भागधेयम् । इतश्चात्यन्त-विप्रकृष्टे देशे परित्यक्तायाः सीताया आगमनं न सम्भाव्यते । तथाप्यादेशय मार्गं येनेदं सलिलान्तरममुञ्चन्तौ वसतिमासादयावः ।[४]

लक्ष्मणः—एषा नदी-भूमिः कण्टकित-शर्करा-शुक्ति-पुट-दुःखसञ्चारा, तद्यथा यथा मार्गमादेशयामि तथा तथा शनैरागन्तव्यमार्येण ।[५]

रामः—एवं क्रियताम् । यद्यपीयमभिमता कुन्दमाला तथापि देवतोपहार-शंकया नोपभोगमपनीयते । (इति विमुञ्चति)[६]

राम—ऐसे (चमत्कार) की सम्भावना और कहाँ हो सकती है ?

१. लक्ष्मण—क्या भाभी जी में ?

२. राम—हाँ ।

३. दुर्विदग्धः—अविवेकी, कुटिल । प्रभवः-उद्गम ।

प्रभवम्—प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः, 'जन्म-स्थान तम्' ।

लक्ष्मण—कौन जाने कि यह कुटिल प्रजापति कैसे-कैसे खेल खेलता है । चलिए । इसी गोमती-तट के ऊपर चलते हैं और इस कुन्दमाला के उद्गम स्थान पर पहुँचते हैं ।

४. सन्निवेशः—गूँथना । विप्रकृष्ट—दूरवर्ती । आदेशय—बताओ । सलिलान्तरम्—जल की सीमा को । अमुञ्चन्तौ—बिना छोड़े ।

राम—लोगों के रचना-विन्यास में सदृशता बहुत सम्भव है । और हमारा ऐसा सौभाग्य नहीं । और इधर इतने दूरवर्ती प्रदेश में परित्यक्त सीता का आना सम्भव नहीं । तब भी तुम मार्ग बताओ कि जिससे नदी की सीमा को न छोड़ते हुए हम बस्ती को पहुँच जायें ।

५. शर्करा—बालु । शुक्तिपुट—सीपी ।

लक्ष्मण—काँटे, कंकर, सीपियों के कारण यह नदी-भूमि चलने के सर्वथा अयोग्य हो रही है, सो जैसे-जैसे मार्ग बताता हूँ वैसे-वैसे धीरे-धीरे आप चले आयें ।

६. अभिमता—अभि+मन्+क्त+टाप्, 'अभीष्ट' । देवतोपहार-शंकया—देवतायै य उपहारः तच्छंका, 'देवता को दी गई भेंट की शंका', तया ।

लक्ष्मणः—

एतां वेत्र-लतां विलङ्घ्य पदं मास्मिन् कृथाः शुक्तयो
मूर्द्धानं व्यवधाय नामय पुरो दूरावनम्रस्तरुः।
चापाग्रेण विकृष्य मुञ्च पुरतः शाखां तिरश्चीमिमा-
मुत्त्रस्यन्ति पुरा शरारु-दयिता धीरं परिक्रम्यताम्॥ ८॥

रामः—(यथोक्तं परिक्रम्य) वत्स! किमेतस्मिन् देशे भगवतो

रामः—ऐसा ही सही। यद्यपि यह कुन्दमाला मुझे प्रिय लग रही है, तब भी किसी देवता को दी गई भेंट की आशंका से मैं इसे धारण नहीं कर सकता। (ऐसा कहकर माला छोड़ देते हैं)।

अन्वयः—एतां वेत्रलतां विलङ्घ्य, शुक्तयः (इति) अस्मिन् (स्थाने) पदं मा कृथाः, पुरो दूरावनम्रः तरुः (इति) व्यवधाय मूर्द्धानं नामय। इमां तिरश्चीं शाखां चापाग्रेण विकृष्य पुरतः विमुञ्च। पुरा शरारु-दयिता उत्त्रस्यन्ति, धीरं परिक्रम्यताम्।

श०—विलङ्घ्य—लाँघिये। दूरावनम्रः—दूर तक झुका हुआ। व्यवधाय—सावधान होकर। नामय—झुका लो। तिरश्ची—टेढ़ी हो रही। चाप—धनुष। शरारु—हिंसक जीव। दयिता—प्रिया। धीरम्—धीरे-धीरे।

टि०—कृथाः—√कृ लुङ्; मा के साथ अ का लोप हुआ है। दूरावनम्रः—दूरम् अवनम्रः। व्यवधाय—वि+अव+ √धा+ल्यप्, विशेषेण अवधाय, 'बड़े सावधान होकर'। वि+अव+ √धा का अर्थ 'ढाँपना' भी होता है, 'ढाँपकर'। देखिए,

अन्तर्धा व्यवधा पुंसि त्वन्तर्धिरपवारणम्।
अपिधान-तिरोधान-पिधानाच्छादनानि च॥ इत्यमरः

तिरश्चीम्—तिर्यंच् स्त्री० द्वितीया एक०।

शरारु-दयिताः—शरारूणां दयिताः, 'हिंसक जीवों की स्त्रियाँ'। उत्त्रस्यन्ति—उद्+ √त्रस्+लृट् 'डर जायँगी'। उत्त्रस्यन्ति पुरा—पुरा तथा यावत् लट् लकार में निकट भविष्य का अर्थ प्रकट करते हैं। (यावत्पुरा-निपातयोर्लट् पा० ३.३-४) देखिए, "निकटागामिके पुरा" इत्यमरः।

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा। मेघ० ८५

लक्ष्मण—इस बेंत की लता को लांघिए, इस स्थान पर सीपी है, पर मत रखिए, सामने दूर तक झुका हुआ पेड़ है, सिर को ढाँपकर (सावधान होकर) झुका लीजिए; इस टेढ़ी शाखा को धनुष के सिरे से खींच कर हटा दीजिए, शेरनी आदि चौंक न पड़ें, धीरे-धीरे बढ़िये। [८]

वाल्मीकेराश्रम-सन्निवेशः ![1]

लक्ष्मणः—किं दृष्टमार्येण ?[2]

रामः—असौ तनुत्वादवधान-दृश्या
दिशः समाक्रामति धूम-लेखा ।
आकृष्यमाणो मृदुनाऽनिलेन
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति साम-नादः ॥ ६ ॥

लक्ष्मणः—सम्यगुपलक्षितमाऽऽर्येण । अहमप्यग्रतो गत्वा निरूपयामि । (परिक्रामन्नूरुस्तम्भमभिनीय) कथमेतस्मिन् पदोद्धारे ससाध्वसमिव मे हृदयम्, स्तम्भितावूरू, उत्क्षिप्यमाणौ चरणौ नाग्रतो भूमिं गन्तुमुत्सहेते ! तत्किमिदम् ! (विचिन्त्य) सुव्यक्तं गुरुजन-समाक्रान्तेन प्रदेशेन भवितव्यम् । अथ पदानीव लक्ष्यन्ते । (भूमिं निर्वर्णयति)[3]

---

१. सन्निवेशः—स्थान ।

राम—(उसी प्रकार चलकर) वत्स ! क्या इसी स्थान पर भगवान् वाल्मीकि का आश्रम है ?

२. लक्ष्मण—आप क्या देख रहे हैं ?

अन्वयः—तनुत्वात् अवधान-दृश्या असौ धूम-लेखा दिशः समाक्रामति । मृदुना अनिलेन आकृष्यमाणः साम-नादः श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति ।

श०—तनुत्व—सूक्ष्मत्व । अवधान—ध्यान । अनिलः—वायुः । समाक्रामति—फैल रही है । सम्मूर्च्छति—गूंज रही है, फैल रही है ।

टि०—अवधान-दृश्या—अवधानेन दृश्या, 'ध्यान से देखने योग्य' । धूम-लेखा—धूमस्य (होमधूमस्य) लेखा, '(हवन के) धूएँ की रेखा' । दिशः—समाक्रामति—सम् + आ + √क्रम् + लट् । यहाँ सम् + आ + √क्रम् आत्मनेपदी नहीं, क्योंकि इसका अर्थ यहाँ 'ऊपर जाना' नहीं, वरंच 'फैलना' है । सम्मूर्च्छति—सम् + मूर्च्छ् + लट् 'अच्छी तरह फैलाना' ।

राम—सूक्ष्म होने के कारण ध्यान से दिखाई देने वाली वह धूम-रेखा आकाश में फैल रही है । धीमी-धीमी हवा से खिंच रही साम-गान की ध्वनि कानों को मस्त बना रही है । [६]

३. सम्यक्—ठीक । उपलक्षित—अनुमान लगाया । उद्धारः—उठाना । ससाध्वसम्—भयपूर्वक । स्तम्भित—जड़ी भूत, जकड़ जाना । उत्क्षिप्यमान—उठाया गया । समाक्रान्त—क्षुण्ण, पदार्पित । ऊरु-स्तम्भम्—ऊर्वोः स्तम्भः, 'जंघाओं का जकड़ जाना' । ससाध्वसम्—साध्वसेन सह वर्तमानं यथा स्यात् तथा (बहु०) ।

रामः—किं कृतोऽयं वत्सस्य भूमि-निरूपणायामादरः ?[1]

लक्ष्मणः—एतानि नितान्त-मनोहरतया सङ्क्रान्त-चरण-तल-सौकुमार्याणि ललित-निभृत-विन्यासतया विज्ञायमान-स्त्री-पद-भावानि पुलिन-तल-सन्निवेश-पदानि दृश्यन्ते। पश्यत्वार्यः[2]—

विलास-योगेन परिश्रमेण वा
स्वभावतो वा निभृतानि मन्थरम्।
पदानि कस्याश्चिदिमानि सैकते
प्रयान्ति तुल्यं कलहंस-विभ्रमैः ॥ १० ॥

लक्ष्मण—आपने ठीक अनुमान लगाया। मैं भी आगे जाकर भली-भाँति देखता हूँ। (चलता हुआ जांघों के जकड़ जाने का अभिनय करके) पैर उठाते ही मेरा हृदय धड़क क्यों रहा है? जाँघें जकड़ी गई हैं, उठाये हुए भी पैर आगे भूमि पर पड़ना नहीं चाहते। यह क्या बात है? (सोचकर) स्पष्ट है कि किसी गुरु-जन ने इस प्रदेश में पदार्पण किया है। हाँ, पद-चिह्न-से दिखाई दे रहे हैं। (भूमि की ओर देखता है।)

१. राम—वत्स! तुम इस ज़मीन को टकटकी लगाकर किस-लिए देख रहे हो?

२. सङ्क्रान्त—अंकित। ललित—मनोहर। निभृत—गहरा। विन्यासः—पैर रखना, पैर की छाप।

लक्ष्मणः—इस रेतीले किनारे पर पद-चिह्न अंकित दिखाई देते हैं, जिनमें अत्यन्त सुन्दरता के कारण तलुओं की सुकुमारता झलक रही है, और जो मनोहर तथा गहरी छाप होने के कारण किसी स्त्री के प्रतीत होते हैं। आप भी देखें,

अन्वयः—विलास-योगेन परिश्रमेण वा स्वभावतो वा निभृतानि कस्याश्चिद् इमानि पदानि सैकते कलहंस-विभ्रमैः तुल्यं मन्थरं प्रयान्ति।

श०—विलास-योगः—हाव-भाव का सम्बन्ध। निभृत—स्थापित, धरा हुआ। विभ्रमः—हाव। मन्थरम्—धीरे-धीरे।

टि०—विलास-योगेन—विलासस्य योगः, 'हाव-भाव का सम्बन्ध, नज़ाकत भरा', तेन। विलास के लिए देखिए,

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिनः ॥ सा० द०

कल-हंस-विभ्रमैः—कलहंसानां विभ्रमः, 'कलहंसों के हाव', तैः।

लक्ष्मण के कहने का अभिप्राय यह है कि यह पद-चिह्न किसी स्त्री के

रामः—(निर्वर्ण्य सहर्षम्) वत्स ! किमुच्यते—कस्याश्चिद्—इति। ननु वक्तव्यम्—सीतायाः पदानि—इति। पश्य[1]—

समानं संस्थानं निभृत-ललिता सैव रचना
तदेवैतद्रेखा-कमल-रचितं चारु तिलकम्।
यथा चेयं दृष्टा हरति हृदयं शोक-विधुरं
*तथा ह्यस्मिन्देव्याः सपदि पदपङ्क्तिर्विनिहिता ॥ ११ ॥**

हैं क्योंकि पैरों की छाप गहरी है, जिससे स्त्री का विलास-भाव अथवा परिश्रम, वा स्वभाव प्रकट होता है। गति भी बड़ी धीरे-धीरे है। पुरुष की गति भारी और त्वरायुक्त होती है। यहाँ कवि की कल्पना में तनिक शिथिलता पाई जाती है। कलहंसों के मधुर कण्ठ का उनकी गति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। और परिश्रम अर्थात् थकान से तो पैर भारी पड़ते हैं, हल्के नहीं।

हिन्दी—रेतीले किनारे पर किसी स्त्री के यह पद-चिह्न जा रहे हैं जो हाव-भाव द्वारा न (ताकत भरा होने से), अथवा थकान के कारण, अथवा स्वभाव-वश धीरे पड़ रहे हैं, मानो कलहंस के हाव-भावमय सदृश पद-चिह्न हों। [१०]

१. राम—(देखकर प्रसन्नतापूर्वक) वत्स ! 'किसी स्त्री के' क्यों कहते हो ? कहो कि सीता के पद-चिह्न हैं। देखो,

अन्वयः—(पाद-चिह्नानां) संस्थानं समानम्, सा एव निभृत-ललिता रचना, एतद् रेखा-कमल-रचितं चारु तिलकं तत् एव, यथा च इयं पद-पंक्तिः दृष्टा शोक-विधुरं हृदयं हरति तथा देव्या अस्मिन् सपदि विनिहिता हि।

श०—संस्थानम्—आकृति। चारु—सुन्दर। सपदि—तुरन्त।

टि०—संस्थानम्—संस्थिति, आकृति। देखिए, ''संनिवेशे च संस्थानम्'' इत्यमरः। 'संस्थानमाकृतौ मृत्यौ संनिवेशे चतुष्पथे।' इति मेदिनी। रेखा-कमल-रचितम्—रेखाभिः यत् कमलं तेन रचितं तत्, 'रेखा-कमल द्वारा निर्मित'। तिलकम्—विशेषक; तिलक स्त्रियों के मस्तक पर बनाया जाता है, पैर पर नहीं। कवि का तात्पर्य यह है कि रेखा-कमल का अलंकरण ही तिलक सदृश है। शोक-विधुरं—शोकेन विधुरम् तत्, 'शोक के कारण व्याकुल'।

पद-चिह्न देखकर राम को प्रतीत होता है कि यह पद-चिह्न सीता के ही हैं। ऐसा समझने के तीन कारण हैं:—१. आकार-प्रकार सीता के पद-चिह्न जैसा ही है। २. रानियों के पदचिह्नों में जैसे रेखा-कमल बने होते हैं, वैसे ही इन पद-चिह्नों में हैं। सीता भी रानी थीं, उनके चरणों पर ऐसी रेखाएँ बनी थीं, ऐसा राम को ज्ञान था। ३. इन पद-चिह्नों को देखते ही राम को आन्तरिक हर्षोद्वेग

लक्ष्मणः—(सहर्षम्) यावदेतामेव पद-पङ्क्तिमनुसरन्तौ वाल्मीकेराश्रम-पदमनुसरावः। यथा चेयं प्रत्यग्र-निहिता पदपङ्क्तिस्तथा जानामि प्रत्यासन्न-वर्तिन्या देव्या भवितव्यमिति।[1]

(ततः प्रविशति सीता)

सीता—णिव्वत्तिदं सवणं, उवासिदा संझा, हुदो हुदवहो, ओगाहिदा भगवई भाईरही, भगवईं भाईरहीं उद्दिसिअ मह पडिण्णा सहत्थगढा कुन्दमाला समप्पिदा। दाणिं अहं उण्णद गम्भीरसीदलं लदाजालं पविसिअ अदिहिजणोपत्थाणजोग्गाइं कुसुमाइं ओचिणोमि। (प्रविष्टकेनापचयं नाटयति) [निर्वर्तितं सवनम्, उपासिता सन्ध्या, हुतो हुत-वहः, अवगाहिता भगवती भागीरथी, भगवतीं भागीरथीमुद्दिश्य मम प्रतिपन्ना स्वहस्त-ग्रथिता कुन्दमाला समर्पिता। इदानीमहमुन्नत-गम्भीर-शीतलं लता-जालं प्रविश्य अतिथिजनोपस्थान-योग्यानि कुसुमान्यवचिनोमि।][2]*

घेर लेता है।

हिन्दी—पैर की आकृति उसी जैसी है, वही गहरी और सुन्दर बनावट है, रेखा-कमल द्वारा बनाया गया यह सुन्दर तिलक भी वही है, और क्योंकि यह पद-पंक्ति को देखकर मेरा शोक-ग्रस्त हृदय तुरन्त खिंच रहा है, अतः यह सीता द्वारा इस स्थान पर अभी अंकित की गई है। [११]

१. प्रत्यग्र—नया, ताजा। देखिए, 'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः' इत्यमरः। प्रत्यासन्न—बहुत पास।

लक्ष्मण—(सहर्ष) तो इस पद-पंक्ति का अनुसरण करते हुए वाल्मीकि के आश्रम की ओर बढ़ते हैं। और यह जो पद-चिह्न बिल्कुल ताज़े हैं, मैं समझता हूँ कि भाभीजी बहुत पास ही होंगी।

(सीता का प्रवेश)

२. निर्वर्तित—निपटा दिया। सवनम्—सोमलता का निचोड़ना। हुत-वहः—अग्नि। अवगाहिता—डुबकी लगाई है। उपस्थान—सत्कार।

उपासिता—उप + √आस् १ आ० + क्त + टाप्। हुत-वहः—हुतस्य वहः; वहः—वहतीति, 'आहुतियों को ले जाती है'। 'हुत-वहः' 'हुत' का कर्म है। देखिए, 'जटा-धरः सन् जुहुधीह पावकम्।' किरात० १·४४; √हु का संज्ञा के रूप में अधिकरण में भी प्रयोग मिलता है, 'संदीप्ते हविर्जुहुधि पावके।' भट्टि० २०·११ और 'समनर्वासितं हुतं कृशानौ' कुन्दमाला ५·१।

अवगाहिता भगवती भागीरथी—महर्षि वाल्मीकि का तपोवन गंगा

(प्रविष्टकेनापचयं नाटयति)[1]

लक्ष्मणः—एषा पदपङ्क्तिः क्रमेण मार्ग-वशात् पुलिन-तलं परित्यज्य स्थलमारूढा, प्रनष्टा च। तदिदमेव पुरस्तात्सन्दृश्यमान-लता-गुल्म-प्रच्छायमतिरमणीयमध्यास्य गत-श्रमौ भगवन्तं प्राचेतसमुपसर्पावः।[2]

रामः—यदभिरुचितं भवते। (परिक्रम्योपविशतः)[3]

नदी पर था। अतः उसी बात का अभ्यास सीता के मुँह पर होने से वे यहाँ गोमती नदी को भी गंगा नदी कहती हैं। पहले बताया ही गया है कि कुश-लव तथा सीता बाल्मीकि के साथ अश्वमेध-यज्ञ पर गोमती नदी के भूमि-प्रदेश पर गये हैं। वैसे भी लोग स्नान करते समय गंगा आदि का नाम लिया करते हैं।

सीता—सोमलता निचोड़ चुकी, सन्ध्योपासना से निपट चुकी, अग्निहोत्र हो गया, गंगा देवी में डुबकी लगा ली, गंगा देवी के निमित्त अपने हाथों से गुँथी कुन्दमाला भेंट कर दी। अब मैं ऊँचे, घने, शीतल इस लता कुंज में जाकर अतिथि-जनों के सत्कार के योग्य फूल चुन लूँ।

१. प्रविष्टक—रंगमंच पर द्वार। अपचयः—बटोरना।

(प्रविष्टक द्वारा फूल चुनने का अभिनय करती हैं।)

२. मार्ग-वशात्—मार्ग के अनुसरण-वश। पुरस्तात्—सामने। गुल्म—कुंज। प्रच्छायम्—घनी छाया वाला स्थान। अध्यास्य—बैठ कर। गत-श्रमः—थकान मिटाकर। प्राचेतस्—वाल्मीकि।

प्रनष्टा—प्रणष्टा पाठ अशुद्ध है। "नशे षान्तस्य" (पा० ८. ४. ३६) द्वारा नश् का श् ष् में बदल जाने पर फिर न को ण नहीं होता। स्थलम्—स्त्रीलिंग में इस शब्द के दो रूप हैं, स्थली (अकृत्रिमा), (कृत्रिमा) स्थला। गत-श्रमौ—गतः श्रमः ययोस्तौ, 'जिन दोनों की थकान मिट गई है'। प्राचेतसः—प्रचेतसः अपत्यम्; प्रचेतस् + अण्। प्राचीन समय में प्रचेतस् एक धर्मशास्त्रज्ञ हुआ है। प्रचेतस् वरुण का नाम भी है। देखिए, 'प्रचेता वरुणः पाशी……' इत्यमरः। प्रच्छायम्—प्रकृष्टा छाया यत्र तत् 'घनी छाया वाला स्थान'। देखिए, प्रच्छाय-सुलभ-निद्रा दिवसाः परिणाम-रमणीयाः। शकु० १. ३.

लक्ष्मण—यह पद-पंक्ति मार्ग का अनुसरण करती हुई रेतीले किनारे को छोड़कर स्थल पर आ चढ़ी है और ओझल हो गई है। तो सामने दीख रहे लता-कुंज के घनी छाया वाले अति मनोहर इसी स्थान में बैठकर ठण्डे हो, भगवान् वाल्मीकि के पास चलते हैं।

३. राम—जो तुम्हारी इच्छा हो। (चलकर दोनों बैठ जाते हैं।)

रामः—(निःश्वस्य सवाष्पम्) वत्स ! वत्स[1]—

सीता—(कर्णं दत्त्वा) को गु खु एसो सअल-जलहरद्धणिदगंभीरेण सर-विसेसेण अच्चन्तदुःखभाअणं वि मे सरीरं रोमांचेदि । णिरूवेमि दाव को एसोत्ति; अहवा ण जुत्तं मम अजाणिअ परमत्थं अत्थाणे दिट्ठिं विसज्जइदुं । किं एत्थ जाणिदव्वं, णावणाहयदि मे सरीरं परपुरुस सद्दो रोमंचग्गहणेण; सुव्वत्तं सो एत्थ णिरणुक्कोसो संपत्तो । ता णिव्वण्णइस्सं । अहवा तह परंमुहे जणे एव्वं अहिमुही होमित्ति जं सच्चं अत्तणोवि अहं लज्जिदम्हि । ता ण पेक्खिस्सं । (पराङ्मुखी भूत्वा) कहं ण प्पहवामि अत्ताणअस्स, आवंजिअदि मे बलक्कारेण तहिं एव्व दिट्ठी । किं अवरं करेमि, अत्ताणअस्स राअपराहीणदाए णिओओ । (निर्वर्णयति) अहो दिट्ठोत्ति परिदोसो, चिरप्पवासोत्ति मंणू, परिक्खामोत्ति उव्वेओ, णिरणुक्कोसोत्ति अहिमाणो, चिरपरिचिदोत्ति अणुराओ, दंसणीओत्ति उक्कण्ठा, सामित्ति बहुमाणो, कुसल-वाणं तादोत्ति कुडुंबिणीसब्भावो, अवराहं पविसिदंहित्ति लज्जा; ण जाणामि अंअउत्तदंसणेण कीदिसं अवत्थं अणुभवामित्ति । [को नु खल्वेष सजल-जल-धरध्वनित-गम्भीरेण स्वर-विशेषेणात्यन्त-दुःख-भाजनमपि मे शरीरं रोमाञ्चयति । निरूपयामि तावत् क एष इति । अथवा न युक्तं मम अज्ञात्वा परमार्थमस्थाने दृष्टिं विसर्जयितुम् । किमत्र ज्ञातव्यम् ! नावना-हयति मे शरीरं पर-पुरुष-शब्दो रोमाञ्च-ग्रहणेन । सुव्यक्तं सोऽत्र निर-नुक्रोशः सम्प्राप्तः । तन्निर्वर्णयामि । अथवा तथा पराङ्मुखे जने एव-मभिमुखीभवामीति यत्सत्यमात्मनोऽपि अहं लज्जिताऽस्मि । तन्न प्रेक्षिष्ये । (पराङ्मुखी भूत्वा) कथं न प्रभवाम्यात्मनः, आवर्ज्यते मे बलात्का-रेण तत्रैव दृष्टिः । किमपरं करोमि, आत्मनो राज-पराधीनताया नियोगः । (निर्वर्णयति) अहो दृष्ट इति परितोषः, चिर-प्रवास इति मन्युः, परिक्षाम इत्युद्वेगः, निरनुक्रोश इत्यभिमानः, चिर-परिचित इत्यनुरागः, दर्शनीय इत्युत्कण्ठा, स्वामीति बहुमानः, कुशलवयोस्तात इति कुटुम्बिनी-सद्भावः, अपराधं प्रवेशिताऽस्मीति लज्जा, न जानामि आर्यपुत्र-दर्शनेन कीदृशीमवस्थामनुभवामीति ।][2]

---

१. राम—(गहरा साँस लेकर डबडबाई आँखों से) वत्स ! वत्स !!

२. ध्वनित—गर्जना । भाजन—पात्र । परमार्थः—वास्तविक वस्तु-स्थिति । अस्थान—अपात्र । अवनाहयति—बाँधता है । सुव्यक्त—सुस्पष्ट । निर्वर्तयामि—लौट जाती हूँ । पराङ्मुख—विमुख । अभिमुख—सम्मुख । प्रभवामि—समर्थ हूँ । आवर्ज्यते—खिंचता है । बलात्कार—बरबस । नियोगः—आदेश । मन्युः—क्रोध । उद्वेगः—विकलता । निरनुक्रोशः—निर्दय ।

लक्ष्मणः—किमर्थमार्यो मामकस्मादेवामन्त्र्य बाष्पायमाण-नयनस्तूष्णीमधोमुखः संवृत्तः ।[1]

रामः—निःसम्पात-विविक्तमिदमरण्यं तटरुह-तरुच्छाया-समाकीर्ण-रमणीय-सैकतां प्रसन्न-सलिल-वाहिनीं समुद्र-गामिनीं चावलोकयन्

सजल-जलधर-ध्वनित-गम्भीरेण—जलेन सह विद्यमानः सजलः, स चासौ जलधरश्च, तस्य ध्वनितं, तद्वद् गम्भीरेण ।

अवनाहयति—अव + नह् ४ उभय० 'बाँधना' + णिच् । देखिए, अपि + नह् 'विभूषणोद्भासि पिनद्ध-भोगि-वा' कुमार० ५·७२; सं + नह 'धारण करना', 'कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् । शकु० १·१८; 'नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः ।' विक्रमो ४०१ । चिर-प्रवासः—चिराय प्रवासो यस्य सः । परिक्षामः—परितः क्षामः, 'अत्यन्त क्षीण' ।

सीता—(कान लगाकर) यह कौन है जो जल-भरे बादल की गर्जना के समान गम्भीर, अपने स्वर-विशेष द्वारा मुझ दुःखिया के शरीर को भी पुलकित कर रहा है ? तो देखूँ, यह कौन है । अथवा बिना जाने मेरे लिए तत्त्व-रहित स्थान पर दृष्टि डालना ठीक नहीं । यहाँ जानना ही क्या है ? पर-पुरुष का शब्द मेरे शरीर में रोमाञ्च उत्पन्न नहीं कर सकता । सुस्पष्ट है कि वह निठुर यहाँ आ पहुँचा । तो तनिक निहार लूँ ! अथवा उस निर्मोही के लिए इतनी उतावली हो रही हूँ कि मैं मन-ही-मन लज्जा के कारण गढ़ी जा रही हूँ । तो मैं नहीं देखती । (मुँह मोड़कर) मैं अपने हृदय को बस में क्यों नहीं कर रही ? मेरी दृष्टि बरबस वहीं खिंच रही है । मैं करूँ तो क्या करूँ ? राज-पराधीनता के प्रति मेरी आत्मा का यह आदेश है । (देखती हैं) अहो, देख लिया, इससे सन्तोष है, मुझे चिरकाल के लिए निकाल दिया है, इसलिए क्रोध है, कितने दुबले हो रहे हैं, इसलिए व्याकुलता है, (राज-काज के पालन में) निठुर हैं, इसलिए मुझे गर्व है, चिरपरिचित हैं, इसलिए अनुराग है, सुन्दर हैं, इसलिए मुझे लालसा है, मेरे स्वामी हैं, इस कारण गहरा अभिमान है; कुश-लव के पिता हैं, इस कारण गृहिणी-भाव है, मुझे अपराधिनी ठहराया है, इसलिए लज्जा हो रही है । स्वामी के दर्शन द्वारा न जाने कैसी-कैसी अवस्था का मैं अनुभव कर रही हूँ ।

१. आमन्त्र्य—बुलाकर । बाष्पायमाण-नयनः—डबडबाई आँखें ।

लक्ष्मण—क्या बात है कि मुझे सहसा बुलाकर आप चुप हो गये हैं, आँखें डबडबा गई हैं और मुँह नीचे कर लिया है ?

संस्मृत्य दण्डक-वनवासमेवं वैक्लव्यमनुप्राप्तोऽस्मि।[1]

सीता—अज्जउत्त सुमरसि वणवासं, ण उण वणवासिणं जणं। [आर्य-पुत्र ! स्मरसि वनवासं, न पुनर्वन-वासिनं जनम्।][2]

लक्ष्मणः—किं तत्र दुःखैकवासे वनवासे स्मर्तव्यमिति ?[3]

रामः—वत्स लक्ष्मण ! किमेवं ब्रवीषि—दुःखैकवासे वनवासे स्मर्तव्यम्—इति। पश्य पश्य[4]—

किसलय-सुकुमारं पाणिमालम्ब्य देव्या
विविध-रति-सखीभिः सङ्कथाभिर्दिनान्ते।
चरण-गमन-वेगान्मन्थरस्य स्मरामि
*स्रुत-पयसि तटिन्याः सैकते चङ्क्रमस्य॥ १२॥**

---

१. निःसम्पातः—सञ्चार रहित। विविक्त—एकान्त। तटरुहः—तीरवर्ती।

राम—लोगों के आने-जाने के बिना यह बन बिल्कुल सुनसान हो रहा है, तीरवर्ती पेड़ों की छाया में हृदयग्राही बालू बिछ रही है और निर्मल जल वाली नदी को देखकर दण्डक-वन में रहने का स्मरण करके मेरा हृदय अधीर हो उठा है।

२. सीता—नाथ ! वनवास का स्मरण है, वनवासिनी का नहीं।

३. लक्ष्मण—दुःख-भरे उस वनवास में कौन-सी बात स्मरण करने की है ?

४. राम—वत्स लक्ष्मण ! ऐसा क्यों कहते हो कि दुःख-भरे वनवास में कौन-सी बात स्मरण करने की है ? देखो—

अन्वयः—दिनान्ते किसलय-सुकुमारं देव्याः पाणिम् आलम्ब्य विविध-रति-सखीभिः सङ्कथाभिः चरण-गमन-वेगात् स्रुत-पयसि तटिन्याः सैकते मन्थरस्य चंक्रमस्य स्मरामि।

श०—दिनान्त—सायंकाल। पाणिः—हाथ। रतिः—प्रीति, आनन्द-भोग। सङ्कथा—संलाप। स्रुत—बाहर निकला। तटिनि—नदी। मन्थर—धीमे-धीमे। चंक्रमः—भ्रमण।

टि०—किसलय-सुकुमारम्—किसलयवत् सुकुमारम्, 'नई कोंपल के समान कोमल'। विविध-रति-सखीभिः—विविधाः या रतयः, तासां सखीभिः, 'नाना प्रकार के (पूर्व) आनन्द-भोग सम्बन्धी'। चरण-गमन-वेगात्—चरणयोः गमने यो वेगः तस्मात्, 'पैरों के चलने के वेग के कारण'। स्रुत-पयसि—स्रुतं (निर्गतं) पयः यस्मात् तत् 'जिससे जल बाहर निकल रहा है,' तस्मिन्। तटिन्याः—तटमस्त्यस्याः, तट + इनि। चंक्रमस्य—√क्रम् १ आ० + घञ्, षष्ठी

सीता—अइ णिरनुक्कोस, किं एदिणा संलावट्ठाणेण असरणं दुःखिदं जणं अभिअदरं बाधेसि। [अयि निरनुक्रोश! किमेतेन संलाप-स्थानेन अशरणं दुःखितं जनमधिकतरं बाधसे ?][1]

लक्ष्मणः—आर्य! अलं शोकेन।[2]

रामः—कथं न शोचामि मन्दभाग्यः ? पश्य पश्य,

पूर्वं वन-प्रवासः पश्चाल्लङ्का ततः प्रवासोऽयम्।
आसाद्य मामधन्यं दुःखाद् दुःखं गता सीता॥ १३॥

सीता—अंअउत्त, णिव्वासिदाए असदिसं। [आर्यपुत्र! निर्वासिताया असदृशम्।][3]

रामः—हा जनक-राजपुत्रि![4]

सीता—अप्पपुण्ण भाइणीए वज्जणीअ ? [अल्प-पुण्य-भागिन्या वर्जनीय ?][5]

हिन्दी—मुझे स्मरण आ रहा है जब मैं सांझ के समय सीता का कोंपल सदृश कोमल हाथ पकड़े, नाना प्रकार के (पूर्व) आनन्द-भोग सम्बन्धी संलाप करता हुआ (गोदावरी) नदी के, पैरों के चलने की धमक से वेगपूर्वक निकले हुए जलवाले, रेतीले तट पर धीरे-धीरे घूमा करता था। [१२]

१. सीता—निठुर! इस प्रसंग को छेड़ कर मुझ अशरण दुःखिया को और दुःखी करने से क्या लाभ ?

२. लक्ष्मण—भाई जी! शोक मत करो।

राम—मैं अभागा कैसे शोक न करूँ ? देखो,

अन्वयः—पूर्वं वन-प्रवासः पश्चात् लङ्का, ततः अयं प्रवासः माम् अधन्यम् आसाद्य सीता दुःखाद् दुःखं गता।

टि०—पूर्वं वन-प्रवासः—चौदह वर्ष का वनवास; पश्चात् लङ्का—रावण द्वारा हर ले जाना; अयं प्रवासः—राम द्वारा दिया गया वनवास।

हिन्दी—(सीता को) पहले वनवास, फिर लंका (में रावण के घर रहना), और फिर यह वनवास। मुझ अभागे को पाकर सीता एक दुःख से दूसरे दुःख में धकेली जाती रही है। [१३]

३. सीता—स्वामी! जिसे स्वयं निर्वासित कर दिया, उसके लिए यह (शोक) अनुचित है।

४. राम—हाय! जानकी!

५. सीता—मेरे पुण्य कर्मों के अभाव से छिन गये नाथ!

रामः—हा ! वनवास-सहायिनि ![1]

सीता—अवि एदं ण संपदं। [अप्येतन्न सांप्रतम्।][2]

रामः—हा ! क गतासि ?[3]

सीता—जहिं मंदभाआ गच्छदि। [यत्र मन्दभाग्या गच्छति।][4]

रामः—देहि मे प्रतिवचनम्।[5]

सीता—असंभावणीए जणे कीदिसं पडिवअणं। [असम्भावनीये जने कीदृशं प्रतिवचनम् ?][6]

(रामः शोकं नाटयति)[7]

लक्ष्मणः—आर्य ! ननु विज्ञापयामि—अलं शोकेन—इति।[8]

रामः—कथं न शोचामि शोचनीयां वैदेहीम् ?[9]

सीता—अंअउत्त, मा एव्वं भण—सोअणीआ वैदेहित्ति। ण खु सो जणो सोअणिज्जो जो एव्वं वल्लहेण सोईअदि। [आर्यपुत्र, मैवं भण—शोचनीया वैदेही–इति। न खलु स जनः शोचनीयः, य एवं वल्लभेन शोच्यते।][10]

रामः—वत्स लक्ष्मण ! किं शक्यते ज्ञातुम्—क वर्तते—इति ?[11]

सीता—दिअसावसाणविणिवारिदपिअसमाअमा विअ चक्कवाई इदो एव्व पवासे वट्टामित्ति। [दिवसावसान-विनिवारित-प्रिय-समागमेव

---

१. राम—हाय ! वनवास की साथिन !

२. सीता—अब यह भी (भाग्य में) नहीं।

३. राम—हाय ! कहाँ चली गई हो ?

४. सीता—अभागिन जहाँ होती है।

५. राम—मुझे उत्तर दो।

६. असम्भावनीयः—वन्दना,सम्भाषण, सत्कार, आदि के अयोग्य।

सीता—जिसका मैं आदर-सत्कार नहीं कर सकती, उसका मैं उत्तर क्या दूँ ?

७. (राम शोक का अभिनय करते हैं।)

८. लक्ष्मण—भाई जी ! बिनती करता हूँ कि आप शोक न करें ?

९. राम—शोक करने योग्य सीता के लिए शोक कैसे न करूँ ?

१०. सीता—स्वामी देव ! ऐसे मत कहो—सीता शोक करने योग्य है। वास्तव में वह शोक किये जाने के योग्य नहीं है जिसके लिए प्रेमी तड़पता हो।

११. राम—वत्स लक्ष्मण ! क्या यह जाना जा सकता है कि वह है कहाँ।

चक्रवाकी इहैव प्रवासे वर्तत इति ।][1]

लक्ष्मणः—न शक्यते—क्व वर्तते—इति ज्ञातुम् ।[2]

रामः—उत्सादितं मया चिरकालावच्छिन्नं रघुकुलम् ।(इति रोदिति)[3]

सीता—(सशोकम्) अदिमत्तं संतवदि अंअउत्तो, किं करेमि । साहसादो तिमिददंसणं पमज्जामि अस्सुचअं । (पदमुत्क्षिप्य) अहवा जणप्पवादो रक्खिदव्वो । अंअउत्तेण जाव ण पेक्खामि दाव इदं ओसरिस्सं । कहं सोआवेअवलक्कारिदा ण प्पहवामि अप्पाणअस्स । मुणिजणसंपादसमुइदो एसो उद्देसो । अदो जइच्छागदो को वि मं पेक्खिस्सदि । ता एदिणा लदाजालपच्छण्णसुहसंचारेण मग्गेण अस्समं गदुअ कुसलवा संभावइस्सं । [अतिमात्रं सन्तपत्यार्यपुत्रः, किं करोमि ? साहसतः स्तिमित-दर्शनं, प्रमार्जयाम्यश्रु-सञ्चयम् (पदमुत्क्षिप्य) अथवा जन-प्रवादो रक्षितव्यः । आर्यपुत्रेण यावन्न प्रेक्ष्ये तावद् इतो अपसरामि। कथं शोकावेग-बलात्कारिता न प्रभवाम्यात्मनः ? मुनि-जन सम्पात-समुचित एष उद्देशः, अतो यदृच्छाऽऽगतः कोऽपि मां प्रेक्षिष्यते, तदेतेन लता-जाल-प्रच्छन्नसुखसञ्चारेण मार्गेणाश्रमं गत्वा कुश-लवौ सम्भावयामि ।][4]

---

१. दिवसावसान—दिन की समाप्ति। विनिवारितः—रोका गया ।

चक्रवाकी इव—प्रसिद्ध है कि चकवा-चकवी रात्रि के समय पृथक् हो जाते हैं और एक दूसरे के वियोग में रो-रोकर रात व्यतीत करते हैं । कहा जाता है कि एक बार कोई मुनि तपस्या में लीन था। पेड़ पर बैठा चकवा-चकवी का जोड़ा कोलाहल मचाने लगा । मुनि ने तप में विघ्न देखकर शाप दे दिया कि रात्रि के समय तुम दोनों पृथक्-पृथक् रहो । तब से दोनों किसी जलाशय व नदी तट के आमने-सामने तटों पर बैठकर रात काट देते हैं, मिल नहीं सकते । शाकुन्तल में लिखा है—

एषापि प्रियेण विना गमयति रजनी विषाद-दीर्घतराम् ।

परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती । कुमार० ४·२६

अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे ।

अननुज्ञात-सम्पर्को धारिणी रजनीव नौ ॥ मालविका ४·६

सीता—दिन छिप जाने पर मिलने में असमर्थ चकवी की भाँति वह तो यहीं निर्वासित खड़ी है ।

२. लक्ष्मण—यह जानना कठिन है कि वे इस समय कहाँ हैं ?

३. उत्सादित—नाश किया गया । अवच्छिन्न—निरन्तर ।

राम—चिरकाल से फूले-फले रघुकुल को मैंने उजाड़ दिया । (कह कर रोते हैं)

४. साहसतः—साहसपूर्वक । स्तिमित-दर्शन—(आँसुओं से)भीग रहे नेत्र।

[नाट्येनावलोकयन्ती निष्क्रान्ता

(ततः प्रविशति ऋषिः)

ऋषिः—आदिष्टोऽस्मि भगवता वाल्मीकिना–वत्स बादरायण! श्रुतं मया—लक्ष्मण-सहायो राम-भद्रस्तपोवनमिदमनुप्राप्तः—इति। स कदाचिन्माध्याह्निक-कार्य-सम्पादन-व्यग्रानस्मान् मन्यमानो बहिरवस्थितो भवेत्। तस्मात्त्वमेनमुपक्रम्य परिसमाप्त-माध्याह्निक-कार्यं दर्शनमाकाङ्क्षमाणं मामावेदय—इति। तद्यावदहमपि भगवतो वाल्मीकेरादेशाद् राममेवान्वेषयामि। (परिक्रामति)[1]

प्रमार्जयामि—पोंछती हूँ। अश्रु-सञ्चय—अश्रुधारा। बलात्कारिता—बरबस, आक्रान्त हुई। उद्देशः—प्रदेश। यदृच्छागतः—अकस्मात् आया। प्रच्छन्न—छिपा हुआ। सम्भावयामि—देख-रेख करूँ।

टि०—स्तिमित-दर्शनम्—स्तिमिते (आर्द्रे) दर्शने (नयने) येन तम्, देखिए, "आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं तिमितं स्तिमितं समुन्नमुत्तञ्च।" इत्यमरः

सीता—(शोक के साथ) स्वामी बहुत ही दुःख मान रहे हैं। क्या करूँ? साहस बटोरकर अश्रुधारा से धुँधलाई आँखों को पोंछ दूँ। (पैर उठाकर) अथवा लोक-निन्दा से बचना चाहिए। (मैं यह स्थान छोड़ दूँ) जब तक स्वामी मुझे देख न लें। शोक-प्रवाह में मैं विवश हुई जा रही हूँ, अपने-आपको वश में रखने में असमर्थ हूँ। इस स्थान पर मुनि लोग प्रायः आते-जाते रहते हैं। अतएव अकस्मात् आकर कोई भी यहाँ मुझे देख ले। अतः लता-जाल से ढँके हुए इस सरल मार्ग द्वारा आश्रम को जाकर मैं अब कुश-लव की देख-रेख करूँ।

[निहारती हुई का प्रस्थान

(ऋषि का प्रवेश)

१. लक्ष्मण-सहायः—लक्ष्मण सहित। माध्याह्निक-कार्यं—मध्याह्न का नित्य-कर्म। उपक्रम्य—पास जाकर। आकाङ्क्षमाणम्—प्रतीक्षा करते हुए को।

लक्ष्मण-सहायः—लक्ष्मणः सहायः यस्य सः।

माध्याह्निक-कार्य-सम्पादन-व्यग्रान्—अह्नो मध्यं मध्याह्नः, मध्याह्ने भवं माध्याह्निकम्, माध्याह्निकं यत्कार्यं तस्य सम्पादने व्यग्रान्। आकाङ्क्षमाणम्—आ+ √काङ्क्ष् १ परस्मैपदी है परन्तु महाकाव्यों में उभयपदी प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रभाव-वश नाटककार ने यहाँ आत्मनेपद में इसका प्रयोग किया है।

ऋषि—भगवान् वाल्मीकि ने मुझे आज्ञा दी है—;वत्स बादरायण! मैंने सुना है कि लक्ष्मण सहित राम इस तपोवन में आये हैं।

लक्ष्मणः—(विलोक्य ससम्भ्रमम्) आर्य ! तपोधनोऽयमित एवाभिवर्तते ।[1]

(रामोऽश्रूणि प्रमृज्य कृत-धैर्यः स्थितः)

ऋषिः—(निर्वर्ण्य) अये ! लता-गुल्म-प्रच्छायेऽस्मिन् पुरुष-युगलमिव । अपि नाम लक्ष्मण-सहायो रामो भवेत् (विचिन्त्य) कस्तत्र संदेहः?[2]

मन्दं वाति समीरणो न परुषा भासो निदाघार्चिषो
न त्रस्यन्ति चरन्त्यशङ्कमधुना मृग्योऽपि सिंहैः सह ।
मध्याह्नेऽपि न याति गुल्म-निकटं छाया तदध्यासिता
*व्यक्तं सोऽयमुपागतो वनमिदं रामाभिधानो हरिः ॥ १४ ॥**

वे हमें मध्याह्न के नित्य-कर्म में व्यस्त समझकर बाहर ही न ठहरे रहें। अतः तुम उनके पास जाकर कह दो कि मैं मध्याह्न का नित्य-कर्म समाप्त करके आपके दर्शनों की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।—तो मैं भी भगवान् वाल्मीकि के आदेशानुसार राम को खोजूँ । (चलता है)

१. लक्ष्मण—(देखकर व्याकुलता के साथ) भाई। यह कोई तपस्वी इधर ही चला आ रहा है।

(राम आँसू पोंछकर स्थिर होकर बैठ जाते हैं।)

२. अपि नाम—'अपि नाम' का प्रयोग सम्भावना में होता है।

ऋषि—(देखकर) अरे ! इस लता-कुञ्ज में छिपे दो पुरुष-से हैं। सम्भव है यही लक्ष्मण सहित राम हों। (सोचकर) इसमें सन्देह ही क्या है ?

अन्वयः—समीरणः मन्दं वाति, निदाघार्चिषः भासः न परुषः, अधुना मृग्यः अपि सिंहैः सह अशङ्कं चरन्ति न त्रस्यन्ति। तदध्यासिता छाया मध्याह्ने अपि गुल्म-निकटं न याति, सः अयं रामाभिधानः हरिः इदं वनम् उपागतः।

श०—समीरणः—वायु। वाति—बहती है। निदाघार्चिस्—सूर्य। भासः—किरण। परुषः—कठोर। अध्यासित—उपाश्रित। गुल्म—झाड़ी।

टि०—समीरणः—समीरयति 'ईर गतौ'। 'समीरणस्तु पवने पथिके च फणिज्जके।' इति मेदिनी। निदाघार्चिषः—निदाघाः (उष्णाः) अर्चिषो यस्य सः निदाघार्चिः,'जिसकी किरणें गरम हैं, अर्थात् सूर्य'; देखिए, उष्णदीधितिः घर्मांशुः, उष्णरश्मिः। अशङ्कम्—न शङ्का यस्यां (क्रियायां) तद्यथा तथा, 'निडर'। तदध्यासिता—तेन अध्यासिता (उपाश्रिता) 'उससे आश्रय ली गई'। सोऽयम्—लोक-प्रसिद्ध। रामाभिधानः—रामः अभिधानं यस्य सः; 'राम नामक', देखिए, "आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च।" इत्यमरः

न केवलमतिक्रान्त-मानुषेण प्रभावेण, आकारेणापि शक्यत एव निश्चेतुम्। (निर्वर्ण्य)[1]

व्यायाम-कठिनः प्रांशुः कर्णान्ताऽऽयत-लोचनः।
व्यूढोरस्को महा-बाहुर्व्यक्तं दशरथाऽऽत्मजः॥ १५॥

यहाँ नाटककार ने दिखाया है कि दैवशक्ति का प्रभाव किस प्रकार प्रकट होता है। कैसे सारी प्रकृति में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। जीव-जन्तु भी अपनी सहज-शत्रुता भूलकर शान्त-स्वभाव हो जाते हैं। ऐसे दैवांशयुक्त व्यक्ति के लिए पेड़-पौधे भी भरसक सेवा में तत्पर रहते हैं। दोपहर के समय छाया पेड़ के तने की ओर चली जाती है, परन्तु राम छाया में विराज रहे थे, अतः उन पर छाया कम नहीं हुई।

हिन्दी—वायु धीमी-धीमी चल रही है, सूर्य की किरणें तेज़ नहीं हैं, अब हरिणियाँ भी शेरों के साथ निडर घूम रही हैं, वे डरती नहीं, उस (पुरुष) के द्वारा आश्रित छाया दोपहर हो जाने पर भी झाड़ी के पास नहीं जाती। निश्चय ही वह (प्रसिद्ध) राम नामक विष्णु इस वन में पधारा है। [१४]

१. अतिक्रान्त-मानुषेण—अतिक्रान्ताः मानुषाः येन तेन; 'दिव्य प्रताप से'।

हिन्दी—केवल अलौकिक प्रभाव से ही नहीं, किन्तु आकृति से भी यही निश्चय होता है। (देखकर)

अन्वयः—व्यायाम-कठिनः, प्रांशुः, कर्णायत-लोचनः, व्यूढोरस्कः, महा-बाहुः, व्यक्तं दशरथात्मजः (वर्तते)।

श०—प्रांशुः—लम्बा। व्यूढः—फैली हुई, विशाल। उरस्—छाती।

टि०—व्यायाम-कठिनः—व्यायामेन कठिनः, (सुप्सुपा) 'शारीरिक परिश्रम द्वारा कठोर'। प्रांशुः—प्रकृष्टा अंशवः अस्य, 'लम्बा, ऊँचा'। देखिए,

"उच्च प्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे।" इत्यमरः

कर्णायत-लोचनः—कर्णान्तयोः (कर्णप्रदेशयोः) आयते लोचने यस्य सः, 'कानों तक फैली आँखों वाला'। कवि लोग सुन्दर आँखों को कानों तक लम्बा बताते हैं। देखिए, "कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने।" रघु०

व्यूढोरस्कः—व्यूढं (विपुलम्) उरो यस्य सः (उरःप्रभृतिभ्यः कप् पा० ५.४.१५१), 'विशाल-वक्ष'। महा-बाहु—महान्तौ बाहू यस्य सः, 'लम्बी भुजाओंवाला'। दशरथात्मजः—दाशरथिः, 'राम'; आत्मजः—आत्मना जायते।

हिन्दी—व्यायाम से कठोर, लम्बा, कानों तक फैली आँखें, चौड़ी छाती, लम्बी भुजाएँ—स्पष्ट है कि वह दशरथ का पुत्र राम है। [१५]

तदेनमुपगम्य यथाऽवस्थितमावेदयामि। (उपागम्य) राजन्, स्वस्ति ![1]

रामः—अभिवादये ।[2]

ऋषिः—विजयी भव ![3]

रामः—किमागमन-प्रयोजनमार्यस्य ?[4]

ऋषिः—परिसमाप्त-सकल-कर्मा भगवान् वाल्मीकिर्महाराजस्याऽऽगमनमुद्वीक्षमाणस्तिष्ठति ।[5]

रामः—(विलोक्य) अये ! अतिक्रान्तो मध्याह्नः । तथाहि[6]

प्रविश्य तरु-मूलानि नीत्वा मध्यन्दिना ऽऽतपम् ।
अध्वनीना इव छाया निर्गच्छन्ति शनैः शनैः ॥ १६ ॥

---

१. यथावस्थितम्—जैसा घटना-क्रम हुआ है ।

हिन्दी—तो इनके पास जाकर सारा वृत्तान्त कहता हूँ । (पास जाकर) राजन् ! कल्याण हो ।

२. राम—प्रणाम करता हूँ ।

३. ऋषि—विजयी बनो !

४. राम—आपने कैसे कष्ट किया ?

५. परिसमाप्त-सकल-कर्मा—परिसमाप्तानि सकलानि कर्माणि यस्य सः, 'जिनके (सन्ध्याग्निहोत्र आदि) सब नित्य-कर्म समाप्त हो गये हैं' । उद्वीक्षमाणः—उद् + √वीक्ष् १ आ + शानच्, 'प्रतीक्षा करता हुआ' ।

ऋषि—सब नित्य-कर्मों से निपटकर भगवान् वाल्मीकि आपकी प्रतीक्षा में बैठे हैं।

६. राम—अरे ! दोपहर ढल गई । क्योंकि,

अन्वयः—तरु-मूलानि प्रविश्य मध्यन्दिनातपं नीत्वा छायाः अध्वनीनाः इव शनैः शनैः निर्गच्छति ।

श०—मध्यन्दिनातपः—दोपहर की गर्मी । नीत्वा—बिताकर । अध्वनीनः—पथिक । निर्गच्छति—निकल रही है ।

टि०—तरु-मूलानि—तरूणां मूलानि', 'पेड़ों की जड़ें' । मध्यन्दिनाऽऽतपम्—मध्यन्दिनस्य आतपः—'दोपहर की गरमी', तम् । अध्वनीनाः—अध्वानमलं गच्छति (अध्वनो यत्खौ पा० ५. २. १६) बहु० । देखिए,

"अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि ।" इत्यमरः

कैसी सुन्दर और स्वाभाविक उपमा है !

हिन्दी—छाया, पथिक की भाँति, पेड़ों की जड़ों में घुसकर दोपहर की गरमी को बिताकर धीरे-धीरे बाहर निकल रही है । [१६]

अपि च

मध्याह्नार्क-मयूख-तापमधिकं तोयावगाहादयं
नीत्वा वारि-कणाऽऽर्द्र-कर्ण-पवनैराह्लाद्यमानाऽऽननः।
मन्दं मन्दमुपैति कूलमधुना वक्षः-प्रणुन्नैर्जलै-
राक्रान्तं कर-घात-झाङ्कृति-सरित्कल्लोल-चक्रः करी ॥ १७ ॥

अन्वयः—अयं करी—अधिकं मध्याह्नार्क-मयूख-तापं तोयावगाहात् नीत्वा वारि-कणार्द्र-कर्ण-पवनैः आह्लाद्यमानाननः करघात-झाङ्कृति-सरित-कल्लोल-चक्रः वक्षः-प्रणुन्नैः जलैः आक्रान्तं कूलम् अधुना मन्दं मन्दम् उपैति।

श०—करी—हाथी। अर्कः—सूर्य। मयूखः—किरण। तोयम्—जल। अवगाहः—स्नान। वारि—जल। आर्द्र—भीगा हुआ। आह्लाद्यमान—प्रसन्न। आननम्—मुँह। करः—सूँढ़। घातः–आघात। झाङ्कृतिः—'झाँ-झाँ' शब्द। कल्लोलः—तरंग। प्रणुन्नः—प्रेरित। आक्रान्त—व्याप्त। कूलम्—किनारा।

टि०—मध्याह्नार्क-मयूख-तापम्–मध्याह्नेऽर्कस्य मयूखानां तापम्, 'दोह-पर के सूर्य की किरणों की गरमी को'। तोयावगाहात्—तोयस्य अवगाहः, 'जल में स्नान', तस्मात्। वारि-कणाऽऽर्द्र-कर्ण-पवनैः—वारिणः कणैः आर्द्रौ यौ कर्णौ तयोः पवनैः, 'जल-कणों से गीले हो रहे कानों की हवा से'। आह्लाद्यमानाननः—आह्लाद्यमानम् आननं यस्य सः, 'प्रसन्न-वदन'। कर-घात-झाङ्कृति-सरित्-कल्लोल-चक्रः—करस्य घातैः या झाङ्कृतिः यत्र तादृशः सरितः कल्लोलानां चक्रं येन सः वक्षः प्रणुन्नैः- वक्षसा प्रणुन्नैः; प्रणुन्नैः—प्र+नुद्+क्त, 'तृतीया बहु० 'उछाले गये'। आक्रान्त—आ+क्रम्+१ आ०+क्त, 'व्याप्त'।

इस पद्य में नाटककार ने ग्रीष्म ऋतु में धूप से परेशान एक हाथी का वर्णन किया है। कालिदास ने भी ऐसे कई चित्रण प्रस्तुत किये हैं। देखिए,

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलित-नयना दीर्घिका-पद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थ-तापाद्वलभि-परिचय-द्वेषि-पारावतानि।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारि-यन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रस्त्वमिव नृप-गुणैर्दीप्यते सप्त-सप्तिः॥

मालविका० २. १२

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकार-मुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीर-नलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडा-वेश्मनि चैष पञ्जर-शुकः क्लान्तो जलं याचते॥

विक्रम० २. २३

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे

इति तृतीयोऽङ्कः

हुताग्नि-कल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः कलापिनः क्लान्त-शरीर-चेतसः।
न भोगिनं घ्नन्ति समीप-वर्तिनं कलाप-चक्रेषु निवेषिताननम् ॥

ऋतु० ग्रीष्म १६

विवस्वता तीक्ष्णतरांशु-मालिनां सपङ्क-तोयात्सरसोऽभितापितः।
उत्प्लुत्य भेकस्तृषितस्य भोगिनः फणातपत्रस्य तले निषीदति ॥

ऋतु० ग्रीष्म १८

हिन्दी—और भी, यह (सामने खड़ा) हाथी दोपहर की सूर्य-किरणों की गरमी को पानी में घुसे रह कर बिताकर अब जल बिन्दुओं द्वारा गीले कानों से उठी हवा के झकोरों से आनन्दित मुँहवाला सूँढ के आघात से (गोमती-) नदी की तरंग-माला में झाँ-झाँ शब्द उत्पन्न करता हुआ, छाती से फैंके गये जलों से व्याप्त (तर हुए) तीर पर धीरे-धीरे पहुँच रहा है। [१७]

[सब का प्रस्थान

तीसरा अंक समाप्त

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति तापसी-द्वयम्)

प्रथमा—हला, जण्णवेदि, रामायणसङ्गीतअणिमित्तं वंमीइतपोवणं संपत्ताए तिलुत्तमाए अहं एव्वं भणिदा—अहं पहावणिम्मिदेण सीदारूवेण रामस्स दंसणपहं ओअरिअ रामो सीदाए उवरि साणुकंपो ण वेत्ति जाणिदुं णु इच्छामि, ता तुमं रामं अण्णेसहि—त्ति। ता दंसेदु पियसही रामस्स विस्समत्थाणं। [हला! यज्ञवेदि! रामायण-सङ्गीतक-निमित्तं वाल्मीकि-तपोवनं संप्राप्तया तिलोत्तमयाऽहमेवं भणिता—अहं प्रभाव-निर्मितेन सीता-रूपेण रामस्य दर्शन-पथमवतीर्य रामः सीतायाः उपरि सानुकम्पो न वेति ज्ञातुं नु इच्छामि, तत्त्वं राममन्वेषय—इति। तद्दर्शयतु प्रिय-सखी रामस्य विश्रम-स्थानम्।][1]

---

१. संगीतक—गाना-बजाना और नाच। प्रभाव—दिव्य-शक्ति। निर्मित—रचित। दर्शन-पथ—दृष्टि-मार्ग। अवतीर्य—उतर कर; प्राप्त कर। सानुकम्पः—दयावान्। अन्वेषय—ढूँढो। विश्रम-स्थानम्—विश्राम-गृह।

रामायण-सङ्गीतक-निमित्तम्—रामायणस्य यत्सङ्गीतकम्, तन्निमित्तम्, 'रामायण के संगीत के लिए'। सङ्गीतकम्—"नृत्यं वाद्यञ्च गीतञ्च त्रयं सङ्गीतमुच्यते।" तिलोत्तमा—तिलोत्तमा एक अप्सरा थी, जिसकी प्राप्ति के लिए सुन्द-उपसुन्द का परस्पर झगड़ा हुआ। उन्हें ब्रह्मा से वर मिला था कि वे तब तक नहीं मरेंगे जब तक वे स्वयं एक दूसरे को न मारें। इस वर के कारण वे लोगों को बड़ा पीड़ित करने लगे। अन्त में इन्द्र को उनके नाश के लिए तिलोत्तमा अप्सरा को भेजना पड़ा, जिसको पाने के लिए दोनों आपस में लड़ मरे। प्रभाव-निर्मितेन—प्रभावेन (यथेष्ट-रूपादि-धारण-परिवर्तन-शक्तिना) निर्मितम्, 'नाना रूप-परिवर्तन की दिव्य शक्ति द्वारा रचित', तेन।

दर्शन-पथम्—दर्शनस्य पन्थाः, तम्। अवतीर्य—अव + तृ + ल्यप्, 'उतर कर, प्राप्त कर'। सानुकम्पः—अनुकम्पया सह वर्तमानः, 'दयावान'। विश्रम-स्थानम्—विश्रमस्य स्थानम्, 'विश्राम-गृह'; विश्रम—वि + √श्रम् ४ पर० + घञ् वा वृद्धिः; 'विश्राम' शब्द अधिक प्रचलित है।

प्रथमा—सखी! यज्ञवेदि! महर्षि वाल्मीकि के तपोवन में रामा-

यज्ञवेदिः—हला, वेदवदि, तिलुतमाए जदा एसो आलावो-पवुत्तो तदा आसण्णगुम्मलदागहणपच्छुण्णाट्ठिदेण रामवयस्सेण अंअकोसिएण सव्वं आअ-ण्णिदं। [हला! वेदवति! तिलोत्तमया यदैष आलापः प्रवृत्तस्तदाऽऽसन्न-गुल्म-लता-गहन-प्रच्छन्न-स्थितेन राम-वयस्येनार्य-कौशिकेन सर्वमा-कर्णितम्।][1]

वेदवती—अच्छाइदं खु आअरिदं! जइ गहिदसंकेअस्स तस्स अग्गदो तिलुत्तमा सीदाए चरिदाइं अणुवट्टिस्सदित्ति तदो विपरीदो उवहासो भवे। ता इमादो पिअसहिं तिलुत्तमं णिवारेमि। [अत्याहितं खलु आचरितम्! यदि गृहीत-सङ्केतस्य तस्याग्रतस्तिलोत्तमा सीतायाश्चरितानि अनुवर्तिष्यत इति ततो विपरीत उपहासो भवेत्। तदस्मात् प्रियसखीं तिलोत्तमां निवार-यामि।][2]

यण के संगीत के लिए आई तिलोत्तमा अप्सरा ने मुझे कहा—मैं दिव्य-शक्ति द्वारा सीता का रूप धारण कर श्रीराम के सामने जाकर यह जानूँगी कि सीता के लिए वे दयावान् हैं या नहीं। इसलिए तू उनको ढूँढ। तो प्रिय सखी मुझे राम का विश्राम-गृह दिखा।

१. प्रवृत्तः—प्रारम्भ किया। आसन्न—निकट। गुल्म—झाड़ी। गहन—घना। प्रच्छन्नः—छिपा हुआ। आकर्णितम्—सुन लिया।

आसन्न-गुल्म-लता-गहन-प्रच्छन्न-स्थितेन—आसन्ने गुल्मानां च गहने प्रच्छन्नम् यथा तथा स्थितेन, 'निकटवर्ती झाड़ी तथा लताओं के घने स्थान में छिपे बैठे'। राम-वयस्येन—रामस्य वयस्येन; 'राम के मित्र द्वारा'; वयस्यः—वयसा तुल्यः, वयस् + यत्, (नौवयोधर्म—पा० ४. ४. ९१), 'एक-सी आयु वाला, अर्थात् मित्र'। भवभूति ने उत्तररामचरित नाटक में विदूषक पात्र का परित्याग कर दिया है। किन्तु वाल्मीकि ने उत्तरकाण्ड (४३ सर्ग) में दिखाया है कि राम की राज-सभा में भी विदूषक (हास्यकार) लोग थे। अतः दिङ्नाग का विदूषक पात्र को स्थान देना उचित ही था।

यज्ञवेदि—सखी वेदवति! तिलोत्तमा जब यह बात कर रही थी तब पास ही घनी लता-झाड़ियों में छिपे बैठे, राम के मित्र आर्य कौशिक ने सब कुछ सुन लिया।

२. अत्याहितम्—बहुत बुरा। आचरितम्—किया। गृहीत-सङ्केतः—भेद को जानने वाला। अग्रतः—सामने। अनुवर्तिष्यते—अनुकरण करेगी।

गृहीत-सङ्केतस्य—गृहीतः सङ्केतः येन सः, 'जिसने भेद जान लिया', तम्। अनुवर्तिष्यते—अनु + √वृत् 'अनुकरण करना' + लृट्।

यज्ञवती—सहि वेदवदि, सीदा दाणिं कहि ? [सखि वेदवति ! सीतेदानीं कुत्र ?][1]

वेद्वती—सुणाहि, अज्ज सत्तमे दिवहे संपदिदाहि तपोवन-वासिणीहि विण्णविदो भअवं वंमीई—एसा णूणं अस्समदीहिआ पदुमापचयादिसु अत्तणो उपभोएसु दाणिं महाराअस्स सण्णिहाणेण परपुरुसणअणपरिखित्ता ण सक्का इत्थिआजणेण ओगाहिदुं त्ति। तदा भअवदा वंमीइणा णिज्झाणणिच्चलणअणेण मुहुत्तं णिज्झाइअ भणिदं—एदस्सिं दीहिआए वट्टमाणो इत्थिआजणो पुरुसणअणाणं अगोअरो भविस्सदित्ति। तदप्पउदि सीदा रामस्स दंसणपहं परिहरन्ती दीहिआतीरे सअलं दिवअं अदिवाहेदि। [शृणु, अद्य सप्तमे दिवसे सम्पातिताभिस्तपोवन-वासिनीभिर्विज्ञापितो भगवान् वाल्मीकिः—"एषा नूनमाश्रम-दीर्घिका पद्मापचयादिषु आत्मन उपभोगेषु इदानीं महाराजस्य सन्निधानेन पर-पुरुष-नयन-परिक्षिप्ता न शक्या स्त्री-जनेनावगाहितुम्"—इति। तदा भगवता वाल्मीकिना निध्यान-निश्चल-नयनेन मुहूर्तं निध्याय भणितम्—"एतस्यां दीर्घिकायां वर्तमानः स्त्री-जनः पुरुष-नयनानामगोचरो भविष्यति—" इति। ततः प्रभृति सीता रामस्य दर्शन-पथं परिहरन्ती दीर्घिका-तीरे सकलं दिवसमतिवाहयति।][2]*

वेद्वती—बहुत बुरा हुआ। यदि उन (राम) के सामने, जो भेद को जान चुके हैं, तिलोत्तमा सीता के चरित्र का अनुकरण करेगी तो उलटी (उसी की) हँसी होगी। तो प्रिय सखी तिलोत्तमा को (इस हँसी से) रोक देती हूँ।

१. यज्ञवती—सखि वेदवति ! सीता अब कहाँ होगी ?

२. संपातिताभिः—इकट्ठी हुई स्त्रियों से। दीर्घिका—वापी, पुष्करिणी। पद्मापचयः—कमल-चयन। परिक्षिप्ता—व्याप्त। अवगाहितुम्—प्रवेश करने के लिए। निध्यान—योग। अतिवाहयति—व्यतीत कर देती है।

अद्य सप्तमे दिवसे—'अद्य' शब्द यहाँ 'आज से लेकर' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। देखिए,

अद्य चतुर्थेऽहनि प्रचण्डवर्मा मरिष्यति। दशकुमार० विश्रुत

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि ! तवास्मि दासः। कुमार० ५. ८६

यहाँ 'अद्य' के 'पञ्चमी' के अर्थ में प्रयुक्त होने का भाव अगले वाक्य "ततः प्रभृति सकलं दिवसमतिवाहयति" द्वारा पुष्ट होता है।

दीर्घिका—"वापी तु दीर्घिका" इत्यमरः; 'बावड़ी'। पद्मापचयादिषु—पद्मानाम् अपचयादिषु, 'कमलों के इकट्ठा करने में'। उपभोगेषु—उप +

यज्ञवती—किं जाणन्ति कुसलवा रामस्स अत्तणो अ सम्बन्धम् ? [किं जानीतः कुश-लवौ रामस्याऽऽत्मनश्च सम्बन्धम् ?][1]

वेदवती—अत्तणो बालभावेण मुणिजणस्स अ संसग्गेण मादरं वि णामदो ण जाणन्ति, किं उण दीहप्पवासविच्छिण्णं रामस्स उत्तन्तम्। [आत्मनो बाल-भावेन मुनि-जनस्य च संसर्गेण मातरमपि नामतो न जानीतः, किमुत दीर्घ-प्रवास-विच्छिन्नं रामस्य वृत्तान्तम् ?][2]

यज्ञवती—किं जाणासि रामो एत्थ तपोवणं पविसदित्ति। [किं जानासि रामः अत्र तपोवनं प्रविशतीति ?][3]

वेदवती—कुदो तस्स आअमो। [कुतस्तस्याऽऽगमः ?][4]

√भुज् ७ उभय० + घञ् सप्तमी बहु०; 'भुज् पालनाभ्यवहारयोः', 'व्यवहारों में'।

पर-पुरुष-नयन-परिक्षिप्ता—पर-पुरुषाणां नयनैः परिक्षिप्ता, 'राजपुरुषों की आँखों से घिरी'। यह 'दीर्घिका' का विशेषण है। निध्यान-निश्चल-ध्यानेन—निध्यानेन निश्चलेन नयनेन, 'समाधि द्वार निश्चल नेत्र से'। निध्याय—नि + √ध्यै १पर + ल्यप्, 'समाधि लगाकर'। परिहरन्ती—परि + √हृ १ पर० + शतृ + ङीप् 'त्याग करती हुई, बचती हुई'।

वेदवती—सुनो, एक सप्ताह हुआ कि तपोवन की सब स्त्रियों ने मिलकर भगवान् वाल्मीकि से निवेदन किया—"महाराज रामचन्द्र के समीप होने से यह बावड़ी पराये पुरुषों की दृष्टि पड़ने से स्त्रियों द्वारा कमल-फूल तोड़ने तथा स्नान आदि के योग्य नहीं रही।" तब भगवान् वाल्मीकि ने योग द्वारा निश्चल-नेत्र हो क्षण-भर ध्यान लगाकर कहा—"इस बावड़ी में आई स्त्रियाँ पुरुषों के लिए अदृश्य रहेंगी।" तब से लेकर सीता, राम की दृष्टि से बचती हुई, बावड़ी के तट पर सारा दिन व्यतीत कर देती है।

१. यज्ञवती—कुश और लव को राम के साथ अपना सम्बन्ध विदित है ?

२. दीर्घ-प्रवास-विच्छिन्नम्—दीर्घेण प्रवासेन विच्छिन्नम् 'लम्बे प्रवास के कारण पृथक् हुआ'।

वेदवती—बचपन के कारण तथा मुनि-जनों के साथ रहने से वे अपनी माताका नाम भी नहीं जानते, इतनी देर से परदेश में रहने से राम के साथ समाप्त हो चुके वृत्तान्त की तो बात ही क्या ?

३. यज्ञवती—जानती हो कि राम इसी तपोवन में आये हैं ?

४. वेदवती—उनका (यहाँ) आना कैसे हुआ ?

यज्ञवती—गच्छ तुमं तिलुत्तमाए सआसं, अहं अ सीदाए पस्सपरिवट्टिणी होमि। [गच्छ त्वं तिलोत्तमायाः सकाशम्, अहं च सीतायाः पार्श्व-परिवर्तिनी भवामि।][1]

[इति निष्क्रान्ते

प्रवेशकः

(ततः प्रविशत्युत्तरीय-कृत-प्रावरणा सीता यज्ञवती च)[2]

यज्ञवती—सहि वैदेहि, केण तुह उपदिट्टं अपुव्वं उत्तरीअजुअलधारणं? [सखि वैदेहि! केन तवोपदिष्टमपूर्वमुत्तरीय-युगल-धारणम्?][3]

सीता—अच्चन्तसीअलेण तरङ्गवाहिणा दीहेण दीहिआमारुदेण। [अत्यन्त-शीतलेन तरङ्ग-वाहिणा दीर्घेण दीर्घिका-मारुतेन।][4]

यज्ञवती—सहि, पवासविरुद्धं खु एदं सारदचंदकिरणरासिपरिपंडुरं सुरहि-बहुलामोदसमारद्धमहुअरउलसंगीदमणुहरं एदं पावरणं। [सखि! प्रवास-विरुद्धं

---

१. यज्ञवती—तुम तिलोत्तमा के पास जाओ, मैं सीता के पास जाती हूँ।

[दोनों का प्रस्थान

प्रवेशक

२. उत्तरीय-कृत-प्रावरणम्—उत्तरीये कृतं प्रावरणं यया सा, 'उत्तरीय' और 'प्रावरण' दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। "द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा। संव्यानमुत्तरीयञ्च।" इत्यमरः। 'उत्तरीय' शब्द नीचे दो स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है, 'उत्तरीय-युगल' और 'एतत्प्रावरणम्' तथा बाद के एक सन्दर्भ में 'आत्मनो दिव्यमुत्तरीयकम्'। स्वप्नवासवदत्तम् में भी प्रावारक शब्द इसी अर्थ में आया है। देखिए, "आत्मन-प्रावारकं गृहीत्वा आगमिष्यामि।" अंक ४

उत्तरीय का अर्थ है चादर, दुशाला जिससे शरीर के ऊपर का हिस्सा लपेट लिया जाता है। राम और सीता एक-दूसरे का उत्तरीय बदल लेते हैं, इससे स्पष्ट है कि स्त्री और पुरुष के उत्तरीय में कोई भेद नहीं होता था।

(दोशाला ओढ़े सीता और यज्ञवती का प्रवेश)

३. यज्ञवती—सखि वैदेहि! तुम्हें दो दोशाले ओढ़ने का यह अनूठा ढंग किसने सिखाया?

४. तरङ्ग-वाहिणा—तरङ्गेभ्यः वहति, तच्छीलः, 'तरंगों के कणों से युक्त,' तेन। मारुतः-वायु।

सीता—बावड़ी की निरन्तर चल रही हवा ने जो, तरंग-कणों से भरी होने के कारण, बहुत ठंडी हो रही है।

खल्वेतच्छारद-चन्द्र-किरण-राशि-परिपाण्डुरं सुरभि-बहुलाऽऽमोद-समारब्ध-मधु-कर-कुल-सङ्गीत-मनोहरमेतत्प्रावरणम्।][१]

सीता—सहि, जदा अहं महाराअसासणेण वणप्पवासे परिच्चत्ता चित्तऊडं परिच्चइअ दक्खिणापहं पत्थिदा तदा चिरणिवाससमुप्पण्णसहिसिणेहाए चिन्ताउलाए वणदेवदाए मायावईए सुमरणणिमित्तं चंदधवलं वासिदसुअंधं अत्तणो दिव्वं उत्तरीअअं मम पणीदं। तं अंअउत्तस्स मम वि हत्थे अच्चन्तसहीभूदं चिरदुःखसहायंत्ति एत्थ अत्ताइं साअरं धारिदं। [सखि! यदाऽहं महाराज-शासनेन वन-प्रवासे परित्यक्ता चित्रकूटं परित्यज्य दक्षिणापथं प्रस्थिता तदा चिर-निवास-समुत्पन्न-सखी-स्नेहया चिन्ताऽऽकुलया वन-देवतया मायावत्या स्मरण-निमित्तं चन्द्र-धवलं वासित-सुगन्धमात्मनो दिव्यमुत्तरीयकं मम प्रणीतम्। तदाऽऽर्यपुत्रस्य ममापि हस्तेऽत्यन्त-सखी-भूतं चिर-दुःख-सहायमिति अत्राऽऽत्मना सादरं धारितम्।][२] (इति रोदिति)

---

१. प्रवास-विरुद्धम्—प्रवासे विरुद्धम्, 'प्रवास-काल के विपरीत'। शारद-चन्द्र-किरण-राशि-परिपाण्डुरम्, 'शरत्ऋतु के चन्द्रमा के किरण-जाल के समान सफेद'। यज्ञवती कहना चाहती है कि प्रवास के समय ऐसे उजले वस्त्र पहनना ठीक नहीं। सुरभि-बहुलामोद समारब्ध-मधु-कर-कुल-संगीत-मनोहरम्—सुरभिणा यो बहुलः आमोदः तेन समारब्धं यद् मधुकर-कुलस्य संगीतं तेन मनोहरम्, 'तीव्र सौरभ की सुगन्ध से गूँज रही भ्रमर-पंक्ति के संगीत से मनोहर'; आमोदः—आसमन्तान्मोदयति, देखिए, 'आमोदो गन्धहर्षयोः।' इत्यमरः।

'प्रवास-विरुद्ध खलु....एतत्प्रावरणम्' प्रधान वाक्य है।

यज्ञवती—शरच्चन्द्र के किरण-जाल का-सा सफेद, तीव्र सौरभ की सुगन्ध से गूँज रही भ्रमर-पंक्ति के संगीत से मनोहर यह दोशाला तुम्हारी इस वियोगावस्था के विपरीत है।

२. धवल—सफेद। वासित—सुगन्धित। प्रणीतम्—भेंट किया गया। स्मरण-निमित्तम्—स्मृति के लिए।

यदाहं महाराज-शासनेन....परित्यक्ता—जब महाराज दशरथ ने चौदह वर्ष का वनवास दिया था। वासित—√वस् १० उभय० + क्त; √वस् 'रहना' १ पर० है। स्मरण-निमित्तम्—स्मरणम् एव निमित्तम्।

सीता—सखि! महाराज (दशरथ) के आदेशानुसार वनवास में (जाते समय) जब हम चित्रकूट को छोड़कर दक्षिण की ओर चले तब बहुत दिनों साथ रहने के कारण मेरी सखी वनदेवी मायावती ने, जो मेरे से स्नेह करने लगी थी, चिन्ताग्रस्त हो अपना स्मृति-चिह्न स्वरूप

यज्ञवती—सहि मा रोदी, ण हि ऐसो तपोवणवासो वणवासोत्ति पुच्चिअदि। [सखि ! मा रोदीः, न ह्येष तपोवनवासो वनवास इति प्रोच्यते।][1]

सीता—कहं ण रोइस्सं ? कहं एदं तपोवणं आअदो अंअउत्तोत्ति दिउण-विद्धारं आससअणं पत्थरेमि। एआइणी दीहिणीसासेहिं रत्तिंदिवं अदिवाहेमि। ता बलियं खु आवेअकारणं। [कथं न रोदिष्यामि ? कथमेतत्तपोवनमागत आर्यपुत्र इति द्वि-गुण-विस्तारम् आशा-शयनं प्रस्तारयामि। एकाकिनी दीर्घ-निःश्वासै रात्रिन्दिवमतिवाहयामि। तद्बलवत् खलु आवेग-कारणम्।][2]

यज्ञवती—अलक्खणीआइ एदाणि कदणाणि। तुमं एतस्सिं दीहिआतीरे विहङ्गममिहुणविंभमं अवलोअअन्ती अत्ताणं विणोदेहि। अहं वि अत्तणो णिओअं अणुचिट्ठामि। [अलक्षणीयानि एतानि कदनानि। त्वमेतस्मिन् दीर्घिका-तीरे विहङ्गम-मिथुन-विभ्रममवलोकयन्ती आत्मानं विनोदय। अहमपि आत्मनो नियोगमनुतिष्ठामि।[3] (परिक्रामति)

यह चन्द्रमा-सा उजला, सुगन्ध से सुगन्धित, दिव्य दोशाला मुझे भेंट किया था। इतने दिनों मेरे और स्वामी के हाथ में रहने से यह मुझे बड़ा प्रिय हो गया है, यह मेरे प्रवास-दुःख का साथी रहा है, इस कारण मैंने आज इसे ओढ़ लिया है। (रोती हैं)

१. मा रोदीः—अरोदीः लुङ्; मा के आगे 'अरोदीः' लुङ रूप में अट् का आगमन नहीं हुआ। देखिए, मा शुचः (पृष्ठ ४३-४४)

यज्ञवती—सखि ! रो मत। यह तपोवन का वास वनवास नहीं कहा जा सकता।

२. रात्रिन्दिवम्—रात्रौ च दिवा च (द्वन्द्व)। देखिए, व्यस्तरात्रिन्दिवस्य कुमार०। द्विगुण-विस्तारम् आशा-शयनं प्रस्तारयामि—इस स्थल के अर्थ में सन्देह है। डा० वूलनर ने भी लिखा है—प्राकृत अस्पष्ट है।

सीता—कैसे न रोऊँ ? इस तपोवन में स्वामी पधारे हैं, इससे मैं···दुगना विस्तार का आशा-शयन फैलाती हूँ। अकेली गहरे साँस ले-लेकर रात और दिन बिता देती हूँ। सो मेरे आवेग का यह भारी कारण है।

३. अलक्षणीयम्—अचिन्तनीय। कदनम्—अनर्थ। विहङ्गम—पक्षी। विभ्रमः—विलास भरी लीला। नियोगः—काम। अनुतिष्ठामि—करूँ।

कदनानि— √कद् ४आ० + णिच् + ल्युट् (अन)। देखिए, तर्हि निजे पतिजने कदनं करोषि। (उत्तर० ५·१०)। उत्तर० में 'कदन' का अर्थ 'नाश' के

सीता—(दीर्घिकामालोक्य) अइधण्णं खु एदं राअहंसमिहुणं एवं अणासादिअविरहं समाअमसुहं अणुहोदित्ति णत्थि दंपईणं मम विरहसमो उपदेस-णिउणो उपज्झायो, जेण पक्खिणो वि अण्णोण्णहिअअग्गहणसमत्थ-ललिअमहुरा चाडुप्पओअंपत्थावयन्ति। [अति-धन्यं खल्वेतद्राजहंस-मिथुन-मेवमनासादित-विरहं समागम-सुखमनुभवतीति नास्ति दम्पत्योर्मम विरह-सम उपदेश-निपुण उपाध्यायः, येन पक्षिणोऽपि अन्योऽन्य-हृदय-ग्रहण-समर्थ-ललित-मधुराश्चाटु-प्रयोगं प्रस्थापयन्ति।][1] *

यज्ञवती—(निर्वर्ण्य) जह एसो ससंम्भमतक्खणविमुत्तासणो परिग्गह-अंसदेससमुक्खित्तवक्कलो सुअसंअमणपाउधो विंमयोफुल्ललोअणो सव्वो जेव (एव्व) मुणिअणो एअमुखओ अपसरिदो तह जाणामि संपत्तेण महाराएण होदंवंति। [यथैष ससम्भ्रम-तत्क्षण-विमुक्तासनः परिग्रहांस-देश-समुत्क्षिप्त-वल्कलः श्रुत-संयमन-पावितो विस्मयोत्फुल्ल-लोचनः सर्व एव मुनि-जन एक-मुखकः अपसृतस्तथा जानामि सम्प्राप्तेन महाराजेन भवितव्यमिति।][2]

[इति निष्क्रान्ता

अर्थ में लिया गया है।

यज्ञवती—इन अनर्थों का कुछ कहा नहीं जा सकता। (अथवा ये अनर्थ होकर रहते हैं।) तू यहाँ बावड़ी के किनारे पक्षियों के जोड़ों की विलास-भरी क्रीड़ाएँ देखकर अपना मन बहला। मैं भी अपना काम देखूँ। (चलती है)

१. अनासादित—अप्राप्त। उपाध्यायः—शिक्षक। चाटु-प्रयोगः—चापलूसी। प्रस्थापयन्ति—प्रस्तुत कर रहे हैं।

सीता—(बावड़ी की ओर देखकर) राजहंसों का यह जोड़ा सचमुच बड़ा बड़भागी है, जो इस प्रकार विरह-रहित हुआ संयोग-सुख भोग रहा है। पति-पत्नी को उपदेश करने के लिए मेरे विरह के समान, योग्य शिक्षक कोई नहीं, एक-दूसरे के चित्त को चुराने में समर्थ हाव-भाव से युक्त ये पक्षी कैसी चापलूसी कर रहे हैं!

२. ससम्भ्रमम्—शीघ्र। परिग्रहः—पत्नी, शिष्य। अंस-देशः—कंधा। समुत्क्षिप्त—ओढ़ाया गया। वल्कलम्—पेड़ की छाल का वस्त्र। एक-मुखकः—एक ही ओर मुँह किये। श्रुत—वेद आदि। संयमः—आत्म-संयम। पावितः—पवित्र किया गया। अपसृतः—चल पड़ा।

ससम्भ्रम-तत्क्षण-विमुक्तासनः—ससम्भ्रमं (सत्वरं) तत्क्षणे विमुक्तम् (परित्यक्तं) आसनं येन सः, 'शीघ्र ही तत्काल जिसने अपना आसन छोड़ दिया

(ततः प्रविशति रामः सचिन्तः कण्वश्च)

कण्वः—आदिष्टोऽस्मि भगवता वाल्मीकिना—कण्व ! कण्व ! दाशरथिं नैमिषारण्य-रामणीयक-दर्शनेन विनोदय—इति । एष पुनश्चिन्ता-पराधीनत्वात् पुरोगामिनमपि मां नावगच्छति । तथाहि

है'। तत्क्षणे—तस्मिन्नेव क्षणे, 'तत्काल अथवा सुनते ही'। परिग्रहांस-देश-समुत्क्षिप्त वल्कलः—परिग्रहस्य (परिवारस्य शिष्यादेः वा) अंस-देशे समुत्क्षिप्तानि वल्कलानि येन सः,'पत्नी अथवा शिष्य आदि के कन्धों पर वल्कल संवारे'। परिग्रहस्य—परिग्रहणम् परिगृह्णाति वा परि + ग्रह् + अप् , तस्य । देखिए,

"पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहः ।" इत्यमरः

अंसः—अस्यते समाहन्यते भारादिना 'अंस समाघाते' १० उभय० । देखिए, "स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री ।" इत्यमरः

विस्मयोत्फुल्ल-लोचनः—विस्मयेन उत्फुल्ले लोचने यस्यः सः, 'आश्चर्य से विस्फारित नेत्र'। एक-मुखकः—एकस्मिन्नेव मुखं यस्य सः ।

यज्ञवर्ती—(देखकर) तत्काल शीघ्रता में अपने-अपने आसनों से उठकर अपनी पत्नियों (अथवा शिष्यों) के कन्धों पर वल्कल संवारते हुए, आश्चर्य से नेत्र फाड़े, समस्त मुनि-जन एक ही ओर मुँह किये चल पड़े हैं—विदित होता है कि महाराज पधार चुके । [प्रस्थान

(कण्व सहित चिन्ता-लीन राम का प्रवेश)

१. दाशरथिः—दशरथ का पुत्र राम । रामणीयक—सौन्दर्य । पुरोगामिन्—अग्रगामिन् । अवगच्छति—जानता है, पहचानता है ।

दाशरथिम्—दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः, तम् ; 'राम को'। रामणीयक-दर्शनेन—रमणीयस्य भावः रामणीयकम् स्वार्थे कन्; रामणीयकस्य दर्शनेन, 'सौन्दर्य दिखाकर'। चिन्ता-पराधीनत्वात्—चिन्तायां पराधीनः चिन्ता-पराधीनः, तस्य भावः, तत्त्वं तस्मात् ; पराधीनत्वात्—परस्मिन् अधि (सप्तमी शौण्डे पा० २. १. ४०)+ख (अषडक्ष—पा० ५. ४. ७), तस्य भावः, तस्मात् । 'चिन्ता में डूबे रहने से'। पुरोगामी—पुरो गच्छति+अच् (पा० ३. १. १३४) अथवा खच् (गमश्च पा० ३. २. ४७)+णिनिः (सुप्य जातौ पा० ३. २. ७८)। अवगच्छति—अव+ √गम् का अर्थ होता है 'जानना'।

कण्व—भगवान् वाल्मीकि ने मुझे आज्ञा दी है—"कण्व ! नैमिषारण्य के मनोहर दृश्य दिखलाकर राम का मनोविनोद करो।" और ये चिन्ताग्रस्त होने से मुझे आगे-आगे जा रहे को भी नहीं पहचान रहे। क्योंकि,

स्खलति मुहुरयं समेऽपि मार्गे निभृत-गतिः प्रविलम्बते विदूरात् ।
अवनत-वदनो नितान्त-रम्ये न च नयने निदधाति काननेऽस्मिन् ॥१॥

(उपसृत्य) भो राजन् !

रामः—हन्त ! वयस्य ! तापस-विरुद्धमामन्त्रणम् । अथवा वयसः परिणामेनेदमपराद्धं न भगवता ।[२]

अहं रामस्तवाभूवं त्वं मे कण्वश्च शैशवे ।
यूयमार्या वयं चाद्य राजानो वयसा कृताः ॥ २ ॥

अन्वयः—समे अपि मार्गे अयं मुहुः स्खलति, निभृत-गतिः विदूरात् प्रविलम्बते । नितान्त-रम्ये अपि अस्मिन् कानने अवनत-वदनः न च नयने निदधाति ।

श०—स्खलति—लड़खड़ाता है । निभृत-गतिः–धीमी चाल ।नितान्त–अत्यन्त । अवनत—झुका हुआ । निदधाति—स्थापित करता है ।

टि०—निभृत-गतिः– निभृता गतिः यस्य (बहु०) । विदूरात्—दूरी के अर्थ में पञ्चमी का प्रयोग होता है । (दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च पा० २. ३. ३५) दूरी के अर्थ में द्वितीया, तृतीया और पञ्चमी का प्रयोग भी होता है, विदूरम्, विदूरेण, विदूरात् । अवनत-वदनः—अवनतं वदनं यस्य सः (बहु०) ।

हिन्दी—सम-तल पथ पर भी ये बार-बार लड़खड़ा रहे हैं, तथा धीमी चाल के कारण बहुत पीछे रह जाते हैं;। इस अत्यन्त सुन्दर वन में भी मुँह नीचा किये हैं, दृष्टि नहीं डालते । [१]

(पास जाकर) राजन् !

२. हन्त—हर्ष अथवा विषाद सूचक अव्यय । वयस्य—मित्र । आमन्त्रण—सम्बोधन । परिणामः—परिपाक । अपराद्धः—अपराध किया है ।

हन्त—"हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः ।" इत्यमरः

वयस्य—वयसा तुल्यः; वयस्+यत् (नौवयोधर्म—पा० ४. ४. ९१) इसी प्रकार नाव्यम् , धर्म्यम् , तुल्यम् आदि । देखिए,

"वयस्यः स्निग्धः सवयाः अथ मित्रं सखा सुहृत् ।" इत्यमरः

राम—ओह ! मित्र ! तपस्वी को यह सम्बोधन शोभा नहीं देता । अथवा यह आयु का अपराध है, न कि आपका ।

अन्वयः—शैशवे अहं तव रामः अभूवम् , त्वं च मे कण्वः । अद्य वयसा यूयं आर्याः वयं च राजानः कृताः ।

श०—वयस्—युवावस्था ।

टि०—शैशवे—शिशोः भावः, शैशवः 'बचपन', तस्मिन् । अभूवम्—

कण्वः—अहो धीरोदात्तोयमुपालम्भः ।[1]

रामः—उच्यतां यद्विवक्षितम् ।[2]

कण्वः— *सुरभि-कुसुम-गन्धैर्वासिताशा-मुखानां*
फल-भर-नमितानां पादपानां सहस्रैः ।
विरचित-परिवेष-श्यामलोपान्त-रेखो
रमयति हृदयं ते हन्त ! कच्चिद्वनान्तः ॥ ३ ॥

√भू १ उभय० लुङ् 'था' ।

हिन्दी—बचपन में मैं तुम्हारे लिए राम था, और तुम कण्व। आज अवस्था-भेद ने तुम्हें 'आर्य' कर दिया और मुझे 'राजन्' । [२]

१. धीरोदात्तः—धीर और गंभीर । उपालम्भः—उलाहना । धीरोदात्तः—धीरश्च उदात्तश्च; धीरः—धैर्ययुक्त; उदात्तः—हृदय-ग्राही । देखिए, 'उदात्तो दातृमहतोर्हृद्ये च स्वरभिद्यपि ।' इति हैमः ।

कण्व—अहो ! कैसा धीर, गंभीर और हृदय-ग्राही उलाहना है !

२. विवक्षितम्—कहने की इच्छा, √वच्+सन्नन्त+क्त ।

राम—जो कहना चाहते हो, कहो ।

अन्वयः—सुरभि-कुसुम-गन्धैः वासित-आशा-मुखानाम् फल-भर-नमितानाम् पादपानां सहस्रैः विरचित-परिवेष-श्यामलोपान्त-रेखः वनान्तः, हन्त ! ते हृदयं रमयति कच्चित् ।

श०—आशा-मुख—दिङ्मुख, प्रदेश । सहस्र—अनन्त । परिवेष—घेरा । भर—भार । उपान्त-रेखा—सीमान्त प्रदेश । वनान्त—जंगली जमीन ।

टि०—सुरभि-कुसुम-गन्धैः—सुरभीणि च तानि कुसुमानि तेषां गन्धैः, 'सुगन्धित पुष्पों की गन्ध से ।' वासिताशा-मुखानाम्—वासितानि (सुरभितानि) आशानां (दिशां) मुखानि यैः तेषाम् । फल-भर-नमितानाम्—फलानां भरेण नमितानां, 'फलों के भार से झुके हुए (पेड़ों का)' । विरचित-परिवेष-श्यामलोपान्त-रेखः—विरचितेन परिवेषेण (परिमण्डलेन) श्यामला (कृष्णवर्णा) उपान्ते (अन्तसमीपवर्तिनी प्रदेशे) रेखा (पंक्तिः) यस्य सः । श्यामला—श्यामत्वं गुणोऽस्ति अस्येति लच्+टाप् । उपान्त-रेखा—उपान्ते रेखा । देखिए,

"परिवेषः स्यात्परिधौ परिवेषणे ।" इति रुद्रः

कण्व—मैं समझता हूँ कि (यह) वन-प्रदेश तुम्हारे हृदय को लुभा रहा है, (वह वन-प्रदेश) जिसे फल के भार से झुके सहस्रों वृक्षों की पंक्ति घेरा डाल रही है और सुगन्ध-भरे फूलों की गन्ध से चारों दिशाएँ महक रही हैं । [३]

रामः—बहुमान-निरन्तरीकृत-मानसं मा तपोवनमिदं रमयति न रमयतीति वचनावकाश एव नास्ति। पश्य[1],

दावाग्निं क्रतु-होम-पावक-धिया यूपाऽऽस्थया पादपा-
नव्यक्तं मुनि-गीत-साम-गतया भक्त्या शकुन्त-स्वनम्।
वन्यांस्तापस-गौरवेण हरिणान् संभावयन्नैमिषे
सोऽहं यन्त्रणया कथं कथमपि न्यस्यामि पादौ भुवि ॥ ४ ॥

---

१. बहुमान-निरन्तरीकृत-मानसम्—बहुना मानेन निरन्तरीकृतं (निरवकाशीकृतं) मानसं यस्य सः; निरन्तरीकृतम्—निर्गतम् अन्तरं (अवकाशः) यस्मात् तत्, अनिरन्तरं निरन्तरं कृतमिति निरन्तरीकृतम् (च्वि-समास), 'निरवकाश'।

राम—मेरा हृदय तपोवन के लिए इतने भारी आदर-सत्कार से ओत-प्रोत है कि लुभाता है या नहीं—इस बात का अवसर ही नहीं उठता। देखो,

अन्वयः—नैमिषे दावाग्निं क्रतु-होम-पावक-धिया पादपान् यूपास्थया अव्यक्तं शकुन्त-स्वनं मुनि-गीत-साम-गतया भक्त्या वन्यान् हरिणान् तापस-गौरवेण सम्भावयन् सः अहं यन्त्रणया कथं कथम् अपि पादौ भुवि न्यस्यामि।

श०—दावाग्नि—जंगल की आग। क्रतुः—यज्ञ। पावकः—आग। धीः—बुद्धि। यूपः—(बलि के लिए) यज्ञ की खूँटी। आस्था—श्रद्धा। अव्यक्तम्—अस्पष्ट। शकुन्तः—पक्षी। स्वनः—कलरव। वन्यः—जंगली। गौरवम्—सम्मान। सम्भावयन्—आदर करता हुआ। यन्त्रणा—पीड़ा, संयम। न्यस्यामि—रखता हूँ।

टि०—दावाग्निम्—जंगल में सूखे पेड़ों के परस्पर रगड़ से कभी-कभी अपने-आप ही आग लग जाती है। 'दावः' 'वन' का ही दूसरा नाम है। देखिए,

"वने च वनवह्नौ च दवो दाव इतीरितः।" इत्यमरः

क्रतु-होम-पावक-धिया—क्रतौ होमः सः क्रतुहोमः, तस्य सः पावकः, तस्य धिया, यज्ञ में (मन्त्रोच्चारणपूर्वक आह्वान की गई) अर्थात् जंगली आग में होमाग्नि की संभावना होती है; 'होमाग्नि के विचार से'। पावकः—पुनातीति, √पू ९ उभय० + ण्वुल्'। यूपास्थया—यूपे या आस्था यूपास्था, तया। शकुन्तस्वनम्—शकुन्तानां स्वनम्—'पक्षियों का कलरव'। मुनि-गीत-साम-गतया—मुनिभिः गीतं यत्साम (सामवेद) तस्मिन् गतया (भक्त्या)। तापस-गौरवेण—तापसानां गौरवेण (षष्ठी तत्पु०)। सम्भावयन्—सम् + भू + णिच् + शतृ। यन्त्रणया—ऐसी पवित्र भूमि पर पैर रखने को जी नहीं चाहता, अतः ऐसा करने

कण्व—युक्त-रूपोऽयं धर्मैक-परायणस्य महाराजस्य सकल-जगदभ्युदय-निःश्रेयस-हेतोर्निष्प्रत्यूह-तपःसिद्धि-क्षेत्रे पूर्व-राजर्षि-वंशाध्यासिते नैमिषे बहुमानः।[1]

आनाकमेक-धनुषा भुवनं विजित्य
पुण्यैर्दिवः क्रतु-शतैर्विरचय्य मार्गम्।
इक्ष्वाकवः सुत-निवेशित-राज्य-भारा
निःश्रेयसाय वनमेतदुपाश्रयन्ते ॥ ५ ॥*

में भारी संकोच होता है; वरंच मानसिक पीड़ा होती है। न्यस्यामि—√अस् ४ पर० 'फेंकना' का अर्थ नि उपसर्ग के योग से 'रखना' हो जाता है।

हिन्दी—वह मैं (तपोवन के प्रति अधिक आदर-भाव वाला) श्रद्धापूर्वक (इस) नैमिष वन में वनाग्नि को यज्ञ की होमाग्नि के विचार से, वृक्षों को (बलिदान के लिए) यज्ञ-स्तम्भ की-सी श्रद्धा से, पक्षियों का अस्पष्ट कलरव मुनियों द्वारा गाये गये सामवेद के मन्त्रों के प्रति भक्ति-भावना (और) जंगली हिरणों को तपस्वियों के प्रति गौरव सदृश सम्मान करता हुआ बड़े असमंजस-वश जैसे पृथ्वी पर पैर रखता हूँ।

१. युक्त-रूपः—समुचित। धर्मैक-परायणः—धर्म-निष्ठ। अभ्युदयः—इह-लौकिक उन्नति। निःश्रेयसम्—कल्याण, मोक्ष। निष्प्रत्यूहः—निर्विघ्न। क्षेत्रम्—स्थान। अध्यासित—सेवित।

युक्त-रूपः—अतिशयेन युक्तः, प्रशंसायां रूपम् (पा० ५-३-६६), यहाँ 'प्रशंसा' का प्रयोग श्रेष्ठता के अर्थ में हुआ है। धर्मैक-परायणस्य—धर्मः एकैकं परायणं यस्य, 'धर्म-निष्ठ'; परायणम्—परमयनम्। देखिए,

"आश्रये तत्पराभीष्टे परायणपदं विदुः।" इति शाश्वतः

सकल-जगदभ्युदय-निःश्रेयस-हेतोः—सकलानां जगतामभ्युदयस्य निःश्रेयस्य च हेतोः। निःश्रेयसम्—नितरां श्रेयः (अचतुर—पा० ५-४-७७)। निष्प्रत्यूह-तपः-सिद्धि-क्षेत्रे—प्रत्यूहेभ्यो (विघ्नेभ्यो) निर्गता निष्प्रत्यूहा, सा च तपसां सिद्धिः, तस्याः क्षेत्रे। पूर्व-राजर्षि-वंशाध्यासिते—पूर्वे ये राजर्षयः (राजानश्च ते ऋषयश्च) तेषां वंशैः अध्यासिते (सेविते)।

कण्व—परम धर्म-निष्ठ, समस्त संसार के समुन्नति और कल्याण के कारणभूत आप-सरीखे महाराज का तपश्चर्याओं के निर्विघ्न सिद्धि-क्षेत्र, तथा भूत-पूर्व राजर्षियों के वंशों द्वारा सेवित इस नैमिषारण्य में आदर-सत्कार होना बहुत उपयुक्त ही है।

अन्वयः—एक-धनुषा आनाकं भुवनं विजित्य पुण्यैः क्रतु-शतैः दिवः मार्गं

(रामः प्रणमति)

कण्वः—इदमनन्य-तपोवन-साधारणं नैमिषस्य माहात्म्यमवलोकय[1]

अस्मिन् सन्निवसन्महेश्वर-शिरस्ताराधिपज्योत्स्नया
मिश्रीभूय कवोष्णतामुपगतस्तिग्मो निदाघातपः।
न म्लानिं तरु-पल्लवेषु सरसां तोयेषु नैव क्षयं
सन्तापं न जनस्य किन्तु जनयत्यालोक-मात्रं दृशाम् ॥ ६ ॥

विरचय्य सुत-निवेषित-राज्य-भाराः इक्ष्वाकवः निःश्रेयसाय एतद् वनम् उपाश्रयन्ते।

श०—आनाकम्—स्वर्ग पर्यन्त। दिवः—स्वर्ग का। विरचय्य—बनाकर। निवेषित—सौंपा गया।

टि०—एक-धनुषा—एकेन धनुषा, 'एकमात्र धनुष द्वारा'। आनाकम्—नाकं स्वर्गमवधिकृत्य (आङ् मर्यादाऽभिविध्योः पा० १.२.१३) (अव्ययीभाव)। क्रतु-शतैः, 'अनेक यज्ञों द्वारा'। सुत-निवेषित-राज्य-भाराः—सुतेषु निवेषितः राज्यस्य भारः यैस्ते (बहु०)।

इक्ष्वाकवः—अयोध्या के सूर्य-वंश का इक्ष्वाकु एक प्रतापी राजा हुआ है। वह पहला सूर्य-वंशी राजा था और वैवस्वत मनु का पुत्र था। वृद्धावस्था में इक्ष्वाकु-वंशी वन का आश्रय लेते थे, ऐसा प्रसिद्ध है। कालिदास ने भी इसी ओर संकेत किया है। देखिए,

अथ स विषय-व्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपति-ककुदं दत्त्वा यूने सितातप-वारणम्।
मुनि-वन-तरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलित-वयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुल-व्रतम् ॥ रघु० ३.७०

निःश्रेयसाय—निःशेषेण नितरां वा श्रेयसे (कल्याणाय मोक्ष-लाभाय वा)

हिन्दी—एकमात्र धनुष द्वारा स्वर्ग पर्यन्त (इस) जगत् को जीतकर अनेक पवित्र यज्ञों से स्वर्ग का मार्ग बनाकर (तथा) राज्य-भार अपने पुत्रों को सौंपकर इक्ष्वाकुवंशी राजा पारलौकिक कल्याण (वा मोक्ष) के लिए इस वन का आश्रय लिया करते हैं।

(राम प्रणाम करते हैं।)

१. अनन्य— अद्वितीय, विलक्षण।

कण्व—अन्य तपोवनों से विलक्षण, इस नैमिषारण्य की महिमा को देखो।

अन्वयः—अस्मिन् तिग्मः निदाघातपः सन्निवसन्महेश्वर-शिरस्ताराधिप-ज्योत्स्नया मिश्रीभूय कवोष्णताम् उपगतः तरु-पल्लवेषु म्लानिं न, सरसां तोयेषु क्षयं

किञ्च—

एतस्मिन्विततावध्वरे प्रतिदिनं सान्निध्य-योगाद्धरे-
स्त्यक्त्वानन्दन-चन्दनावनि-रुहानालानतां प्रापिताः ।
बिभ्रत्युच्च-निवेशितेन नयनेनालोकनीया अमी
मत्तैरावण-कण्ठ-रज्जु-वलय-न्यास-क्षतिं पादपाः ॥ ७ ॥

न एव, जनस्य सन्तापं न, किन्तु दृशाम् आलोक-मात्रं जनयति ।

श०—तिग्मः—तेज । निदाघातपः—गरमी की धूप । सन्निवसन्—साथ वास करता हुआ । ताराधिपः—चन्द्रमा । ज्योत्स्ना—चाँदनी । मिश्री-भूय—मिलकर । कवोष्णता—कम गरमी । उपगतः—प्राप्त । म्लानिः—मुरझाना । क्षयः—नाश, सूखना । दृक्—आँख । आलोकः—प्रकाश ।

टि०—निदाघातपः—निदाघस्य आतपः (षष्ठी तत्पु०) । सन्निवसन्महेश्वर-शिरस्ताराधिप-ज्योत्स्नया—सन्निवसतो महेश्वरस्य शिरसि यः ताराधिपः तस्य ज्योत्स्नया, 'शिव के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा की चाँदनी से ।' मिश्रीभूय—अमिश्री मिश्रीभूय (च्वि समास)। कवोष्णताम्—कवोष्णस्य भावः, ताम् ; कवोष्णम्—ईषदुष्णम् , देखिए, "कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णं कदुष्णं त्रिषु तद्वति ।" इत्यमरः; ईषदर्थे (पा० ६. ३. १०५) द्वारा कादेशः, कवं चोष्णे (पा० ६. ३. १०७) द्वारा कु को कव आदेश हुआ । कोः कत्पुरुषेऽचि (पा० ६-३-१०१) द्वारा कत् आदेश भी होता है । आलोक-मात्रम्—आलोक एव ।

नैमिषारण्य में शिव का वास कहा गया है । शिव के मस्तक पर चन्द्र विराजमान है । अतः सूर्य की किरणों की उष्णता चन्द्र की किरणों की शीतलता से कम हो जाती है । इसीलिए वहाँ न तो तालाबों का पानी घटता है, और न ही पेड़ों के पत्ते झड़ते हैं । गरमी परेशान भी नहीं करती, प्रकाशमात्र ही रहता है ।

हिन्दी—गरमी की तेज धूप इस (नैमिषारण्य) में नित्य वास कर रहे शिव के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा की चाँदनी से मिलकर कम गरम रह जाने से न तो पेड़ों की कोंपलों को मुरझाती है, न तालाबों का जल सुखाती है, न लोगों को परेशान करती है, किन्तु उनकी आँखों को प्रकाश-मात्र प्रदान करती है ! [६]

अन्वयः—एतस्मिन् विततावध्वरे प्रतिदिनं हरेः सान्निध्य-योगात् नन्दन-चन्दनावनि-रुहान् त्यक्त्वा आलानतां प्रापिताः उच्च-निवेशितेन नयनेन आलोकनीयाः अमी पादपाः मत्तैरावण-कण्ठ-रज्जु-वलय-न्यास-क्षतिं बिभ्रति ।

श०—वितत—प्रवृत्त । अध्वर—यज्ञ । सान्निध्य—समीपता । हरिः—इन्द्र । अवनि-रुहः—वृक्ष । आलानता—हाथी बाँधने का खूँटा । निवेशित—

रामः—(विलोक्य) सतत-प्रवृत्त-महाध्वरेण धमारण्येन नन्दन-वनमपि विस्मारितो भगवान् पुरन्दरः ।[1]

सचकितमवधाय कर्णमस्मिन् सुर-पति-कर्षण-मन्त्र-निःस्वनेषु ।
*विरचयति शची सदैव नूनं स्रजमवधूय वियोग-वेणि-बन्धम् ॥ ८ ॥**

सञ्चारित । रज्जुः—रस्सी । वलयः—घेरा । न्यासः—बंधन । क्षतिः—घाव, चिह्न । बिभ्रति—(बहु०) धारण करते हैं ।

टि०—विततध्वरे—वितते अध्वरे, अथवा विततः अध्वराः यत्र तस्मिन्; वितत—वि+√तन् 'फैलाना'+क्त । अध्वरः—अध्वानं (स्वर्गमार्गं) राति ददातीति, अथवा ध्वरतिर्हिंसाकर्मा प्रतिषेधः यास्कः । हरेः—'हरि' इन्द्र का नाम भी है । देखिए, "हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु ।" इति विश्वः । सान्निध्य-योगात्—सान्निध्यम् एव योगः, तस्मात्; सान्निध्यम्—सन्निधिः एव सान्निध्यम् स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः । अवनि-रुहः—अवनौ रोहतीति । आलानता—आलीयते यत्र √ली ४ आ० 'श्लेषणे' +ल्युट् अधिकरणे आलानः, तस्य भावः । देखिए, "आलानं बन्धस्तम्भे" इत्यमरः । प्रापिताः—प्र+आप्+णिच्+क्त; प्रथमा बहु० । उच्च-निवेशितेन—उच्चं यथा स्यात्तथा निवेशितेन । मत्तैरावण-कण्ठ-रज्जु-वलय-न्यास-क्षतिम्—मत्तस्य ऐरावणस्य कण्ठ-रज्जूणां वलयस्य न्यासेन या क्षतिः, 'उन्मत्त ऐरावत के गले की रस्सी के बन्धन से छाल घिसने का चिह्न', ताम् । बिभ्रति—√भृ ३ उभय० 'धारण करना', लट् ।

हिन्दी—कुछ और, सतत यज्ञ में प्रवृत्त रहने से इस (नैमिष) में इन्द्र के प्रतिदिन समीप होने के कारण नन्दन-वन के चन्दन-वृक्षों को छोड़ अन्य वृक्ष बन्धन-स्तम्भ बनाये गये, आँख ऊँचे उठाकर देखे जा सकने वाले ये वृक्ष उन्मत्त ऐरावत के गले की रस्सी के कारण (छाल के छिलने के) चिह्नों को धारण कर रहे हैं । [७]

१. पुरन्दरः—पुरोऽरीणां दारयति+खच् (पूःसर्वयोर्दारिसहोः पा० ३. २. ४१) । इन्द्र के कई नाम हैं । देखिए,

"इन्द्रो मरुत्वान्मघवा बिडौजाः पाकशासनः । वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः ॥" इत्यमरः ।

राम—(देखकर) निरन्तर महायज्ञ होते रहने से इस पवित्र वन ने भगवान् इन्द्र को नन्दन वन भी भुला दिया है ।

अन्वयः—अस्मिन् सुर-पति-कर्षण-मन्त्र-निःस्वनेषु सचकितं कर्णम् अवधाय शची स्रजम् अवधूय सदैव वियोग-वेणि-बन्धं विरचयति ।

श०—सुर-पतिः—इन्द्र । कर्षणम्—आह्वान । निःस्वनः—ध्वनि,

कण्वः—इदमपरं न पश्यसि—[1]

अस्मिन् कपोल-मद-पान-समाकुलानां
विघ्नं न जातु जनयन्ति मधु-व्रतानाम् ।
साम-ध्वनि-श्रवण-दत्त मनोऽवधान-
निष्पन्द-मन्द-मद-वारण-कर्ण-तालाः ॥ ९ ॥*

उच्चारण । सचकितम्—भयपूर्वक, विस्मयपूर्वक । कर्णम् अवधाय—कान लगाकर । शची—इन्द्राणी । स्रज्—माला । अवधूय—फेंककर ।

टि०—सुरपति-कर्षण-मन्त्र-निःस्वनेषु—सुरपतिः (सुराणां पतिः) तस्य ये कर्षण-मन्त्राः तेषां निःस्वनेषु, 'इन्द्र के आह्वान के मन्त्रों के उच्चारण किये जाने पर'। अवधाय—अव + धा + √ल्यप्, 'तिरस्कारपूर्वक फेंकना।' वियोग-वेणि-बन्धम्—वियोगे वेणि-बन्धः, 'वियोग-सूचक वेणि-बन्धन'। देखिए,

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः । शकु० ७.२१

हिन्दी—इस (वन) में इन्द्र का आह्वान करने वाले मन्त्रों की ध्वनियों को कान लगाकर सुन इन्द्राणी (शृङ्गार-सूचक) माला को फेंककर वियोग-(सूचक) वेणि बाँधने लग जाती हैं। [८]

१. कण्व—यह और नहीं देखते क्या ?

अन्वयः—अस्मिन् कपोल-मद-पान-समाकुलानां मधु-व्रतानां साम-ध्वनि-श्रवण-दत्त-मनोऽवधान-निष्पन्द-मन्द-मद-वारण-कर्ण-तालाः जातु विघ्नं न जनयन्ति ।

श०—समाकुलः—व्यस्त, विह्वल । मधु-व्रतः—मधुकर, भौंरा । अवधान—एकाग्र-चित्त । निष्पन्द—निश्चेष्ट । कर्ण-तालः—(हाथी के) कान हिलाने की आवाज । जातु—कभी भी ।

टि०—कपोल-मद-पान-समाकुलानाम्—कपोलयोः यो मदः, तस्य पाने समाकुलाः, तेषाम्, 'गालों का मद चूसने में लगे (भौंरों) का'। मधुव्रतानाम्—मधु व्रतं येषां तेषाम्, 'मधु जिनका भक्ष्य है, उनका,' अर्थात् 'भौंरों का'। साम-ध्वनि-श्रवण-दत्त-मनोऽवधान-निष्पन्द-मन्द-मद-वारण-कर्ण-तालाः—साम्नां यो ध्वनिः, तस्य श्रवणे दत्तं यन्मनः तस्य अवधानेन निष्पन्दा अतएव मन्दाः ये मद-वारणानां कर्ण-तालाः ते । मनोऽवधान—अवधान शब्द ही पर्याप्त है ।

हिन्दी—इस (नैमिष वन) में साम-गान के सुनने में दत्त-चित्त होने से कुछ-कुछ मद-भरे हाथियों के निश्चेष्ट कर्ण-ताल, गालों का मद चूसने में व्यस्त भौंरों को तनिक भी विघ्न नहीं पहुँचाते । [९]

रामः—(विहस्य) किमत्राश्चर्यम्—[1]

मुनीनां साम-गीतानि पुण्यानि मधुराणि च ।
प्रवासिनामपि मनो हरन्ति किमु दन्तिनाम् ॥ १० ॥

कण्वः—(आत्मगतम्) अहो रामस्य प्रवासे महान्निर्वेदः, यदयं तिर्यग्भ्योऽपि प्रवासिन एव शून्य-हृदयानवगच्छति । (प्रकाशम्) इतस्तावदवधीयतां दृष्टिः[2]—

मुक्त्वा वसन्त-विरहेऽपि मुनि-प्रभावा-
दुन्निद्र-सान्द्र-कुसुमां सहकार-शाखाम् ।
धावन्त्यमी मधु-कराः क्रतु-होम-धूम-
*सन्त्रासिताः सरसि वारि-रुहोदराणि ॥ ११ ॥**

---

१. राम—(हँसकर) इसमें आश्चर्य कैसा ?

अन्वयः—मुनीनां पुण्यानि मधुराणि च साम-गीतानि प्रवासिनाम् अपि मनः हरन्ति दन्तिनां किमु ?

टि०—दन्तिनः—दन्तौ स्तः अस्य, दन्तिन् , 'हाथी', षष्ठी ।

हिन्दी—मुनियों के पवित्र तथा मधुर साम-गान वियोगियों तक के मन को हर लेते हैं, हाथियों की तो बात ही क्या है ? [१०]

२. निर्वेदः—खेद । तिर्यक्—पशु-पक्षी ।

अवगच्छति—अव + गम् 'जानना, समझना,' लट् ।

कण्व—(स्वगत) अहो ! प्रवास के कारण राम को कितना खेद है ? ये पशु-पक्षियों की अपेक्षा प्रवासियों को अधिक शून्य-हृदय समझते हैं । (प्रकट) तनिक इधर भी दृष्टि डालिये,

अन्वयः—क्रतु-होम-धूम-सन्त्रासिताः अमी मधुकराः वसन्त-विरहे अपि मुनि-प्रभावात् उन्निद्र-सान्द्र-कुसुमां सहकार-शाखां मुक्त्वा सरसि वारि-रुहोदराणि धावन्ति ।

श०—सन्त्रासिताः—भयभीत । मधुकराः—भौंरे । उन्निद्र—विकसित । सान्द्रम्—घना । सहकारः—आम । वारि-रुह—(नपुं०) कमल ।

टि०—क्रतु-होम-धूम-सन्त्रासिता—क्रतु-सम्बन्धी यो होमः तेन सन्त्रासितः, 'यज्ञ-सम्बन्धी होम के धुएँ से भयभीत' । मधुकराः—मधु करोति तच्छीलाः+टः (कृञो हेतु—पा० ३. २. २०)। भौंरे के कई नाम है, देखिए,

"मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालिनः ।
द्विरेफ-पुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः ॥" इत्यमरः

उन्निद्र-सान्द्र-कुसुमाम्—उन्निद्राणि सान्द्राणि च कुसुमानि यस्यांस्ताम्,

रामः—कथमनवरताहुति-संवर्द्धितो धूम-राशिर्मधुकरानिवास्मान् पर्याकुलयितुं प्रवृत्तः।[1]

(धूम-सम्बाधां नाटयति)

कण्वः—भो भोः! किं बाढं धूमेन पर्याकुलनयन इवासि संवृत्तः।[2]

रामः—*सीता-विरह-वाष्पेण क्षरता नित्य-दुःखिते।*

वाढमायासिते भूयो धूमेन मम लोचने ॥ १२ ॥

खिले हुए घनी मंजरियों वाली को'। यह सहकार-शाखाम् का विशेषण है। सहकार-शाखाम्—सहकारस्य शाखाम्। वारिरुहोदराणि—वारिरुहाणि (पद्मानि) तेषामुदराणि (कोषाः) यावत् वारिरुह के कई पर्यायवाची हैं। देखिए,

"सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्।

पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम्।" इत्यमरः

हिन्दी—यज्ञ के होम द्वारा उत्पन्न हुए धुएँ से भयभीत ये भौंरे वसन्त ऋतु के व्यतीत हो जाने पर भी मुनियों की (दिव्य) शक्ति द्वारा खिली घनी बौर वाली आम की टहनी को छोड़कर सरोवर में कमलों के कोष में छिपने के लिए भाग रहे हैं। [११]

१. अनवरतम्—सतत, निरन्तर। संवर्द्धितः—बढ़ता हुआ। पर्याकुलयितुम्—सताने के लिए।

राम—यह क्या? निरन्तर आहुतियों से बढ़ता हुआ यह धुएँ का बादल भौंरों की भाँति मुझे सताने लगा है।

(धुएँ की पीड़ा का अभिनय करते हैं।)

२. बाढम्—अधिक।

कण्व—अरे रे, क्या अधिक धुएँ से तुम्हारी आँखें व्याकुल हो गई हैं?

अन्वयः—सीता-विरह-वाष्पेण क्षरता नित्य-दुःखिते मम लोचने भूयो धूमेन बाढम् आयासिते।

श०—वाष्पः—आँसू। क्षरता—बहने से। लोचन—(नपुं०) आँख। भूयस्—फिर। आयासित—पीड़ित।

टि०—सीता-विरह-वाष्पेण—सीतायाः विरहेण यद् वाष्पम्, तेन। क्षरता—√क्षर्+शतृ+टाप्। नित्य-दुःखिते—नित्यं दुःखिते। आयासिते—आ+√यस्+णिच्+क्त।

राम—सीता के वियोग के कारण बहने वाले आँसुओं से नित्य दुःखी हो रही मेरी आँखें धुएँ से फिर बहुत पीड़ित हो उठी हैं। [१२]

कण्वः—तदेनामग्रतोवर्तिनीमाश्रम-दीर्घिकामवगाह्य शीतलेन सलिलेन क्षालित-व्यपनीत-नयन-खेदं विश्रम्य मुहूर्तमत्र तिष्ठतु। अहमपि कुलपतेरग्नि-होत्र-वेलां सन्निधानेन सम्भावयामि।[1] [इति निष्क्रान्तः

रामः—(परिक्रम्य) एतद्दीर्घिका-तीरमवतरामि। (अवतीर्य) अहो प्रसन्न-सलिलता कमलाकरस्य! (उदक-मध्ये छायां निर्वर्ण्य ससम्भ्रमम्) कथं सीताऽप्यत्रैव। (हर्ष-विस्मयं नाटयति)[2]

सीता—(विलोक्य) हद्धी हंसमिहुणदंसणवावुदाए मए अतक्किदसमाअदो अंअउत्तो ण संलक्खिदो। ता ओसरिस्सं। [हा धिक्! हंस-मिथुन-दर्शन-व्यापृतया मयाऽतर्कित-समागत आर्यपुत्रो न संलक्षितः। तदपसरामि।

(तथा करोति)[3]

---

१. दीर्घिका—बावड़ी। अवगाह्य—स्नान करके। क्षालित—धोया गया। व्यपनीत—दूर की गई। नयन-खेदः—नेत्र-पीड़ा। सन्निधानः—समीपता, उपस्थिति।

क्षालित-व्यपनीत-नयन-खेदम्—क्षालितेन व्यपनीतो नयनयोः खेदः यथा स्यात्तथा, क्रियाविशेषण। कुलपतिः—कुलपति का लक्षण इस प्रकार है:—

मुनीनां दश साहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः॥

सम्भावयामि—यहाँ पर यह शब्द ठीक प्रयुक्त नहीं हुआ।

कण्व—तो सामने विद्यमान इस आश्रम-पुष्करिणी में स्नान कर, उसके ठण्डे जल से धोकर, नेत्रपीड़ा को दूर कर, घड़ी-भर यहीं विश्राम कर लो। मैं भी कुलपति के अग्निहोत्र के समय अपनी उपस्थिति निवेदन कर दूँ।

[प्रस्थान

२. प्रसन्न—निर्मल, स्वच्छ। कमलाकरः—सरोवर। उदकम्—जल।

राम—(घूमकर) इस बावड़ी में उतरता हूँ। (उतरकर) अहो! सरोवर का जल कैसा स्वच्छ है! (जल के बीच छाया देखकर और चौंककर) यह क्या? सीता भी यहीं है। (हर्ष और विस्मय का अभिनय करते हैं।)

३. मिथुन—जोड़ा। व्यापृत—व्यग्र। अतर्कित—न सोचा गया।

सीता—(देखकर) ओह! हंसों के जोड़े को देखने में मैं इतनी तन्मय हो गई कि अकस्मात् आ पहुँचे हुए स्वामी को भी न देखा। अच्छा तो यहाँ से हट जाती हूँ।

(हट जाती हैं।)

राम:—कथमसम्भाव्यैव मां प्रस्थिता सीता।[1]

आपाण्डरेण मयि दीर्घ-वियोग-खेदं
लम्बालकेन वदनेन निवेदयन्ती।
एषा मनोरथ-शतैः सुचिरेण दृष्टा
*क्वापि प्रयाति पुनरेव विहाय सीता॥ १३॥**

तदेनामवलम्बे (बाहू प्रसार्य) नैषा वैदेही, किन्तु—[2]

वैदेह्याः क्वाऽपि गच्छन्त्या दीर्घिका-तीर-वर्त्मना।
अन्तर्गत-जलच्छाया मया सैवेति वीक्षिता॥ १४॥

तदस्याः प्रतिकृतेर्मूल-प्रकृतिमन्वेषयामि। (अन्वेषणं नाटयति) निः-

---

१. राम—मेरा स्वागत किये बिना ही सीता कैसे चली गई!

अन्वयः—आपाण्डरेण लम्बालकेन वदनेन दीर्घ-वियोग-खेदं मयि निवेदयन्ती एषा सुचिरेण मनोरथ-शतैः दृष्टा सीता पुनः एव विहाय क्व अपि प्रयाति?

श०—आपाण्डर—कुछ-कुछ पीला। लम्बालकः—लटक रही लटाओं वाला। खेदः— मानसिक पीड़ा। विहाय—छोड़कर।

टि०—आपाण्डरेण—ईषत्पाण्डरेण; ईषदर्थे अण् अथवा समन्ततः पाण्डरेण; लम्बालकेन—लम्बाः अलकाः यस्य तेन। दीर्घ-वियोग-खेदम्—दीर्घो यो वियोगः तेन यः खेदः, तम्। मनोरथ-शतैः—मनोरथानां शतैः। देखिए,

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्त्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी॥ उत्तर ३-४

हिन्दी—चिरकाल के अनन्तर सैकड़ों मनोरथों से दिखाई पड़ी यह सीता लटक रही लटों वाले, कुछ-कुछ (सर्वथा) पीले पड़े हुए मुँह से (अपनी) चिर-विरह-पीड़ा को मुझे बताती हुई, मुझे छोड़कर फिर कहीं चल दी है। [१३]

२. तो इसे पकड़ता हूँ। (बाँहें पसारकर) यह सीता नहीं, किन्तु,

अन्वयः—दीर्घिका-तीर-वर्त्मना क्व अपि गच्छन्त्याः वैदेह्याः अन्तर्गत-जलच्छाया 'सा एव' इति मया वीक्षिता।

टि०—दीर्घिका-तीर-वर्त्मना—दीर्घिकायाः तीरे यद् वर्त्म (मार्गः) तेन। अन्तर्गत-जलच्छाया—अन्तर्गता जले या छाया।

हिन्दी—बावड़ी के किनारे-किनारे के मार्ग से कहीं जा रही सीता की (बावड़ी के) जल के भीतर पड़ी छाया को देखकर मैंने 'वही है' (अर्थात् सीता ही) समझ लिया। [१४]

सम्पात-विविक्तमिदं दीर्घिका-तीरम्, बिम्बेन च बिना प्रतिबिम्बमित्य-सम्भाव्यमेतत्। किमिदम् ?[1]

सीता—पेक्खदि पडिकिदिं, कहं ण पेक्खदि मं अंअउत्तो। (विचिन्त्य) होदु विण्णादं; मुणिप्पसादो एसो तपोवणवासिणीणं एत्थिआणं एदस्सिं दीहिआतीरे पुरुसणअणाणं अगोअरदा। जदि पडिकिदिए वि अदंसणं महेसिणा आदिट्ठं भवे तदा अअं जणो अणुग्गहिदो भवे। अहं वि जाव जह एसा पडिकिदी ण दीसइ तह ओसरिस्सं। [प्रेक्षते प्रतिकृतिम्, कथं न प्रेक्षते मामार्यपुत्रः। (विचिन्त्य) भवतु, विज्ञातम्। मुनिप्रसाद एष तपोवन-वासिनीनां स्त्रीणामेतस्मिन् दीर्घिका-तीरे पुरुष-नयनानामगोचरता। यदि प्रतिकृतेरप्यदर्शनं महर्षिणा आदिष्टं भवेत् तदाऽयं जनोऽनुगृहीतो भवेत्। अहमपि तावत् यथैषा प्रतिकृतिर्न दृश्यते तथापसरामि।][2] (अपसरति)

रामः—तामेव तावत् प्रसन्न-सलिल-मध्य-वर्तिनीं प्रतिमा-सीतामवलोकयामि। (विलोक्य) कथं साऽप्यन्तर्हिता।[3] (मोहं गच्छति)

सीता—हद्धी! हद्धी! मोहं गदो अंअउत्तो। उवसप्पिस्सं। (परिक्रामति) अहवा जदि संलक्खिदो अंअउत्तो, पुणो वि कुप्पिस्सदि तदा मुणिअणा अविणीदेत्ति मं संभावइस्संति। ता गमिस्सं। (निवृत्य) अहवा ण एसो जुत्ताजुत्तविआरणस्स

---

१. प्रतिकृतिः—छाया। मूल-प्रकृतिः—मूल आकृति। निःसम्पात—आना-जाना। विविक्त—एकान्त। प्रतिबिम्ब—छाया।

हिन्दी—तो इस छाया की मूल आकृति (अर्थात् सीता) को ढूँढता हूँ। (ढूँढने का अभिनय करते हैं) यह बावड़ी का किनारा लोगों के आने-जाने के बिना सुनसान पड़ा है। परन्तु बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब का होना असम्भव है। वह क्या (रहस्य) है ?

२. स्वामी मेरी परछाईं तो देख रहे हैं, मुझे नहीं—यह क्या बात है ? (सोचकर) अच्छा समझ गई। मुनि की कृपा से इस बावड़ी के तट पर विद्यमान तपोवन में रहने वाली स्त्रियाँ पुरुषों को दृष्टिगोचर नहीं हो सकेंगी। यदि महर्षि द्वारा छाया भी अदृश हो जाने का आदेश हो तो मैं कृत-कृत्य हो जाती। मैं यहाँ से हट जाती हूँ जिससे कि यह छाया भी (उन्हें) दिखाई न पड़े। (हट जाती हैं)

३. प्रसन्न-सलिल-मध्य-वर्तिनीम्—प्रसन्नं यत्सलिलं तस्य मध्ये वर्तिनीम्। अन्तर्हिता—अन्तर् + √धा + क्त।

राम—तो स्वच्छ जल में पड़ रही सीता की परछाईं को ही देखूँ। (देखकर) यह क्या ? वह भी ओझल हो गई ! (मूर्च्छित हो जाते हैं)

कालो, कुप्पदु वा मं अज्जउत्तो, मुणिअणो वा अविणीदेत्ति संभावेदु। सव्वहा ण सक्कणोमि एदारिसावत्थं गदं अज्जउत्तं उवेक्खिदुं। (परिक्रामति) सुण्णंतु भवन्तो लोअवाला, असं अज्जउत्तेण णिव्वासिदा, संपदं अविणीददाए अज्जउत्तस्स ण सासणं खु अदिक्कमामि, किंदु सोआवेअवलक्कारिदा अत्तणो ण प्पहवन्ती ईदिसं साहसं अणुचिट्ठामि। (उपसृत्य निर्वर्ण्य) हद्धी हद्धी। परिच्चत्तचेदणो विअ अज्जउत्तो। [हा धिक्, हा धिक् मोहं गत आर्यपुत्रः। उपसर्पामि। (परिक्रामति) अथवा यदि संलक्षित आर्यपुत्रः पुनरपि कोपिष्यति तदा मुनि-जना अविनीतेति मां सम्भावयिष्यन्ति। तद् गमिष्यामि। (निवृत्य) अथवा नैष युक्तायुक्त-विचारणस्य कालः, कुप्यतु वा मामार्यपुत्रः, मुनि-जनो वाविनीतेति सम्भावयतु। सर्वथा न शक्नोमि एतादृशावस्थां गतमार्यपुत्रमुपेक्षितुम्। (परिक्रामति) शृण्वन्तु भवन्तो लोक-पालाः, अहमार्यपुत्रेण निर्वासिता साम्प्रतमविनीततयाऽऽर्यपुत्रस्य न शासनं खलु अतिक्रामामि, किन्तु शोकाऽऽवेग-बलात्कारिता आत्मनो नप्रभवन्ती ईदृशं साहसमनुतिष्ठामि (उपसृत्य निर्वर्ण्य) हा धिक्! हा धिक्! परित्यक्त-चेतन इवाऽऽर्यपुत्रः।][1] (परिष्वजते)

(रामः प्रत्यागमनं नाटयति) (सीता अपसरणं नाटयति)

रामः—कथमकस्मादेव रोमाञ्चितोऽस्मि ?[2]

सीता—तह णाम णिव्वासिदा ईदिसं साहसं अणुचिट्ठिअ जं सच्चं

---

१. अविनीता—निर्लज्ज, धृष्ट। सम्भावयिष्यन्ति—समझेंगे। बला-त्कारिता—तीव्रता।

सीता—हाय छिः छिः! स्वामी मूर्च्छित हो गये! उनके पास जाती हूँ। (जाती हैं) अथवा, यदि मेरे देखने पर वे बिगड़ उठें तो मुनि-जन मुझे ढीठ समझेंगे। तो लौट जाती हूँ। (लौटकर) अथवा यह समय उचित-अनुचित विचार करने का नहीं। मेरे स्वामी भले ही बिगड़ जायँ, मुनि-जन भले ही मुझे ढीठ समझें, मैं ऐसी दशा को प्राप्त हुए स्वामी की कदापि उपेक्षा नहीं कर सकती, (घूमती हैं) हे लोकपालो! आप सब सुनो, स्वामी ने मुझे निकाल दिया है। मैं आज निर्लज्जता के कारण स्वामी की आज्ञा-भंग कर रही हूँ, किन्तु शोक के प्रबल वेग के कारण मैं विवश हो गई हूँ और ऐसा साहस कर रही हूँ। (पास जाकर देखकर) हाय! हाय!! कैसे अचेत पड़े हैं। (आलिंगन करती हैं)
(राम सचेत होने का अभिनय करते हैं) (सीता हट जाने का अभिनय करती हैं)

२. राम—यह क्या ? शरीर अकस्मात् रोमाञ्चित हो उठा है ?

भीदंमि संवुत्ता [तथा नाम निर्वासिता ईदृशं साहसमनुष्ठाय तत्सत्यं भीताऽस्मि संवृत्ता ।][1]

राम:—(विलपन्) *गाढमालिङ्ग वैदेहि,*

सीता—अणवरद्धंमि [अनपराद्धास्मि ।][2]

राम:— *देहि मे दर्शनं प्रिये ।*

सीता—पहवदि सिद्धसासणं, किं एत्थ करेमि मंदभाआ [प्रभवति सिद्ध-शासनं किमत्र करोमि मन्द-भाग्या ?][3]

राम:—*त्यज्यतां दीर्घरोषोऽयं*

सीता—अहं वि अंअउत्तं एव्वं विण्णवेमि । [अहमप्यार्यपुत्रमेवं विज्ञापयामि ।][4]

राम:— *किं नु निष्करुणा मयि ॥ १५ ॥*

सीता—अंअउत्त, विवरीओ खु उवालम्भो । [आर्यपुत्र ! विपरीतः खलूपालम्भः ।][5]

राम:—*देवि ! विज्ञापयामि त्वां,*

सीता—अवहिदंमि एसा, आणवेहि । [अविहितास्म्येषा, आज्ञापय ।][6]

राम:— *यत्त्वं चारित्रशालिनी ।*

सीता—अहो-अच्चाइजोग्गा पाणा । [अहो ! अत्याग-योग्याः

सीता—उस प्रकार निर्वासित की गई, तथा ऐसा साहस करके मैं सचमुच डर गई ।

राम—(रोते हुए) सीता ! खूब चिपटा लो ।

२. सीता—मैं निर्दोष हूँ ।

राम—प्रिये ! दर्शन दो ।

३. सिद्ध-शासनम्—सिद्धस्य शासनम्, 'सिद्ध पुरुष वाल्मीकि का आदेश' ।

सीता—सिद्ध महात्मा वाल्मीकि की आज्ञा अटल है, मैं अभागिन क्या करूँ ?

राम—यह लम्बा गुस्सा छोड़ दो ।

४. सीता—मैं भी नाथ को यही प्रार्थना करती हूँ ।

राम—क्यों तू मुझ पर निर्दय हो रही है ? [१५]

५. सीता—नाथ ! यह तो उलटा उलाहना है ।

राम—रानी ! तुमसे निवेदन करता हूँ...

६. सीता—मैं सावधान हूँ, आज्ञा कीजिए ।

राम—कि तुम सच्चरित्र हो ।

प्राणाः ।][1]

राम:—*निर्वासितासि विषयाद्*

सीता—पहवदि अंअउत्तो सअलस्य परिअणस्स। [प्रभवत्यार्यपुत्रः सकलस्य परिजनस्य।][2]

राम:— *अस्मिन् दोषे प्रसीद मे ॥ १६ ॥*

सीता—तुमं पसीद, णिच्चप्पसण्णा अहं। [त्वं प्रसीद, नित्य-प्रसन्नाऽहम् ।][3]

राम:—*कदा बाहूपधानेन पटान्त-शयने पुनः ।*
गमयेयं त्वया सार्द्धं पूर्ण-चन्द्रां विभावरीम् ॥ १७ ॥

---

१. सीता—अहो ! ये प्राण अब त्यागने योग्य नहीं।
राम—देश से तुम्हें निकाल दिया···
२. सीता—नाथ सब सेवकों पर अधिकार रखते हैं।
राम—यह मेरा दोष क्षमा कर दो और प्रसन्न होओ। [१६]
३. सीता—तुम प्रसन्न रहो, मैं तो सदैव प्रसन्न हूँ।

अन्वयः—पटान्त-शयने बाहूपधानेन पूर्ण-चन्द्रां विभावरीं त्वया सार्द्धं कदा पुनः गमयेयम् ।

श०—पटान्तः—वस्त्र का टुकड़ा। उपधानम्—तकिया। विभावरी—रात्रि।

टि०—पटान्त-शयने—पटस्य अन्तोऽवयवः पटान्तः, पटान्तेनास्तृतं शयनं तत्र (शाकपार्थिव०) देखिए, "अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चय-नाशयोः अवयवेऽपि ।" इति हैमः। बाहूपधानेन—बाहुरेव उपधानम् तेन।

उपाधानम्—उपधीयते शिरोऽत्र, शिरोधान, यहाँ 'बाहूपधानेन' स्पष्ट नहीं है। भवभूति ने लिखा है कि राम ने सीता को अपनी भुजा तकिया बनाने के लिए दी 'रामबाहुरुपाधानमेष ते' यह तो चमत्कारपूर्ण है। परन्तु दिङ्नाग के 'बाहूपधान' से तो प्रकट होता है कि राम ने अपनी ही बाँह सिर के नीचे रखी परन्तु इस प्रकार 'सार्द्धं' शब्द निरर्थक हो जाता है और यह वर्णन भी गँवारू हो जाता है। यदि यह समझा जाय कि राम ने सीता की बाँह का तकिया बनाया तो यह भी अनुचित है। यह वर्णन पुरुषत्व के विपरीत है और वीरता के विरुद्ध है।

गमयेयम्— √गम् णिच् विधिलिङ्, 'व्यतीत करूँगा।'

राम—मैं फिर कब तुम्हारे संग वस्त्र के टुकड़े की बनी शय्या पर भुजा के तकिये से, पूनो की रात बिताऊँगा ? [१७]

सीता—अयि जणवादभीरुअ, एत्थ सण्णिहिदे जणे संतवसि।
[अयि जनवाद-भीरुक ! अत्र सन्निहिते जने सन्तपसि।]

राम—हा प्रिये ! जनक-राज पुत्रि ! देहि मे प्रतिवचनम्।

(मोहं गच्छति)

सीता—कहं पुणो वि अंअउत्तो मोहं गदो। समस्ससं। [कष्टं पुनरपि आर्यपुत्रो मोहं गतः। समाश्वासयामि।

(पटान्तेन वीजयति)

रामः—(हस्तं प्रसार्य पटान्तं गृह्णाति) कथं पटान्त इव संलक्ष्यते। को नु खल्वेष भविष्यति ? (विचिन्त्य) अथवा—

जनक-दुहितरं विहाय देवीं जनमपरं भुवने तथा-प्रभावम्।
अहमिह न विलोकयामि यो मे स्पृशति पटान्त-समीरणैः शरीरम् ॥ १८ ॥

तदेनामवलोकयामि। (चक्षुरुन्मीलयन्) अनवरत-वाष्प-पिहित-लोचनतया न किञ्चिदपि दृश्यते। तस्मादेनमपकृष्य तावदपनयामि।[1]

सीता—हे जनापवाद-भीरु ! मेरे पास होने पर (भी) तुम तड़प रहे हो !

राम—हा प्रिये जानकी ! मुझे उत्तर तो दो। (मूर्च्छित हो जाते हैं)

सीता—हैं, स्वामी तो फिर अचेत हो गये। सचेत करूँ।

(आँचल से हवा करती हैं।)

राम—(हाथ बढ़ाकर आँचल पकड़ लेते हैं) यह क्या ? आँचल-सा दिखाई देता है। तो यह कौन होगा ? (सोचकर) अथवा

अन्वयः—जनक-दुहितरं देवीं विहाय इह भुवने तथा-प्रभावं अपरं जनम् अहं न विलोकयामि या पटान्त-समीरणैः मे शरीरं स्पृशति।

श०—समीरणः—हवा। तथा-प्रभावम्—वैसे प्रभावशाली को।

टि०—तथा-प्रभावम्—

हिन्दी—जानकी देवी को छोड़कर मैं इस संसार में ऐसी शक्तिशाली दूसरे मनुष्य को नहीं देखता, जो आँचल की हवा से मेरे शरीर को छू सके। [१८]

१. अनवरत-वाष्प-पिहित-लोचनतया—अनवरतं वाष्पैः पिहिते (प्राच्छादिते) ये लोचने तमोर्भावस्तत्ता तया। पिहित—अपि + धा + क्त।

जरा इसे देखूँ तो। (आँखें खोलकर) निरन्तर आँसू भर आने से कुछ भी नहीं दिखाई देता। अतः इस (आँचल) को पहले खींचकर आँसुओं को पोंछ लूँ।

(तेनैवोत्तरीयान्तेनाश्रूणि प्रमार्जन्नाकर्षति)

सीता—(उत्तरीयं मुञ्चति) अज्जउत्त ण तुए परकेरएण उत्तरीएण पणअकोविदस्स विअ जणस्स अस्सुप्पमंज्जणं अणुचिट्ठिदव्वं। [आर्यपुत्र ! न त्वया परकीयेनोत्तरीयेण प्रणय-कोविदस्य इव जनस्याश्रु-प्रमार्जनमनुष्ठातव्यम्।[1]

रामः—(उत्तरीयं पतितमवलोक्य) कथमुत्तरीय-मात्रमेव पश्यामि, न पुनः परिधानकम्।[2]

अन्यांशुकमतिरभसादविमृश्य-विधायिना मयाऽऽकृष्टम्।
गगन-तलात् परिगलितं ज्योत्स्ना-निर्मोक-ललितमिदम् ॥ १६ ॥

(उसी आँचल से आँसुओं को पोंछते हुए उस दोशाल को खींच लेते हैं)

१. प्रणय-कोविदस्य—प्रणये कोविदः, 'प्रेम-निपुण', तस्य।

सीता—स्वामी ! तुम्हें किसी पराये के दुपट्टे से, प्रेम-निपुण व्यक्ति की भाँति, अपने आँसू नहीं पोंछने चाहिएँ।

२. परिधानकः—ओढ़ने वाला। यह विचित्र प्रयोग है। यह शब्दकोष में अनुपलब्ध है। परन्तु इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हो सकती है–परिदधाति इति परिधानः; स एव परिधानकः, तम्; अथवा परिधीयते इति परिधानम् (कृत्य-ल्युटो बहुलम् पा० ३.३.११३); परिधानमेव परिधानकम्; स्वार्थे कन्; परिधानकमस्यास्तीति परिधानकः।

राम—(दोशाल को गिरा हुआ देखकर) यह क्या ? दोशाल ही दीख रहा है, इसके ओढ़ने वाला नहीं।

अन्वयः—अविमृश्य-विधायिना मया अति-रभसात् आकृष्टं ज्योत्स्ना-निर्मोक-ललितम् इदम् अन्यांशुकं गगन-तलात् परिगलितम्।

श०—अविमृश्य-विधायिन्—बिन सोच-विचार किये काम करने वाला। रभसः—वेग। निर्मोकः—केंचुली। ललित—अति सुन्दर। अंशुक—(पुं०, नपुं०) रेशमी वस्त्र। परिगलितम्—गिर पड़ा है।

अविमृश्य-विधायिना—अविमृश्य विदधाति तच्छीलः, तेन। अति-रभसात्—बड़े वेग से; देखिए, 'रभसो वेगहर्षयोः' इति विश्वः। ज्योत्स्ना-निर्मोक-ललितम्—ज्योत्स्ना च निर्मोकः (सर्पत्वक्) च तौ ज्योत्स्ना-निर्मोकौ, तद्वत् ललितम्, 'चाँदनी और केंचुली के समान अति सुन्दर'; निर्मोकः—निर्+मुच्+घञ्; अथवा, ज्योत्स्नायां निर्मोकः ज्योत्स्ना-निर्मोकः, स इव ललितम्। ज्योत्स्ना और निर्मोक दोनों ही सौन्दर्य तथा लालित्य के वर्णन में उपमान माने गये हैं। अन्यांशुकम्—अन्यस्य अंशुकः, तम्; 'अंशुकः' के लिए

(पुनर्निर्वर्ण्य) किमपरमकस्मादेवासमीक्ष्यकारिणमात्मानमवगच्छामि । सुव्यक्तं तयै (दे) व चित्रकूट-वन-देवतया मायावत्या प्रदर्शितम् ।[1]

घूते पणः प्रणय-केलिषु कण्ठ-पाशः
क्रीडा-परिश्रम-हरं व्यजनं रतान्ते ।
शय्या निशीथ-कलहे हरिणेक्षणायाः
प्राप्तं मया विधि-वशादिदमुत्तरीयम् ॥ २० ॥

देखिए, "अंशुकं श्लक्ष्णवस्त्रे स्याद्वस्त्रमात्रोत्तरीययोः ।" इति मेदिनी

हिन्दी—बिना सोच-विचार किये काम करनेवाले मुझ से बड़े वेग-पूर्वक खींचा गया चाँदनी तथा केंचुल (अथवा चाँदनी में पड़ी केंचुल) के समान सुन्दर यह किसी का दोशाल आकाश से गिर पड़ा है। [१६]

१. अवगच्छामि—मैं समझता हूँ। असमीक्ष्य—बिना सोचे-समझे।

हिन्दी—(फिर देखकर) अपने-आपको सहसा असमीक्ष्यकारी क्यों समझूँ ? सर्वथा स्पष्ट है कि चित्रकूट की उस पूर्व-परिचित वन-देवी मायावती द्वारा (सीता को) भेंट किया हुआ—

अन्वयः—द्यूते पणः, प्रणय-केलिषु कण्ठ-पाशः, रतान्ते क्रीडा-परिश्रम-हरं व्यजनम्, निशीथ-कलहे शय्या, हरिणेक्षणायाः इदम् उत्तरीयं मया विधि-वशात् प्राप्तम् ।

श०—द्यूतः—जुआ। पणः—दाँव। प्रणय-केलिः—प्रेम-क्रीड़ा। कण्ठ-पाशः—ग्रीवा-बन्धन। रतान्ते—सुरत-समाप्ति पर। क्रीड़ा—सुरत रूप क्रीड़ा। परिश्रम—थकन। व्यजनम्—पंखा। निशीथ-कलहः—(पति-पत्नी का) आधी रात का झगड़ा। हरिणेक्षणा—मृग-नयनी। विधि-वशात्—सौभाग्यवश।

टि०—कण्ठ-पाशः—कण्ठस्य पाशः, एक-दूसरे को खींचने के लिए गले में बन्धन-सा लगाना, इससे दोनों का प्रेम-व्यवहार प्रकट होता है। क्रीडा-परिश्रम-हरम्—क्रीडया (सुरत-क्रीडया) यः परिश्रमः तस्य हरम्। व्यजनम्—व्यजन्त्यनेन वि + √अज् १ पर० + ल्युट् (करणे)। निशीथ-कलहे—निशीथे कलहे (संवृत्ते); देखिए, 'अर्धरात्रिनिशीथौ द्वौ ।' इत्यमरः। कलहः—"कलं तु मधुरध्वनौ" इति धरणिः; कलस्य हननम् अन्येभ्योऽपि (वा०३.१.१०१) इति डः। रात के समय पति-पत्नी के प्रेम के परस्पर झगड़े की ओर संकेत किया गया है। नाटककार ने ऐसे वर्णनों द्वारा दिखाया है कि उसके राम और सीता भी हाड-मांस के बने हैं, मर्त्य-लोक-वासियों की भाँति उनमें भी उमंगें हैं, भवभूति के उत्तररामचरित के दिव्य पात्र नहीं। हरिणेक्षणायाः—हरिणस्य ईक्षणे इति हरिणेक्षणे, हरिणे-

सीता—दिट्ठिआ अहिण्णादं अंअउत्तेण । [दिष्ट्या अभिज्ञातमार्यपुत्रेण ।][1]

रामः—कीदृशमिदानीमस्य प्रिया-वल्लभस्य संमान-विशेषमनुतिष्ठामि । (विचिन्त्य) भवतु, अयमेवास्यानन्य-साधारणः संमान-विशेषः । (प्रावृणोति; आत्मानं प्रावृत्य, अवलोक्य) द्वितीय-प्रावरणं मामवलोक्य किमपि चिन्तयिष्यति मुनि-जनः । तस्मादात्मीयमुत्तरीयं परित्यजामि । (इत्युत्क्षिपति)[2]

सीता—(गृहीत्वा सहर्षम्) पिअं मे ! संवुत्तं चिरजीविदाए फलं। (आघ्राय) दिट्ठिआ असंकेतविलेवणातोअं अंअउत्तस्स उत्तरीअं । सव्वहा सच्चसंधा राहवा । (प्रावृत्य) अम्हे एदं पिअजण संसग्गसुहप्परिसं उत्तरीअं पावरिअ अंअउत्तवच्छत्थलपरिस्संतं विअ अविरलसमुब्भिण्णरोमंचणिरंतरं अत्ताणं उव्वहामि । [प्रियं मे संवृत्तं चिर-जीवितायाः फलम् । (आघ्राय) दिष्ट्या असंक्रान्तविलेपनामोदमार्यपुत्रस्योत्तरीयम् । सर्वथा सत्य-सन्धा राघवाः । (प्रावृत्य) अहो एतत् प्रिय-जन-संसर्ग-सुख-स्पर्शमुत्तरीयं प्रावृत्यार्यपुत्र-वक्षःस्थलपरिश्रान्तमिवाविरल - समुद्भिन्न-रोमाञ्च- निरन्तरमात्मानमुद्वहामि ।][3]

चणे इव ईक्षणे यस्याः सा (उत्तरपदलोपः) ।

हिन्दी—जुए में दाँव, प्रेम के खेलों में (गिराने के लिए) गले में डालने का फंदा, सुरत-समाप्ति पर क्रीड़ा की थकन मिटाने वाला पंखा, आधी रात में प्रेम-कलह होने पर मृगाक्षी की शय्या (बनने योग्य) यह दोशाल मैंने सौभाग्य-वश पा लिया है । [२०]

१. सीता—सौभाग्य से स्वामी ने पहचान लिया !

२. प्रिया-वल्लभस्य—प्रियतमा के प्रिय का । आवृणोति —ओढ़ लेते हैं । प्रावृत्य—ओढ़कर । उत्क्षिपति—उतार कर फेंक देते हैं ।

द्वितीय-प्रावरणम्—द्वितीयं प्रावरणं यस्य स तम् ।

रामः—प्रियतमा के प्रिय इस (दोशाल) का कैसे विशेष सत्कार करूँ ? (विचार कर) अच्छा, यही इसका असाधारण तथा विशिष्ट सम्मान है । (ओढ़ लेते हैं; ओढ़कर और अपने-आपको देखकर) मुझे दोशाल ओढ़े देख कर मुनि-जन क्या कहेंगे । अतः अपना दोशाल उतार दूँ । (उतारकर भूमि पर फेंक देते हैं)

३. संवृत्तम्—प्राप्त हो गया । आघ्राय—सूँघकर । असंक्रान्त—अछूत । विलेपन—(चन्दनादि का) लेप । आमोदः—सुगन्ध । सत्य-सन्धः—सत्य-प्रतिज्ञ । समुद्भिन्न—खड़े हुए । रोमाञ्च—रोंगटे । उद्वहामि—धारण कर रही हूँ ।

रामः—(सविस्मयम्) यथैतदुत्तरीयमप्राप्त-मही-तलमेव केनाप्य-पहृतं तथा जानामि प्रत्यासन्न-फलो मे मनोरथ इति। (विचिन्तयन्) उत्तरीयापहारो जलच्छायायां दृश्यते, न सीता। किमेतत्? भवतु सिद्धाऽऽश्रम-वासिभ्यो जनेभ्योऽस्याः प्रभावो भविष्यति। तत् को नु खल्वस्याः प्रत्यासन्न-दर्शनेऽभ्युपायः। अयि वैदेहि! न किञ्चित् स्मरसि कस्यचित् पूर्व-वृत्तान्तस्य, यन्मामेवं दर्शन-मात्रेणापि न सम्भावयसि।[1]

प्रियं मे""फलम्—सीता कहती हैं कि पति-वियोग में मैंने आत्मघात नहीं कर लिया तो अच्छा ही किया, अन्यथा अब पति-देव के दर्शन कैसे होते।

दिष्ट्या""राघवाः—कामी लोग रति की उद्दीप्ति के लिए श्रृंगार-स्वरूप चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों का लेप कर लेते हैं, और उस लेप की वास दूसरे कपड़ों में चली जाती है। राम का दोशाल बिना किसी सुगन्ध के देखकर उन्हें निश्चय हो जाता है कि राम अपने एक पत्नी-व्रत पर अटल हैं। तभी वे कहती हैं—"सर्वथा सत्य-सन्धा राघवाः।" असंक्रान्त-विलेपनामोदम्—न संक्रान्तः विलेपनस्य आमोदो (गन्धो) यस्मिन् तत्; आमोदः—"आमोदो गन्धहर्षयोः" इति मेदिनी; 'लेप की सुगन्ध से अछूता'। सत्य-सन्धाः—सत्या सन्धाः येषां ते। देखिए, 'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा' इत्यमरः। प्रिय-जन-संसर्ग-सुख-स्पर्शम्—प्रियजनस्य संसर्गेण सुखः स्पर्शः यस्य तत्। आर्यपुत्र-वक्षःस्थल-परिश्रान्तम्—आर्यपुत्रस्य वक्षःस्थले परिश्रान्तम्। वक्षःस्थलम्—प्रशस्तं विशालं वक्षःस्थलम्; स्थल शब्द यहाँ प्रशंसा में प्रयुक्त हुआ है। अविरल-समुद्भिन्न-रोमाञ्च-निरन्त-रम्—अविरलो (घनो) समुद्भिन्नः यो रोमाञ्चः तेन निरन्तरम्।

सीता—(उठाकर सहर्ष) देर तक जीते रहने का फल पा लिया। (सूँघकर) सौभाग्यवश स्वामी का दोशाल लेपादि की सुगन्ध से अछूता है। निश्चय ही रघुवंशी सत्य-प्रतिज्ञ होते हैं। (ओढ़कर) अहो! प्रियतम के आलिंगन के-से स्पर्श सुख वाले इस दोशाल को ओढ़कर मेरे सारे शरीर पर रोंगटे ऐसे खड़े हो गये हैं मानो मैं उनकी छाती पर विश्राम कर रही हूँ।

१. राम—(साश्चर्य) मेरा यह दोशाल पृथ्वी-तल पर पहुँचे बिना ही किसी ने उड़ा लिया है, इससे मैं समझता हूँ कि मेरा मनोरथ शीघ्र ही फलने वाला है। (विचार करते हुए) उठाये जाते हुए दोशाल की छाया तो जल में दिखाई दी, किन्तु सीता नहीं, यह क्या रहस्य है? अच्छा, सिद्ध मुनि (वाल्मीकि) के आश्रमवासी होने के कारण उसे यह शक्ति प्राप्त हुई होगी। तो तुरन्त ही उससे भेंट का क्या उपाय होगा? ऐ

सीता—अज्ज वि कीदिसो पुव्व-वुत्तन्तो। [अद्यापि कीदृशः पूर्व-वृत्तान्तः।][1]

रामः—

अविदितमनुसृत्य चित्रकूटे सुतनु! सुमापचयाय निर्गतां त्वाम्।
कुसुममपचितं विकीर्य भूमौ स्मरसि रसेन मया धृतं पटान्तम्॥ २१॥

सीता—(विहस्य) साहसिअ, अदो एव्व दूरे परिहरिअसि। [साहसिक! अतएव दूरे परिह्रियसे।][2]

रामः—कथं न किञ्चिदपि प्रतिवचनं प्रयच्छति?[3]

सीता! क्या पिछली कोई बात स्मरण नहीं रही, जो तुम दर्शन-मात्र से भी मुझे कृतार्थ नहीं करती हो?

१. सीता—आज भी कैसी पिछली बातें?

अन्वयः—सुतनु! चित्रकूटे सुमापचयाय निर्गतां त्वाम् अविदितम् अनुसृत्य अपचितं कुसुमं भूमौ विकीर्य मया रसेन पटान्तं धृतं स्मरसि?

श०—सुतनु—शोभनाङ्गि। सुमापचयः—फूल बीनना। अविदितम्—बिना जाने हुए। अनुसृत्य—पीछे जाकर। अपचित—एकत्रित। विकीर्य—बिखेर कर। रसेन—अनुराग-वश। पटान्तः—आँचल, पल्ला। धृत—गृहीत।

टि०—सुतनु—शोभना तनुः यस्याः सा, सम्बोधन। चित्रकूट—एक पर्वत का नाम है जो इलाहाबाद के निकट है। सुमापचयाय—सुमानाम् अपचयाय (अवचयनाय), 'फूल बीनने के लिए।' प्रायः अव + √चि का इस अर्थ में प्रयोग होता है। अविदितम्—यह क्रियाविशेषण है; 'बिना जाने हुए, चुपचाप'। रसेन—'रस' का कई अर्थों में प्रयोग होता है। देखिए,

"रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः।" इति मेदिनी

राम—हे शोभनाङ्गि! क्या तुम्हें स्मरण है कि चित्रकूट पर्वत पर फूल बीनने के लिए तुम्हारे चले जाने पर, चुपचाप तुम्हारा पीछा करके, बीने हुए फूलों को भूमि पर बिखेर कर, मैंने प्रेम-वश तुम्हारा आँचल पकड़ लिया था। [२१]

२. साहसिक—अविमृश्यकारिन्, ढीठ। देखिए,

"साहसन्तु दमो दण्डः" इत्यमरः

"साहसन्तु दमे दुष्करकर्मणि। अविमृश्यकृतौ धार्ष्ट्ये" इति हैमः

परिह्रियसे— तूने त्याग दिया है।

सीता—इसीलिए साहसी! तूने छोड़ रखा है।

३. प्रतिवचनम्—उत्तर। प्रयच्छसि—देती है।

सीता—आसण्णा मम दिअहावसाणवेला। ण जुत्तं अ एदावत्थं गदं अंअउत्तं देवदादुदिअं कदुअ अपक्कमिदुं। ता किं एत्थ करइस्सं। (दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ एसो पिअवअस्सो कोसिओ किंवि अण्णेसंतो विअ कोदूहलसमावेसणिक्खित्तलोअणो इदो एव्व आअच्छइ, ता ओसरिस्सं (निष्क्रान्ता) [आसन्ना मम दिवसावसान-वेला। न युक्तं चैतदवस्थां गतमार्यपुत्रं देवता-द्वितीयं कृत्वाऽपक्रमितुम्। तत् किमत्र करिष्यामि? (दिशोऽवलोक्य) दिष्ट्या एष प्रिय-वयस्यः कौशिकः किमप्यन्विष्यन्निव कौतूहल-समावेश-निक्षिप्त-लोचन इत एवागच्छति। तदपसरामि।[1] [निष्क्रान्ता

(ततः प्रविशत्यन्वेषमभिनयन् विदूषकः)

विदूषकः—कहिं णु खु तत्तभवं भविस्सदि राआ। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो पिअवअस्सो चिन्ताउलो विअ णिहुदमणोहराए आकिदीए दीहिआतीरं अलंकरेइ। ता उवसप्पिस्सं। (उपसृत्य) जेदु भवं। [कुत्र नु खलु तत्रभवान् भविष्यति राजा? (परिक्रम्यावलोक्य च) एष प्रिय-वयस्यश्चिन्ताकुल इव निभृत-मनोहरया आकृत्या दीर्घिका-तीरमलङ्करोति। तदुपसर्पामि। (उपसृत्य) जयतु भवान्।[2]

रामः—(विलोक्य) दिष्ट्या प्रिय-वयस्यः कौशिकः प्राप्तः। वयस्य कौशिक, कुतो भवान्?[3]

राम—कुछ भी उत्तर नहीं देता।

१. देवता-द्वितीयः—एकाकी (जिसका वन-देवता ही दूसरा साथी है)। अपिक्रमितुम्—छोड़ जाने के लिए। अन्विषयन्—ढूँढता हुआ।

सीता—साँझ होने को है। इस दशा में स्वामी को अकेला छोड़कर चले जाना ठीक नहीं। क्या करूँ? (चारों ओर देखकर) सौभाग्यवश प्रिय मित्र कौशिक, मानो कुछ ढूँढता हुआ, उत्सुकताभरी दृष्टि डाले इधर ही आ रहा है। तो यहाँ से हट जाती हूँ। [प्रस्थान

(ढूँढने का अभिनय करते हुए विदूषक का प्रवेश)

२. निभृत-मनोहर—अति सुन्दर।

विदूषक—पूज्य महाराज कहाँ होंगे? (घूमकर और देखकर) यह रहा मेरा प्रिय मित्र, जो मानो चिन्ता-ग्रस्त हुआ अति सुन्दर आकृति धारे बावड़ी के किनारे को शोभायमान कर रहा है। तो पास चलूँ। (पास जाकर) जय हो!

३. राम—(देखकर) मेरे अहोभाग्य कि मेरा प्रिय मित्र कौशिक आ गया। कौशिक! किधर से भूल पड़े?

विदूषकः—अज्ज सूरोदअप्पहुदि मम तुमं अण्णेसमाणस्स सअलो दिअहो अदिक्कंदो। [अद्य सूर्योदयात् प्रभृति मम त्वामन्वेषमाणस्य सकलो दिवसोऽतिक्रान्तः।[1]

रामः—किंकृतोऽयमस्मदन्वेषणे भवतः प्रयासः।[2]

विदूषकः—सुदं मए पहादए समए अदिमुत्तमंडपब्भंतरे पच्छण्णट्ठिदेण विस्सद्धपउत्तसंकहाणं मुणिकण्णआणं अच्छराणं वि मुहादो किंवि तवोवणरहस्सं मंतिअमाणं। तं तुह अप्पिअं आसी। अब्भंतरट्ठिदं विअ मूढगब्भं अहिअदरं बाहेइ। [श्रुतं मया प्राभातिके समयेऽतिमुक्त-मण्डपाभ्यन्तरे प्रच्छन्न-स्थितेन विस्रब्ध-प्रवृत्त-संकथानां मुनि-कन्यकानामप्सरसामपि मुखतः किमपि तपोवन-रहस्यं मन्त्र्यमाणम्। तत् तव अप्रियमासीत्। अभ्यन्तर-स्थितमिव मूढ-गर्भमधिकतरं बाधते।][3]

रामः—कीदृशं तपोवन-रहस्यम्?[4]

विदूषकः—भो किं ण जानासि तत्तहोदिं—[भोः! किं न जानासि तत्रभवतीम्—][5]

राम—(कर्णौ पिधाय) स्त्री-संबद्धमेव तद्रहस्यम्, तदलमनेन श्रुतेन।[6]

---

१. अन्वेषयमाणस्य—अन्वेषयतः शुद्ध रूप होगा; अनु+इष् ६ पर० है, आत्मनेपदी नहीं।

विदूषक—आज सूर्योदय से लेकर तुम्हें ढूँढते-ढूँढते मेरा सारा दिन व्यतीत हो गया।

२. राम—मुझे ढूँढने के लिए तुम्हारा यह परिश्रम किसलिए?

३. प्राभातिके—प्रातःकाल के समय। अतिमुक्तः—माधवी, वासन्ती। प्रच्छन्न-स्थितः—छिपा बैठा। विस्रब्ध—विश्वस्त, निःशङ्क। प्रवृत्त—तत्पर। संकथा—संलापः। मूढ-गर्भः—विकार को प्राप्त गर्भ।

विदूषक—भोर के समय मैंने माधवी-मण्डप के भीतर छिपे बैठे निःशंक हो बातों में जुटी मुनि-कन्याओं तथा अप्सराओं के मुँह से सलाह किया जा रहा कोई तपोवन-रहस्य सुना। वह तुम्हारे लिए अप्रिय है। भीतर अटके मूढ-गर्भ की भाँति मुझे बहुत पीड़ा दे रहा है।

४. राम—तपोवन-रहस्य कैसा?

५. विदूषक—क्या तुम नहीं जानते श्रीमती……

६. राम—(कान बन्द करके) वह रहस्य किसी स्त्री के साथ सम्बन्ध रखता है, सो क्या सुनना?

विदूषकः—मा भयाहि, रामवअस्सो खु अहं। ण जाणासि तत्तहोदिं पुराणसग्गदासिं'। [मा बिभीहि, राम-वयस्यः खल्वहम्। न जानासि तत्रभवतीं पुराण-स्वर्ग-दासीम्।][1]

रामः—(आत्मगतम्) देव-गणिका-सम्बद्धैषा कथा, न कश्चिद्दोषस्तदाकर्णने। (प्रकाशम्) कतमासौ पुराण-स्वर्ग-दासी, किमुर्वशी ? किं तिलोत्तमा ?[2]

विदूषकः—ण जाणामि किं तिलुत्तमा सिलुत्तमेत्ति। सा किल तत्तहोदीए चिरकालविउत्ताए विदेहराअतणआए चरिदं अणुचिट्ठिय पिअवयस्सं उवहसिदुं इच्चइ। [न जानामि किं तिलोत्तमा सिलोत्तमेति। सा किल तत्रभवत्याश्चिरकाल-वियुक्ताया विदेह-राज-तनयाश्चरितमनुष्ठाय प्रिय-वयस्यमुपहसितुमिच्छति।][3]

रामः—(आत्मगतम्) कष्टम्! सम्यगुपलक्षितं कौशिकेन। अन्यथा हि दृश्यमाने प्रिया-सन्निधानाभिज्ञाने स्वयं न दृश्यत इत्यसम्भाव्यमेतन्मानुषीषु। सर्वथा वञ्चितोऽस्मि काम-रूपिण्या तिलोत्तमया।[4]

तृषितेन मया मोहात् प्रसन्न-सलिलाऽऽशया।
अञ्जलिर्विहितः पातुं कान्तार-मृग-तृष्णिकाम् ॥ २२ ॥

---

१. विदूषक—डरो मत ! मैं राम का मित्र हूँ। क्या नहीं जानते स्वर्ग की पुरानी दासी उस श्रीमती को........

२. राम—(स्वगत) स्वर्ग की अप्सरा के सम्बन्ध में यह चर्चा है। इसके सुनने में कोई दोष नहीं। (प्रकट) कौन-सी वह स्वर्ग-दासी ? क्या उर्वशी वा तिलोत्तमा ?

३. विदूषक—तिलोत्तमा-सिलोत्तमा तो मैं कुछ नहीं जानता। सुना है कि वह चिरकाल से बिछुड़ी जानकी का अभिनय करके तुम्हारा उपहास करना चाहती है।

अभिज्ञान—पहचान का चिह्न।

४. राम—(स्वगत) हाय कष्ट ! कौशिक ने ठीक ही पता लगाया है। नहीं तो प्रिया के समीपता-सूचक चिह्न दिखलाई देने पर भी वह स्वयं दिखाई न दे, यह मानुषियों में सर्वथा असम्भव है। इच्छानुसार रूप-धारण कर लेने वाली तिलोत्तमा ने मुझे ठग लिया।

अन्वयः—तृषितेन मया प्रसन्न-सलिलाशया मोहात् कान्तार-मृग-तृष्णिकां पातुम् अञ्जलिः विहितः।

श०—तृषित—प्यासा। कान्तार—वन। विहितः—कर दी गई।

(उत्तरीयमवलोक्य) कथमुत्तरीयमपि निर्मितमति-मायाविन्या । अहो पर-वञ्चनायामति-महन्नैपुणम् ।[1]

विदूषकः—भो वयस्स, विलक्खमुहो विअ दीससि । किं ताए वंचिदोसि ? [भो वयस्य ! विलक्ष-मुख इव दृश्यसे । किं तया वञ्चितोऽसि ?][2]

रामः—वञ्चितः कृतोऽस्मि ।[3]

विदूषकः—किं मए सुदं रहस्सं अण्णहा होदि ? [किं मया श्रुतं रहस्यमन्यथा भवति ?][4]

(नेपथ्ये)

सन्ताप्य लोकमखिलं निरवग्रहेण
तीव्रो नरेश्वर इव प्रथमं स्व-धाम्ना ।
सोऽयं वयःपरिणतेरिव शान्त-तेजाः
सायं मृदुर्भवति तिग्म-रुचिः क्रमेण ॥ २३ ॥

टि०—कान्तार-मृग-तृष्णिकाम्—कान्तरे मृग-तृष्णिकाम् ।

हिन्दी—मुग्ध प्यासे ने अज्ञानवश निर्मल जल की आशा से, मृग-तृष्णा के जल को पीने के लिए अञ्जलि कर दी । [२२]

१. हिन्दी—(दोशाल को देखकर) यह कैसे ? जादूगरनी ने दोशाल भी बना लिया ! अहो ! दूसरों को ठगने में कैसी भारी निपुणता है !

२. विलक्ष-मुखः—विलक्षं (सविस्मयं) मुखं यस्य सः । देखिए,

"विलक्षो विस्मयान्विते ।" इत्यमरः

विदूषक—मित्र ! भौचक्के-से दीखते हो । क्या उसके धोखे में आ गये ?

३. राम—हाँ, धोखे में आ गया ।

४. विदूषक—क्या मेरा सुना रहस्य कभी झूठा हो सकता है ?

(नेपथ्य में)

अन्वयः—सः अयं तिग्म-रुचिः निरवग्रहेण स्व-धाम्नः अखिलं लोकं सन्ताप्य वयःपरिणतेः क्रमेण शान्त-तेजाः तीव्रो नरेश्वर इव सायं मृदुः भवति ।

श०—तिग्म-रुचिः—तेज किरण-जाल वाला सूर्य । निरवग्रहः—रोक-थाम के बिना । स्व-धाम्ना—अपने तेज से । अखिल—समस्त । लोक—त्रिभुवन । परिणत—बढ़ा हुआ ।

टि०—तिग्म-रुचिः—तिग्माः (तीव्राः) रुचयः (किरण-जाल) यस्य सः । देखिए, "अभिष्वङ्गे स्पृहायां च गभस्तौ च रुचिः स्त्रियाम् ।" इत्यमरः

निरवग्रहेण—निर्गतः अवग्रहः यस्मात् तेन (बहु०) । स्व-धाम्ना—स्वेन

रामः—(निर्वर्ण्य) अस्तं गच्छति भगवान् दिवाकरः ।[1]

प्रिय-जन-रहितानामङ्गुलीभिर्वधूना-
मवधि-दिवस-सङ्ख्या-व्यापृताभिः सहैव ।
व्रजति किरण-मालि-न्यस्तमेकैकशोऽस्मिन्
सरस-कमल-पत्र-श्रेणयः सङ्कुचन्ति ॥ २४ ॥

अपि च—

आकर्षात् प्रग्रहाणां नियमित-गतयश्चोदितास्तोत्र-पातै-
र्नैव स्थातुं न यातुं सचकित-चरणाः सारथेः पारयन्तः ।

स्वस्य वा धाम्ना; धाम्ना—धामन् का तृतीया एक० । लोकम्—भूः, भुवः, स्वः, नाम के तीन लोक जो त्रिभुवन के नाम से विख्यात हैं । वयःपरिणते—वयसः परिणतेः (पञ्चमी तत्पु०) । क्रमेण—मध्याह्न आदि क्रम द्वारा । शान्त-तेजाः—शान्तं तेजः यस्य सः (बहु०) । तेज के यहाँ दो अर्थ लिये जा रहे हैं :—राजपक्ष में कोषादिरूप अथवा पराक्रम और सूर्य पक्ष में सूर्य का प्रकाश ।

हिन्दी—यह (सामने दिख रहा) वह (प्रसिद्ध) सूर्य पहले समस्त त्रिभुवन को अपने निर्बाध तेज से तपाकर साँझ के समय मानो बुढ़ापा आ जाने पर शान्त तेज वाला होकर क्रम से कोमल हो रहा है, जैसे (कोई) प्रचण्ड राजा पहले समस्त जगत् को अपने निर्बाध प्रताप से तपाकर बुढ़ापे में शान्त-तेज वाला होकर कोमल हो जाता है । [२३]

१. राम—(देखकर) सूर्य भगवान् छिपने लगे ।

अन्वयः—प्रिय-जन-रहितानां वधूनां अवधि-दिवस-सङ्ख्या-व्यापृताभिः अङ्गुलीभिः सह एव अस्मिन् किरण-मालिनि अस्तं व्रजति सरस-कमल-पत्र-श्रेणयः एकैकशः सङ्कुचन्ति ।

श०—व्यापृत—संलग्न । किरण-मालिन्—सूर्य । पत्र-श्रेणयः—पंखुड़ियाँ । सङ्कुचन्ति—बन्द हो जाती हैं ।

टि०—प्रिय-जन-रहितानाम्—प्रियजनेन रहितानाम्; 'पतियों से वियुक्त स्त्रियों का' । अवधि-दिवस-सङ्ख्या-व्यापृताभिः—अवधि-दिवसानां सङ्ख्यायां व्यापृताभिः (संलग्नाभिः), 'अवधि के दिनों की संख्या गिनने में तत्पर (अंगुलियों) से' । सरस-कमल-पत्र-श्रेणयः—सरसानां कमल-पत्राणां श्रेणयः ।

हिन्दी—इस सूर्य के अस्ताचल को चले जाने पर कमलों की कोमल पंखुड़ियों की पंक्तियाँ अपने पतियों से वियुक्त स्त्रियों के (स्वामि-प्रवास की) अवधि के दिन गिनने में लगी हुई अंगुलियों के साथ ही एक-एक करके बन्द हो रही हैं ।

दुर्विन्यस्तैः खुराग्रैर्विषम-परिसरादस्त-शैलस्य शृङ्गाद्
गाहन्ते वारि-राशिं कथमपि विधुरा वाजिनस्तिग्म-रश्मेः ॥ २५ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे

इति चतुर्थोऽङ्कः

और भी

अन्वयः—सारथेः प्रग्रहाणां आकर्षात् नियमित-गतयः तोत्र-पातैः चोदिताः सचकित-चरणाः विधुराः तिग्म-रश्मेः न एव स्थातुं न यातुं पारयन्तः। विषम-परिसरात् अस्त-शैलस्य शृङ्गात् दुर्विन्यस्तैः खुराग्रैः वारि-राशिं कथम् अपि गाहन्ते।

श०—प्रग्रहः—लगाम, रास। नियमित—रोकी गई। तोत्र-पातः—चाबुक मारना। चोदित—प्रेरित। सचकित—भय से काँप रहा। विधुरः—विकल, कष्ट को प्राप्त। तिग्म-रश्मिः—सूर्य। पारयन्तः—समर्थ। परिसरः—समीपवर्ती भूमि। शृङ्गः—शिखर। दुर्विन्यस्त—उल्टा-सीधा रखे, कठिनता से रखे। विषम—ऊँचा-नीचा। वारि-राशिः—समुद्र। अवगाहन्ते—प्रवेश करते हैं।

टि०—प्रग्रहाणाम्—प्रग्रह के लिए देखिए, "प्रग्राहः स्यात्तुलासूत्रे वृषादीनां च बन्धने।" इति हैमः। "तुलासूत्रेऽश्वादि रश्मौ प्रग्राहः प्रग्रहोऽपि च।" इत्यमरः। नियमित-गतयः—नियमिता गतिः येषां ते। तोत्र-पातैः—तोत्रस्य पातैः; "प्राजनं तोदनं तोत्रम्" इत्यमरः। सचकित-चरणाः—सचकिताः चरणाः येषां, ते। विधुराः—विगता धूः (अक्पूर्—पा० ५.४.७४) ते, 'विकल'। देखिए,

"वैकल्येऽपि च विश्लेषे विधुरं विकले त्रिषु।" इति त्रिकाण्डशेषः

तिग्म-रश्मिः—देखिए, तिग्म-रुचिः ४.२३। विषम-परिसरात्—विषमः परिसरः यस्य 'ऊबड़-खाबड़ भूमि', तस्मात्। दुर्विन्यस्तैः—दुःखेन विन्यस्तैः (स्थापितैः)।

हिन्दी—(सूर्य के) सारथि (अरुण) के रासों को खींच लेने से रोकी गई चाल वाले तथा (उसी अरुण के) चाबुक लगने से भागने को चकसाये गये, (इस प्रकार) न ठहरने और न चलने में समर्थ, लड़खड़ाते हुए पैर वाले सूर्य के विकल घोड़े, खुरों के उलटे-सीधे रखे जाने के कारण अस्ताचल के ऊबड़-खाबड़ शिखर से बड़ी कठिनता-पूर्वक समुद्र में प्रवेश कर रहे हैं। [२५]

[सब का प्रस्थान

चौथा अंक समाप्त

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषकः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आसण्णो तपोधणाणं संपात-समओ, ता तुवरेदु भवं। [आसन्नस्तपोधनानां सम्पात-समयः, तत् त्वरतु भवान्।][1]

(ततः प्रविशति रामः)

रामः—*सवनमवसितं हुतं कृशाना-*
वुदय-गतः समुपासितो विवस्वान्।
इति विधिमवसाय्य वासराऽऽदौ-
नियम-धनानहमागतः प्रणन्तुम्॥ १॥

पाँचवाँ अंक

(विदूषक का प्रवेश)

१. नेपथ्यम्—"रङ्गभूमेर्बहिः स्थानं यत्तन्नेपथ्यमुच्यते।" भरतः
"नेपथ्यं वर्णिका क्षितिः।" इति च
"नेपथ्यं स्याज्जवनिका रङ्गभूमिः प्रसाधनम्।" इति अजयः

विदूषक—(नेपथ्य की ओर देखकर) तपस्वियों के इकट्ठे होने का समय हो रहा है, अतः जल्दी कीजिए।

(राम का प्रवेश)

अन्वयः—सवनम् अवसितम्, कृशानौ हुतम्, उदय-गतः विवस्वान् समुपासितः, इति वासरादौ विधिम् अवसाय्य नियम-धनान् प्रणन्तुम् अहम् आगतः।

श०—अवसित—समाप्त। कृशानुः—(यज्ञ की) आग। विवस्वान्—सूर्य। वासरः—दिन। अवसाय्य—निपटाकर। नियम-धनान्—तपस्वियों को। प्रणन्तुम्—प्रणाम करने के लिए।

टि०—सवनम्—स्नान। अवसितम्—अव+सो+२ पर० 'समाप्त करना'+क्त। कृशानौ—'कृशानु' का सप्तमी एक०, कृशानुः—कृश्यति (हुतान् पदार्थान्) इति कृश् 'सूक्ष्म करना'+आनुक् (ऋतन्यञ्जि—उ०४·२)। उदय-गतः—उदयं गतः; उदयः—'उदयः पूर्वपर्वतः" इत्यमरः। उद्यन्ति ग्रहा

विदूषकः—एदं अत्थाणमंडपं, पविसदु भवं। [एतदास्थान-मण्डपम्, प्रविशतु भवान्।][1]

रामः—(प्रविष्टकेन चिन्तां नाटयन्) आ! आश्चर्यमस्माकं किं वृत्तमतीतेऽहनि ?[2]

अति-प्रसादादसतीव तस्मिन् दृष्टा मया वारिणि पङ्कजाक्षी।
लम्बालकं पाण्डुर-पीन-गण्डं प्रसाद-रम्यं वदनं वहन्ती॥ २॥

अस्मात्; 'उदयाचल'। विवस्वान्—विवस्वत् का प्रथमा एक०; विवस्वत्—विवस्तेजोऽस्यास्ति विवस्+मतुप् (पा० ५.२.९४), 'सूर्य'। अवसाय्य—अव+सो+णिच्+ल्यप् 'समाप्त करके'। नियम—धनान्—नियमः (संयमः) एव धनं येषां तान्। देखिए,

"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" (योग० पा० २.३२)

राम—स्नान कर लिया, अग्नि-होम (भी) कर लिया, उदय हुए सूर्य की उपासना (भी) कर ली, इस प्रकार दिन के प्रारम्भ (अर्थात् प्रभात समय) का नित्य-कर्म निपटाकर तपस्वियों को प्रणाम करने चला आया हूँ। [१]

१. आस्थानम्—आतिष्ठन्त्यत्र (करणाधिकरणयोश्च पा० ३. ३. १७) 'संसद।'

विदूषक—यह है सभा-मण्डप, भीतर चलिए।

२. राम—(प्रवेश करके चिन्ता का अभिनय करते हुए) ओह! हमें आश्चर्य हो रहा है, कल क्या घटना घटी ?

अन्वयः—अति-प्रसादात् असति इव तस्मिन् वारिणि लम्बालकं पाण्डुर-पीन-गण्डं प्रसाद-रम्यं वदनं वहन्ती पङ्कजाक्षी मया दृष्टा।

श०—प्रसादः—निर्मल। असत्—अविद्यमान। पाण्डुर—पीला। पीन—स्थूल। गण्ड—गाल।

टि०—असति—न सति; सत्—अस्+शतृ। लम्बालकम्—लम्बाः अलकाः यत्र तत् (बहु०)। पाण्डुर-पीन-गण्डम्—पाण्डुरौ (श्वेतपीतौ) पीनौ गण्डौ यस्य तत् (बहु०)। यज्ञ के अवसर स्वामी के दर्शन होंगे, इस सम्भावना से सीता की गालें पीली होने पर भी भर आई होंगी। परन्तु एक बात यहाँ खटकती है। जल में सीता की परछाईं में राम को उनकी गालें पीली क्योंकर दिखाई पड़ीं। छाया में तो श्यामता ही रहती है। प्रसाद-रम्यम्—प्रसादेन रम्यम् (तृतीया तत्पु०), 'प्रसन्नता के कारण मनोहर'। वहन्ती—वह्+शतृ+

अथवा विलोक्यते 'तिलोत्तमया कृतोऽयं परिहासः' इति।[1]

तस्याः स्व-हस्त-रचितामिव कुन्द-मालां
सादृश्यवन्ति सिकतासु पदानि तानि।
छायां च देव-गणिका विदधातु येन
रामं कथं स्पृशति हस्त-पटान्त-वातैः ॥ ३ ॥

(चिन्तां नाटयति)

विदूषकः—एसो सचिन्तो विअ, अज्ज ता उपविसिअ णिब्बन्धइस्सम्।
[एष सचिन्त इव, अद्य तदुपविश्य निर्बन्धयिष्यामि।] (उपविश्य)[2]

ङीप्, 'धारण करती हुई'। पङ्कजाक्षी—पङ्कजे इव अक्षिणी यस्याः सा (बहु०)।

हिन्दी—उस (बावड़ी के) जल में जो अत्यन्त स्वच्छ होने से मानो न होने के बराबर था, मैंने लम्बी लटाओं वाले, पीली और भरी गालों वाले तथा प्रसन्नता के कारण मनोहर मुखड़े को धारण किये कमल-नयनी (सीता) को देखा। [२]

१. हिन्दी—अथवा प्रतीत होता है कि यह तिलोत्तमा का खेल था।

अन्वयः—देव-गणिका तस्याः स्व-हस्त-विरचिताम् इव कुन्दमालाम्, सिकतासु तानि सादृश्यवन्ति पदानि, छायां च येन विदधातु, हस्त पटान्त-वातैः रामं कथं स्पृशति ?

श०—देव-गणिका—अप्सरा।

टि०-देव-गणिका—गणिका-गणयति (धनम्) इति; गण् १० उभय० + ण्वुल् (पा० ३. १. १३३) अथवा गणः समूहोऽस्त्यस्याः भर्तृत्वेन ठन् प्रत्ययः (पा० ५. २. ११५); 'स्वर्ग की वेश्या'। स्व-हस्त-विरचिताम्—स्वस्य हस्तः स्वहस्तः (षष्ठी तत्पु०), तेन रचिताम् (तृतीया तत्पु०)। सादृश्यवन्ति—सदृशस्य भावः + मतुप् + ङीप् बहु०। सादृश्यम् विदधातु—वि + धा + लोट्। 'सम्भावना के अर्थ में लोट् का प्रयोग होता है। हस्त-पटान्त-वातैः—हस्ते (धृतस्य) पटान्तस्य वातैः (षष्ठी तत्पु०)।

हिन्दी—अप्सरा (तिलोत्तमा) उसकी अपने हाथों गुँथी कुन्द-माला, रेतीले नदी-तट पर वैसे मिलते-जुलते पद-चिह्न, तथा छाया (भले ही) बना ले परन्तु हाथ में (पकड़े) कपड़े के छोर की हवा से राम को कैसे रोमाञ्चित कर सकती है ? [३]

(चिन्ता का अभिनय करते हैं)

२. उपविश्य—उप + √विश् ६ पर० + ल्यप्। निर्बन्धयिष्यामि—निर् + √बन्ध् ९ उभय० + णिच् + लृट् 'आग्रहपूर्वक प्रार्थना करता हूँ'।

विदूषकः—भो भो वअस्स, मा तुमं एत्थ ठिदो खु कहिं ठिदो खु तुमं णवमेहसिणिद्धस्सामलो परिणद्धमुत्ताहारो अच्चंदसमुण्णद्धदुरारोहाणं इंदनीलमआणं भवणक्खंभाणं अण्णतमो विअ मम हिअविब्भमं उप्पादेसि। ता एदस्स लक्खी-णिवासभवणस्स सेवासमअसमुवागदसामंतणरिंदमहुरसद्दोवगीतस्स अत्थाण-दासेरमंडपपुंडरीअस्स कण्णिआमण्डले विअ एदस्सिं सिंहासणे महुमहणणाभी-कमलकण्णिआउमारूढस्स भअवदो पिदामहस्स महत्तणं अधिक्खिपंतो उवविट्ठो होहि। [भो भो वयस्य! मा त्वमत्र स्थितः खलु, 'कुत्र स्थितः खलु, त्वं नव-मेघ-स्निग्ध-श्यामलः परिणद्ध-मुक्ता-हारोऽत्यन्त-समुन्नद्ध—दुरारोहाणामिन्द्रनीलमयानां भवन-स्तम्भानामन्यतम इव मम हृदय-विभ्रममुत्पादयसि। तदेतस्य लक्ष्मी-निवास-भवनस्य सेवा-समय-समुपाऽऽगत- सामन्त- नरेन्द्र-मधुर-शब्दोपगीतस्या ऽऽस्थान-दासेर-मण्डप-पुण्डरीकस्य कर्णिका-मण्डल इवैतस्मिन् सिंहासने मधु-मथन-नाभि-कमल-कर्णिका-समारूढस्य भगवतः पितामहस्य महत्त्वमधिक्षिपन्नु-पविष्टो भव।][1]

विदूषक—यह चिन्तित-से हैं, सो आज इनके पास बैठकर हठ-पूर्वक प्रार्थना करता हूँ। (बैठ कर)

१. स्निग्धः—सुन्दर, चिकना। श्यामलः—श्याम वर्ण। परिणद्ध—पहने। समुन्नद्ध—बहुत ऊँचा। दुरारोहण—कठिनाई से चढ़ने योग्य। इन्द्र-नील-मय—इन्द्र नील मणि (नीलम) जड़ा। अन्यतम—बहुतों में से एक। विभ्रमः—भ्रम, सन्देह। सामन्तः—करद राजा। उपगीत—गुँजायमान। दासेरः—सेवक। पुण्डरीकः—सफेद कमल। कर्णिका-मण्डल—कमल का बीज-कोश। मधु-मथन—मधुसूदन, विष्णु। पितामहः—ब्रह्मा। अधिक्षिपन्—फीकी करते हुए।

नव-मेघ-स्निग्ध-श्यामलः—नवो यो मेघः तद्वत् स्निग्धश्चासौ श्यामलश्च (कर्म०), 'नये बादल के समान प्रिय और श्याम-वर्ण'। परिणद्ध-मुक्ताहारः—परिणद्धः मुक्ताहारो यस्य (येन वा) सः (बहु०)। अत्यन्त-समुन्नद्ध-दुरारोहाणाम्—अत्यन्तं समुन्नद्धाः (अतएव) दुरारोहाः, 'बहुत ऊँचे (अतएव) कठिनाई से चढ़ने योग्य', तेषाम् (बहु०)। हृदय-विभ्रमम्—हृदये विभ्रमः, तम् (सप्तमी तत्पु०)। सेवा-समय-समुपागत-सामन्त-नरेन्द्र-मधुर-शब्दोपगीतस्य—सेवासमये समुपागतानां सामन्त-नरेन्द्राणां मधुर-शब्दैः उपगीतः, 'सेवा के अवसर पर पधारे सामन्त राजाओं के (जयकार के) मधुर शब्दों से गुँजायमान', तस्य।

रामः—यथाह भवान्। (उपविश्य चिन्तां नाटयन्) अद्याहमभिनव-सुख-दुःखस्य सचेतन इवास्मि संवृत्तः,।[1]

(ध्यानमभिनीय हस्तं च हृदये निवेश्य)

आसीदियत्सु दिवसेषु निरस्त-जाने-
नैराश्य-लुप्त-मनसो न सुखं न दुःखम्।
छायाऽऽदि-दर्शन-बलादधुना मनो मे
दुःखं सुखं च परिगृह्य पुनः प्रसूतम् ॥ ४ ॥

आस्थान-दासेर-मण्डप-पुण्डरीकस्य—आस्थानं (सभा-स्थानं) तत्र ये दासेराः, तेषां मण्डपं (मण्डलम्) एव पुण्डरीकम्, 'सभा-मण्डप में सेवकों का समुदाय रूपी श्वेत कमल', तस्य। जान पड़ता है कि सेवक सफेद वस्त्र पहने थे। इसी से उनकी समानता सफेद कमल से की गई है। परन्तु उपमा कुछ रुचिकर नहीं। मधु-मथन-नाभि-कमल-कर्णिका-समारूढस्य—मधो (ऽसुरस्य) मथनः (हिंसकः) तस्य नाभ्यां यत्कमलं तस्य कर्णिकां समारूढः, 'विष्णु के नाभि-कमल के बीज-कोश में विराजमान', तस्य। कर्णिका—पद्मबीज-कोश; देखिए,

"कर्णिका कर्णभूषणे। करिहस्ताङ्गुलौ पद्मबीजकोश्याम्।" इत्यमरः

इससे नाटककार ने राम को ब्रह्मा की उपमा दी है।

विदूषक—हे मित्र! नये बादल की भाँति स्निग्ध, श्याम-वर्ण वाले, मोतियों की माला पहने, बहुत ऊँचे और कठिनता से चढ़ने योग्य नीलम-जड़े भवन-स्तम्भों में से एक के समान दिखने वाले तुम कभी यहाँ, कभी वहाँ बैठ मेरे हृदय में शंका मत उत्पन्न करो। अतः प्रभु-भक्ति (सेवा) के लिए पधारे सामन्त-राजाओं के मधुर शब्दों से गुँजायमान सभा-मण्डप-मय पद्म-बीज-कोश तुल्य इस सिंहासन पर विष्णु के नाभि-कमल के बीज-कोश पर विराजमान ब्रह्मा की शोभा को नीचा दिखाते हुए बैठ जाओ।

१. राम—जैसा तुम कहो। (बैठकर चिन्ता का अभिनय करते हुए) नये रूप से सुख-दुःख का ज्ञाता बन गया हूँ।

(चिन्ता का अभिनय करते हुए तथा हाथ को हृदय पर रखकर)

अन्वयः—इयत्सु दिवसेषु निरस्त-जानेः नैराश्य-लुप्त-मनसः न सुखं न दुःखम्। अधुना छायादि-दर्शन-बलात् मे मनः दुःखं सुखं च परिगृह्य पुनः प्रसूतम्।

श०—निरस्त-जानेः—निर्वासित पत्नी का। परिगृह्य—ग्रहण करके। प्रसूत—उत्पन्न, जीवित।

विदूषकः—(निर्वर्ण्यात्मगतम्) अहो से संपदं अभिप्पाअं लक्खइस्सम्। (प्रकाशम्) भो राअं, एदे आसणकेसरिणो गुरुदरभरुव्वहणजादपरिस्समा विअ मुहविवरविणिग्गअमुत्ताकलावछलेन फेणधारं उव्वमंति, तह तक्केमि बाहूजुअलेण पुढवीं हिअएण पुढवीदुहिदरं उव्वहंतो अदीव गुरुअरो संवुत्तोत्ति। [अहो! अस्य साम्प्रतमभिप्रायं लक्षयिष्ये। (प्रकाशम्) भो राजन्! एते आसन-केसरिणो गुरुतर-भारोद्वहन-जात-परिश्रमा इव मुख-विवर-विनिर्गत-मुक्ता-कलापच्छलेन फेन-धारामुद्वमन्ति, तथा तर्कयामि—बाहु-युगलेन पृथिवीं हृदयेन पृथिवी-दुहितरमुद्वहन्नतीव गुरुतरः संवृत्तः—इति।][1]

टि०—इयत्सु दिवसेषु—इतने दिनों में; यहाँ सप्तमी विभक्ति के स्थान पर यदि अत्यन्त संयोगे द्वितीया का प्रयोग हुआ होता तो सुन्दर था; द्वितीया में रूप बनता 'इयतो दिवसान्'। निरस्त-जानेः—निरस्ता (त्यक्ता) जाया येन तेन (बहु०); बहुव्रीहि समास में 'जाया' के स्थान पर 'जानि' होता है। (जायायां निङ् पा० ५. ४. १३४)। नैराश्य-लुप्त-मनसः—नैराश्येन लुप्तं (नष्टं) मनः यस्य तस्य (बहु०); नैराश्यम्—निराशस्य भावः, निराश + ष्यञ्। सीता को निर्वासित कर राम का हृदय सुख-दुःख के प्रति शून्य हो गया था। न उन्हें सुख सुख प्रतीत होता था, न दुःख दुःख। परिगृह्य—परि + ग्रह् ६ उभय० + ल्यप्।

हिन्दी—इन दिनों स्त्री-त्यागी, (सीता के जीवन के सम्बन्ध में) निराश होने से नष्ट-प्राय चित्त वाले मुझ (राम) को न सुख था और न दुःख। अब (सीता की) छाया आदि देखकर सुख-दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव करके मेरा मन फिर जीवित हो उठा है। [४]

(चिन्ता का अभिनय करते हैं)

१. अभिप्रायः—आशय। केसरिन्—सिंह। उद्वहन—उठाना। जात—उत्पन्न। कलापः—गुच्छा। छलम्—व्याज, बहाना। फेन—झाग। उद्वमन्ति—उगल रहे हैं।

अभिप्रायः—देखिए, "अभिप्रायश्छन्द आशयः॥" इत्यमरः

लक्षयिष्ये—√लक्ष् १० आ० + णिच् + लृट्। आसन-केसरिणः—आसनस्य केसरिणः; आसनम्—आस्यतेऽस्मिन्निति; केसरिणः—केसरः (सिंह-स्कन्धे केश-राशिः) विद्यते एषामिति केसरिणः। सिंहासन के नीचे सिंह बने थे, मानो वे राजसिंहासन का भार उठा रहे हों। गुरुतर-भारोद्वहन-जात-परिश्रमाः—गुरुतरस्य भारस्य उद्वहनेन जातः परिश्रमो येषां ते (बहु०)। मुख-विवर-निर्गत-मुक्ता-कलापच्छलेन—मुख-विवरात् विनिर्गता ये मुक्तानां कलापाः तेषां छलेन, 'मुँह से निकल रहे मोतियों के गुच्छों के बहाने'। फेन-धाराम्—फेनस्य धाराम्।

रामः—(आत्मगतम्) सीता-कथामुपक्षिप्य कौशिको नूनं जिज्ञासते; एष बाल-मित्रम्, तदस्मै यथा-स्थितं निवेदयामि। (प्रकाशम्) वयस्य! अस्त्येतत्, स्मराम्यहमविच्छेदेन वैदेहीम्।[1]

विदूषकः—किं दोसदो आदु गुणादो? [किं दोषतः, उत गुणतः?][2]

रामः—न दोषतो नापि गुणतः।[3]

विदूषकः—एदं उभयं उज्झिअ कहं सीमन्तिणीओ सुमरीअंति? [एतदुभयमुज्झित्वा कथं सीमन्तिन्यः स्मर्यन्ते?][4]

रामः—अन्य-दम्पती-विषय एव कारणानुरोधी प्रेमाऽऽवेशः,

विदूषक के कहने का अभिप्राय यह है कि राम राजसिंहासन पर विराजमान हैं। उन्होंने दोनों भुजाओं से पृथ्वी का तथा हृदय द्वारा सीता का बोझ उठा रखा है, इस कारण वे और भी अधिक भारी हो रहे हैं। उनके बोझ के कारण सिंह, जिन पर सिंहासन टिका है, परिश्रान्त हो रहे हैं और झाग छोड़ रहे हैं।

विदूषक—(देखकर स्वगत) अहो! अब इसके मन की बात ताड़ता हूँ। (प्रकट) हे राजन्! ये राजसिंहासन के सिंह, बहुत भारी बोझ उठाने के कारण थक रहे हैं मानो मुँह से निकल रहे मोतियों के गुच्छों के बहाने झाग की धारा उगल रहे हैं, इससे मैं समझता हूँ कि दोनों भुजाओं से पृथ्वी को और हृदय द्वारा पृथ्वी-पुत्री सीता को उठाये रहने से बहुत भारी हो गये हो।

१. उपक्षिप्य—(चर्चा) चलाकर, छेड़ कर। जिज्ञासते—जानना चाहता है। अविच्छेदः—निरन्तर, सतत।

राम—(स्वगत) सीता की चर्चा छेड़ कर कौशिक निश्चय ही जानना चाहता है, यह (मेरा) बाल-मित्र है, सो इसे ठीक-ठीक बात बता देता हूँ। (प्रकट) मित्र! ऐसा ही है, मैं सदैव सीता का स्मरण करता रहता हूँ।

२. विदूषक—दोष के कारण, वा गुण के।

३. राम—न दोष के और न गुण ही के कारण।

४. उज्झित्वा—त्यागकर। सीमन्तिन्यः—स्त्रियाँ।

सीमन्तिन्यः—सीमन्तः अस्ति अर्थे इनि सीमन्तिनी; प्रथमा बहु०; सीमन्तः—सीमः अन्तः (शकन्ध्वादिषु—वा० ६.१.९४) 'केशों के भीतर मार्ग के समान बना हुआ'; गर्भ से छठे वा आठवें मास करने योग्य एक संस्कार।

विदूषक—इन दोनों को छोड़कर स्त्रियाँ स्मरण क्यों कर की जाती हैं?

सीता-रामयोस्तु न तथा।[1]

दुःखे सुखेष्वप्यपरिच्छदत्वादसूच्यमासीच्चिरमात्मनीव।
तस्यां स्थितो दोष-गुणानपेक्षो निर्व्याज-सिद्धो मम भाव-बन्धः ॥ ५ ॥

विदूषकः—मा तुमं वैदेहिं अलिअमहुरवअणेहिं अंहारिसं वंचेसि। सो खु तुमं देविं अंतरेण···। [मा त्वं वैदेहीम् अलीक-मधुर-वचनैरस्मादृशं वञ्चयसि। स खलु त्वं देवीमन्तरेण···।][2]

---

१. अन्य-दम्पति-विषयः—अन्यौ यौ दम्पती तद्विषये। कारणानुरोधी—कारणम् अनुरुन्धानः, 'कारण सम्बन्धी'।

राम—और स्त्री-पुरुषों का प्रेम-भाव कारण पर निर्भर होता है, सीता-राम का प्रेम वैसा नहीं।

अन्वयः—दुःखे सुखेषु अपि अपरिच्छदत्वात् असूच्यं दोष-गुणानपेक्षः निर्व्याज-सिद्धः मम भाव-बन्धः तस्यां चिरम् आत्मनि इव स्थितः आसीत्।

श०—अपरिच्छद—न ढँपा हुआ, स्पष्ट। असूच्य—अप्रदर्शनीय। अनपेक्ष—निरपेक्ष। निर्व्याज—निष्कारण। भाव-बन्धः—प्रेम-बन्धन।

टि०—अपरिच्छदत्वात्—परिच्छदस्य भावः परिच्छदत्वम् न परिच्छदत्वम् अपरिच्छदत्वम्, तस्मात्, 'स्पष्टतः होने से'। असूच्यम्—न सूच्यम् न + सूच् + ण्यत्, क्रिया-विशेषण। दोष-गुणानपेक्षः—दोषेषु गुणेषु च अनपेक्षा यस्य सः। अनपेक्षा—अविद्यमाना अपेक्षा यस्य सः (बहु०); यहाँ समास में लघ्वक्षरं पूर्वं (वा० २. २. ३४) के अनुसार, गुण शब्द पहले होना चाहिए था। यहाँ छन्द की आवश्यकता द्वारा इसकी पुष्टि नहीं की जा सकती, क्योंकि यही क्रम अन्यत्र भी मिलता है—'दोष-गुणानभिज्ञः' कुन्द० ५. १०। यही क्रम दशकुमारचरित में भी मिलता है। देखिए,

तत्रापि मन्त्रिणे···दोष-गुणौ···उपजीवन्ति।

निर्व्याज-सिद्धः—निर्व्याजं सिद्ध (सुप्सुपा); 'स्वभाव से सिद्ध'।

मम भाव-बन्धः···आसीत्—जैसे अपनी आत्मा प्रत्येक व्यक्ति को प्रिय है, दोष होने पर ग्लानि नहीं होती, गुण होने पर मोह नहीं होता, वैसे ही सीता भी राम की प्रिया थीं। दोष-गुण इसमें कारण न थे।

हिन्दी—उस (सीता) के विषय में अवस्थित, दोष-गुण की अपेक्षा न रखने वाला, स्वभाव-सिद्ध (निष्कारण) मेरा प्रेम, दुःख और सुख में न ढँका (स्पष्ट) होने से वाणी द्वारा अवर्णनीय, चिरकाल तक ऐसा रहा मानो अपने में ही स्थित हो। [५]

२. अलीक—मिथ्या। अन्तरेण—सम्बन्ध में।

रामः—नैवमध्यवसितम्—एकान्त-सीता-निरपेक्षो रामः—इति।[1]

अन्तरिता अनुरागा भावा मम कर्कशस्य बाह्येन।
*तन्तव इव सुकुमाराः प्रच्छन्नाः पद्म-नालस्य॥ ६॥**

विदूषकः—तुमं अदिप्पवलेण हिअअसंदावेण वडवाणलेण विअ भअवं महासमुद्दो अत्तणो महत्तणे ण परिहीअसि। अहं उण सहावलहुदाए देवीए सीदाए गइं सुमरिअ दावाणलेण विअ तुसारबिंदु णिरवसेसं परिसुस्सामि। ता परित्ताएहि मं। [त्वम् अति-प्रबलेन हृदय-संतापेन वडवाऽनलेन इव भगवान् महा-समुद्र आत्मनो महत्त्वे न परिहीयसे। अहं पुनः स्वभाव-लघुतया देव्याः सीताया गतिं स्मृत्वा दावाऽनलेन इव तुषार-बिन्दुर्निर-वशेषं परिशुष्यामि। तत् परित्रायस्व माम्।] (इति रोदिति)[2]

विदूषक—सीता की भाँति हम जैसों को झूठे और मीठे वचनों से मत ठगो। निश्चय ही सीता के सम्बन्ध में···

१. अध्यवसित—निश्चय। एकान्त—अत्यन्त। निरपेक्ष—उदासीन।

राम—'राम सीता के सम्बन्ध में अत्यन्त उदासीन है' यह तुम्हारा निश्चय ठीक नहीं।

अन्वयः—अनुरागाः अन्तरिताः, बाह्येन कर्कशस्य मम सुकुमाराः भावाः पद्म-नालस्य तन्तवः इव प्रच्छन्नाः।

श०—अन्तरित—गुप्त। कर्कश—कठोर। पद्म-नाल—कमल-नाल, बिस। तन्तवः—डोरे। प्रच्छन्न—गुप्त।

टि०—अन्तरिताः—अन्तर् + इण् कर्तरि क्तः; अन्तरं व्यवधानं करोतीति, 'बीच में आ गया'।

हिन्दी—बाहर से कठोर मुझ (राम) की प्रेम-भरी चित्तावस्था (बाहर से कठोर) कमल-दण्ड के अति कोमल (परन्तु गुप्त) तन्तुओं की भाँति, छिपी रहती है। [६]

२. वडवानल—समुद्र की आग। परिहीयसे—क्षीण हो रहे हो। स्वभाव-लघुता—स्वभाव से तुच्छ। दावानल—वनाग्नि। तुषार—ओस। निरवशेषम्—पूर्णतया, सर्वथा। परिशुष्यामि—सूख रहा हूँ।

वडवानलेन—वडवानल द्वारा उस कथानक की ओर संकेत है जिससे विदित होता है कि और्व मुनि ने अपने पूर्वजों के आदेशानुसार कार्त्तवीर्यों पर अपनी असीम क्रोधाग्नि समुद्र में फेंक दी, और क्योंकि उसकी आकृति वडवानल की-सी हो गई, अतः वह वडवाग्नि कहलाई। तुषार-बिन्दुः-निरवशेषम्—यदि यह समस्त पद तुषार-बिन्दु-निरवशेषम् होता तो सुन्दर था।

रामः—यदि त्वं स्मरण-योग्यां सीतामवगच्छसि कस्मादहं तत्परित्याग-प्रवृत्तस्त्वया न प्रतिषिद्धः ?[1]

विदूषकः—पसादसुमुहो वि राआ दुव्विण्णव्वो सेवएहिं, किं उण कोव-भीसणो। [प्रसाद-सुमुखोऽपि राजा दुर्विज्ञाप्यः सेवकैः, किं पुनः कोप-भीषणः ?][2]

रामः—वयस्य ! न हि मादृशास्तादृशीं कोपावस्थामवगाहन्ते, यस्यां वर्तमानायां सुहृदामनाश्रवा भवन्ति।[3]

नर-पतिरधिक-प्रवृत्त-तेजा गुण-निहितैः सचिवैर्निवारणीयः।
भुवनमभिपतन् सहस्र-रश्मिर्जल-गुरुभिर्व्यवधीयते हि मेघैः॥ ७॥

विदूषक—जैसे वडवाग्नि द्वारा (सुखाये जाने पर भी) महा-समुद्र अपना महत्त्व नहीं छोड़ता, वैसे ही हृदय के बहुत भारी संताप-वश आपका महत्त्व कम नहीं हुआ। मैं तो स्वभाव से कातर होने के कारण सीतादेवी को दुर्दशा का चिन्तन करके, वनाग्नि द्वारा ओस की बूंद की भाँति, सर्वथा सूखा जा रहा हूँ। सो बचा लो मुझे। (कहकर रोता है)

१. राम—यदि तुम सीता को स्मरणीय समझते हो तो उसका परित्याग करते समय मुझे तुमने रोका क्यों नहीं ?

२. प्रसाद-सुमुखः—प्रसन्न-मुख। दुर्विज्ञाप्यः—कठिनता से निवेदन करने योग्य।

प्रसाद-सुमुखः—प्रसादेन सुमुखः; सुमुखः—शोभनं मुखं यस्य सः। दुर्विज्ञाप्यः—दुःखेन विज्ञाप्यः (निवेदनीयः); विज्ञाप्यः—वि + ज्ञा + णिच् + यत्।

विदूषक—प्रसन्न-मुख राजा को भी सेवक बड़ी कठिनाई से कह पाते हैं, फिर क्रोध-वश भयंकर (रूपवाले) राजा का क्या कहना ?

३. अवगाहन्ते—डूब जाते हैं; अनाश्रवाः—न सुनने वाले, जो वश में न हों। मादृशाः—मम इव दर्शनम् अस्य; दृश् + क्सट् (क्विप् वा), बहु० 'मेरे समान'। अनाश्रवाः—न आशृणोति; न + आ + √श्रु ५ पर० + अ; 'अवश्याः; वश से बाहर'; बहु०।

राम—मित्र ! मुझ जैसे लोग, वैसे क्रोध में डूब नहीं जाते कि वे अपने मित्रों की बात ही न सुनें।

अन्वयः—अधिक-प्रवृत्त-तेजाः नरपतिः गुण-निहितैः सचिवैः निवारणीयः। सहस्र-रश्मिः भुवनम् अभितपन् जल-गुरुभिः मेघैः व्यवधीयते हि।

वयस्य ! वर्तमाना सीता-कथा द्वयोः सन्तापकारिणी । तद्गच्छ प्रतीहार-भूमिम् । समाज्ञापय दौवारिकान्,—"समासन्नस्तपो-धनानां सम्पात-समयः, तस्मात् सम्भृत-वेत्राणि सर्व-द्वाराणि क्रियन्ताम् ।"[1]

विदूषकः—भो राज, कीस उण एदे कन्दमूल-फलासिणो वक्कलपरिधाणा उद्दंडदण्डधरा ईरिसेण आआरेण संभाविअंति । [भो राजन्, कीदृशाः पुनरेते

श०—प्रवृत्त—प्रयुक्त । निहित—नियुक्त । सचिव—मन्त्री । सहस्र-रश्मिः—सूर्य । व्यवधीयते—ढक लिया जाता है ।

टि०—अधिक-प्रवृत्त-तेजाः—अधिकं प्रवृत्तं तेजः यस्य सः । गुण-निहितैः—गुणेषु (कलानुसारि-मन्त्रणादि-कर्मसु) निहितैः; अथवा गुणाः (षाड्गुण्यम्) निहिताः येषु ते । सहस्र-रश्मिः—सहस्रं रश्मयः यस्य सः । जल-गुरुभिः—जलेन गुरुभिः, 'जलभरे' । व्यवधीयते—यहाँ पर 'व्यपनीयते' पाठ दिया गया है । परन्तु 'व्यवधीयते' पाठ ठीक जान पड़ता है । नाटककार ने इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया है । देखिए,

क्षालित-व्यपनीत -नयन-खेदम् पृष्ठ १०६.२

एतद् व्यपनीत-वाष्प-व्यवधानेन चक्षुषा पुनरवलोकयामि । पृष्ठ १४४.६

हिन्दी—अधिक प्रयुक्त किये प्रताप वाला राजा षड्गुणों से युक्त मन्त्रियों द्वारा रोक दिया जाना चाहिए; प्रचण्ड प्रताप वाला सूर्य त्रिलोकी को तपाता हुआ जल-भरे बादलों से ढँक लिया जाता है । [७]

१. प्रतिहार-भूमिः—द्वार प्रदेश । दौवारिकः—द्वारपाल । सम्भृत—धारण किये । वेत्र—दण्ड ।

प्रतिहार-भूमिम्—प्रतिहारस्य भूमिः, ताम् ; प्रतिहारः—प्रति + हृ + घञ् वा दीर्घः ।

दौवारिकान्—द्वारे नियुक्ताः दौवारिकाः, तत्र नियुक्ताः (पा० ४. ४.६९) से ठक् आदेश हुआ 'द्वारपाल', तान् । सम्भृत-वेत्राणि—संभृतानि (स्थापितानि) वेत्राणि (यष्टयः), यत्र तादृशानि । अथवा सम्भृताः वेत्राः येषु तानि; यह 'सर्व-द्वाराणि' का विशेषण है । सब द्वारों पर द्वारपाल दण्ड धारण किये बैठा दो जिससे किसी भी तपस्वी के सत्कार में प्रमाद न हो और दूसरा कोई अनधिकारी प्रवेश न पा सके ।

हिन्दी—मित्र ! सीता की कथा की चर्चा हम दोनों के लिए सन्तापकारी है । इसलिए तुम द्वार पर जाओ और द्वारपालों से कह दो—तपस्वियों के पधारने का समय हो रहा है, अतएव सब द्वारों पर दण्ड धारण किये प्रस्तुत रहें ।

कन्द-मूल-फलाशिनो वल्कल-परिधाना उद्दण्ड-दण्ड-धरा ईदृशेनाऽऽचारेण सम्भाव्यन्ते।][1]

राम:—अस्थानेऽयमत्रभवतः सन्देहः। ननु मूल-स्व-योग-मूल-सकल-पुरुषार्थ-संवेदिनी ज्ञान-निष्पत्तिः। पश्य—[2]

ज्योतिः सदाभ्यन्तरमाप्त-पादैरदीपितं नार्थ-गतं व्यनक्ति।
*नालं हि तेजोऽप्यनलाभिधानं स्व-कर्मणो मारुतमन्तरेण॥ ८॥**

---

१. फलाशिनः—फलाहारी। उद्दण्डः—भयंकर।

कन्द-मूल-फलाशिनः—कन्दश्च मूलञ्च फलञ्च तानि कन्द-मूल-फलानि; तान्यशितुं शीलमेषां ते कन्द-मूल-फलाशिनः। वल्कल-परिधानाः—वल्कलं परिधानं येषां ते। उद्दण्ड-दण्ड-धराः—उद्दण्डाः ये दण्डाः तान् धारयन्ति। सम्भाव्यन्ते—सम्+भू+णिच्+लोट्, 'सत्कार किये जाते हैं।'

विदूषक—राजन्! कन्द-मूल-फल खाने वाले, वल्कल पहने, डरावने डण्डे धारण किये भला ये कैसे व्यक्ति हैं जो इस प्रकार सत्कृत किये जाते हैं?

२. अस्थाने—अनुचित। ननु—निश्चय ही। संवेदनी—सूचिका। ज्ञान-निष्पत्तिः—तत्त्व-ज्ञान-सिद्धि।

अत्रभवतः—पूज्य का; यदि अत्र पृथक् शब्द ग्रहण किया जाय तो इसका अर्थ होगा 'इस विषय में' और 'भवतः' का साधारण अर्थ 'आपका'।

मूल-स्व-योग-मूल-सकल-पुरुषार्थ-संवेदिनी—मूलेन—(ईश्वरेण) यः स्वस्य (जीवात्मनः) योगः (सम्बन्धः), तस्य मूलं (मूलभूताः) ये सकलाः पुरुषार्थाः (धर्मार्थ-काम-मोक्षाः), तेषां संवेदिनी (प्रापयित्री प्रकाशयित्री वा)। देखिए, साङ्ख्य सूत्र १. १

राम—तुम्हारा यह सन्देह अनुचित है, इनकी तत्त्व-ज्ञान की सिद्धि हाँ तो जीवात्मा-परमात्मा का संयोग स्थापित करने वाले समस्त पुरुषार्थों का ज्ञान कराने वाली होती है।

अन्वयः—सत् (सदा वा) आभ्यन्तरं ज्योतिः आप्त-पादैः अदीपितं न अर्थ-गतं व्यनक्ति। अनलाभिधानं तेजो हि मारुतम् अन्तरेण स्वकर्मणः न अलम्।

श०—सत्—शाश्वत। आभ्यन्तरम्—अन्तःकरण में स्थापित। आप्त-पादः—साक्षात्कृतधर्मा (महर्षि)। अदीपित—प्रज्वलित हुए बिना। अर्थ-गतम्—वस्तु-तत्त्व, परमार्थ। न व्यनक्ति—प्रकट नहीं करता। अनल—आग। मारुतः—पवन।

विदूषकः—जदि महत्थो तपोधणाणं समाअमो अहं अ लहु गच्छिअ जहआणत्ति संपादेमि। (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) ही ही सो संपदं मए राइणो आरणाए पडिहारणिक्खित्तेण दिट्ठा सुसिणिद्धसामलच्छाआ अणुब्भिण्णतारुण्ण-विग्गहा तोरणत्थं भवट्ठिदा मंगलंकुरा विअ बालभावेण असमत्तपमाणा विअ अप्पमाधा विअ कंदप्पदारआ विअ रुप्पसोवग्गेण उच्चदरा सालतरु विअ पप्पंदा विअ लोलदरा विअ महाबला विअ अच्चंतधीरा विअ अच्चंदललिदा विअ असंखेपिदा विअ वअस्सस्स कलादंसणा आगदा दुवे तापसकुमारआ। [यदि महाऽर्थस्तपोधनानां समागमः अहं च लघु गत्वा यथाऽऽज्ञप्ति सम्पादयामि। (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य)। ही! ही!···सांप्रतं मया राज्ञ आज्ञया प्रतीहार-निक्षिप्तेन दृष्टौ सुस्निग्ध-श्यामलच्छायौ अनुद्भिन्न-तारुण्य-विग्रहौ तोरण-स्तम्भावस्थितौ मङ्गलाङ्कुराविव बाल-भावेन असमाप्त-प्रमाणाविव अप्रमादाविव कन्दर्प-दारकाविव रूप-सौभाग्येन उच्चतरौ साल-तरू इव, प्रस्पन्दाविव, लोलतराविव, महा-बलाविव, अत्यन्त-धीराविव, अत्यन्त-ललिताविव, असङ्क्षेपिताविव, वयस्यस्य कला-दर्शनौ आगतौ द्वौ तापस-कुमारकौ।][1]

टि०—सत्—त्रिकाल ज्ञान। देखिए, "सदेव सौम्येदमग्र आसीद्" इति श्रुतिः। "ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।" इति स्मृतिः। आभ्यन्तरम्—अन्तःकरणात्मक; देखिए, "गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" इति श्रुतिः। ज्योतिः—स्वप्रकाश स्वरूप ईश्वर; देखिए, "अत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिः।" इति श्रुतिः। आप्त-पादैः—परम पूजनीय, ब्रह्मनिष्ठ; 'पाद' पूजा-द्योतक है। यह नित्य समास है। देखिए 'देव-पाद'। देखिए, "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथाभूतार्थचिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तया प्रवर्त्तमान आप्तः।" अदीपितम्—न दीपितम् अदीपितम्. अर्थ-गतम्—परमार्थ रूप; स्वकर्मणः—अलम्—अलम् के साथ तृतीया और चतुर्थी विभक्तियों का प्रयोग होता है। व्यनक्ति—वि + √अञ्ज् ७ पर० 'प्रकट करना' लट्।

हिन्दी—शाश्वत, अन्तःकरण-स्थित प्रकाश साक्षात्कृत-धर्मा महर्षियों द्वारा प्रकाशित किये बिना परमार्थ को प्रकट नहीं कर सकता; अग्नि नामक तेज पवन के बिना अपने कर्म में समर्थ नहीं होता। [८]

१. महार्थः—महान् प्रयोजन। लघु—शीघ्र। यथाज्ञप्ति—यथादेश। प्रतिहार-निक्षिप्तः—द्वारपाल के काम पर नियुक्त। अनुद्भिन्न—प्रकट न हुई। तारुण्य—यौवन। विग्रहः—शरीर। तोरण-स्तम्भः—तोरण द्वार का स्तम्भ। प्रमाण—

रामः—(साऽऽकूतम्) कस्तयोरस्मन्नयन-सीमावतरण-प्रतिबन्धः ?[1]

विदूषकः—सुणाहि दाव एदाणं बालभावललिदाणं कोऊहलसंबद्धाणं एदं उवंणासं। [शृणु तावदेतयोः बाल-भाव-ललितयोः कौतूहल-सम्बद्धयो-रेतमुपन्यासम्।][2]

कद। प्रस्पन्दः—अति स्फूर्तिमान्।

महार्थः—महान् अर्थो यस्य सः। प्रतिहार-निक्षिप्तेन—प्रतिहारे निक्षिप्तेन (नियुक्तेन)। सुस्निग्ध-श्यामलच्छायौ—सुस्निग्धा श्यामला च छाया ययोः तौ। अनुद्भिन्न-तारुण्य-विग्रहौ—न उद्भिन्नं तारुण्यं यत्र, तादृशो विग्रहः ययोः, तौ। 'जिनके शरीर पर अभी यौवन फूटा नहीं'। मङ्गलाङ्कुरौ—मङ्गलस्य अङ्कुरौ; 'कल्याण के अंकुर'। असमाप्त-प्रमाणौ—न समाप्तं प्रमाणं ययोः, तौ, 'बिना पूरा कद पाये'। अप्रमादौ—न प्रमादः ययोः, तौ। कन्दर्प-दारकौ—कन्दर्पस्य दारकौ। रूप-सौभाग्येन—रूपस्य सौभाग्येन, 'रूप-सौन्दर्य द्वारा'। असंक्षेपितौ—न सङ्क्षेपितौ, 'विशाल-(वक्ष)'। कला-दर्शनौ—कलायाः दर्शनं ययोः, तौ; 'संगीत-कला-विशारद'।

विदूषक—यदि सचमुच ही तपस्वियों का समागम (इतना) तथ्यपूर्ण है तो मैं तुरन्त जाकर आपकी आज्ञा का पालन करता हूँ। (बाहर जाकर फिर प्रवेश करके) ओहोहो! अभी-अभी महाराज की आज्ञानुसार द्वार पर नियुक्त किये जाने से मैंने दो तापस-कुमारों को देखा। वे सलौने-साँवले हैं, किशोरावस्था में हैं, तोरण द्वार के खम्बों के पास खड़े हैं, बाल-भाव के कारण मानो मङ्गल के अंकुर हैं, उनका कद अभी पूरा निकला नहीं, दोनों बड़े सावधान हैं, दोनों कामदेव के पुत्र-से हैं। रूप-सौन्दर्य द्वारा सालवृक्ष के समान ऊँचे हैं, स्फूर्तिमान् हैं, अति चञ्चल हैं, महान् बलशाली हैं, बड़े धैर्यशाली हैं, बड़े सुन्दर हैं, विशाल-वक्ष हैं, मित्र को अपनी (संगीत-) कला का प्रदर्शन करने आये हैं।

१. साकूतम्—आकूतम् (आ+कू+भावे क्तः) तेन सह; 'अभिप्राय के साथ'। नयन-सीमावतरण-प्रतिबन्धः—नयनयोः सीमायाम् अवतरणे प्रतिबन्धः, 'दृष्टिगोचर होने में बाधा'।

राम—(साभिप्राय) हमारे समक्ष होने में उन्हें क्या बाधा?

२. उपन्यासः—परिचय।

विदूषक—बाल-भाव के कारण सुन्दर, कुतूहल-जनक उन दोनों का परिचय तो पहले सुन लो।

रामः—कथय कथय ।[1]

विदूषकः—ते किल भअवदो वम्मीइमहेसिणो सिस्सा पवीणा वीणाकला-विण्णाणे अपुव्वं किल आअमं धारेंति । एदे किल एव्वं वदंति—राएसिणो जणाणं तपोधणबहुमाणेण अह्माणं विअ भूट्ठाणं आसणपदाणं अणुचिट्ठिदव्वं । जदा अहे मंदभद्दस्स दीअइ रादललअ दुक्खरविण्णासं महाकइसंगधितमहा-पुरुसचरित्तबंधं महत्थगंभीरं केण विअस्सुदपुव्वं आअमं गंधव्ववेदसंवादि सरसं जोअविरइअवण्णरमणीअअं वीणातंतिरसिदाणुविद्धं गीदं गाअंह्म तदा विण्णाण-विसेसपसण्णहिअओ राआ जं वुत्तं तं अणुचिट्ठस्सदि एसो जाणिदव्वोत्ति अह्माणं भअवदो वंमीइमहेसिणो आदेसोत्ति । [तौ किल भगवतो वाल्मीकि-महर्षेः शिष्यौ प्रवीणौ वीणा-कला-विज्ञानेऽपूर्वं किलाऽऽगमं धारयतः। एतौ किलैवं वदतः—राजर्षेर्जनानां तपोधन-बहु-मानेनास्माकमिव भू-स्थानमा-सन-प्रदानम् अनुष्ठातव्यम् । यदा आवां मन्द-भद्रस्य···दुष्कर-विन्यासं महा-कवि-सङ्ग्रथित-महा-पुरुष-चरित्र-बन्धं महार्थ-गम्भीरं केनाप्यश्रुत-पूर्वमागमं गान्धर्व-वेद-संवादि सरसं योग-विरचित-वर्ण-रमणीयकं वीणा-तन्त्री-रसितानुविद्धं गीतं गायावः, तदा विज्ञान-विशेष-प्रसन्न-हृदयो राजा यं वृत्तान्तमनुष्ठास्यति एष ज्ञातव्यः—इत्यस्माकं भगवतो वाल्मीकि-महर्षेरादेशः—इति ।][2] *

---

१. राम—कहो, कहो ।

२. किल—(अव्यय) कहा जाता है । प्रवीणः—निपुण । विज्ञानः—दर्शन । आगमः—कला-रहस्य, उपदेश, शिक्षा । धारयतः—जानते हैं । अनुष्ठात-व्यम्—करना चाहिए । मन्द-भद्रस्य—अभागे का । दुष्कर-विन्यासः—कठिन पद-रचना वाला । सङ्ग्रथित—रचित । संवादि—सदृश । वृत्तान्तः—चेष्टा ।

प्रवीणौ—प्रकृष्टा वीणाऽस्य; अथवा वीणया प्रगायति, प्रगीयते वा। (सत्यापपाशरूपवीणा—पा० ३.१.२५) णिजन्तात् पचाद्यच् पा० ३.१.१३४; कर्मणि घञ् (पा० ३. ३. १९) वा । देखिए,

"प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः ।
वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि ।।" इत्यमरः

वीणा-कला-विज्ञाने—वीणायाः कला (वीणा-वादनम्), तस्या विज्ञाने (नैपुण्यं); 'वीणा बजाने की कला की विशिष्ट निपुणता में'। आगमम्—आ + गम् + घञ् आगमः, तम् ।

जनानाम्—कर्तरि षष्ठी; 'जनों द्वारा'। मन्द-भद्रस्य—इसका संकेत

रामः—अहो विज्ञानावलेपः शौण्डीर्य-गर्भश्चोपन्यासः। वयस्य! यथाऽभिमतं प्रतिज्ञाय प्रवेशयाविलम्बितं पुरा तौ न चिरावस्थान-निर्वेदेन पराङ्मुखौ-भवतः।[1]

विदूषकः—कुदो दाणिं णिव्वेदो ? ते हि अण्णोण्णवञ्चलत्तणं आआ-

राम की ओर प्रतीत होता है।

दुष्कर-विन्यासम्—दुष्करः विन्यासः यस्य, तत्; दुष्करः—दुःखेन कर्तुं शक्यः; विन्यासः—विशेषेण न्यासः। महा-कवि-सङ्ग्रथित-महा-पुरुष-चरित्र-बन्धम्—महा-कविना (वाल्मीकिना) सङ्ग्रथितः महापुरुषस्य चरित्र-बन्धः यत्र, तत् (बहु०)। महार्थ-गम्भीरम्—महार्थेन (महता अर्थेन) गम्भीरम् (तृतीया तत्पु०)। गान्धर्व-वेद-संवादि—गान्धर्व वेदस्य संवादि। सरसम्—रसैः (शृङ्गारादिभिः) सह वर्तमानम्, 'सरस, रसों से ओतप्रोत'। योग-विरचित-वर्ण-रमणीयम्—योगेन विरचितैः वर्णैः रमणीयम्, 'योग द्वारा विरचित वर्णों से सुन्दर'। यहाँ योग से "मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः' की ओर संकेत है। वीणा-तन्त्री-रसितानुविद्धम्—वीणायाः तन्त्रीणां (गुणानां) रसितेन (नादेन) अनुविद्धम्, 'वीणा की तारों के साथ बजाने से'। विज्ञान-विशेष-प्रसन्न-हृदयः—विज्ञान-विशेषेण प्रसन्नं हृदयं यस्य सः। वृत्तान्तम्—वृत्तस्यान्तः, अथवा वृत्तोऽन्तोऽस्य; 'चेष्टा'। देखिए,

"वृत्तान्तः प्रक्रियायां च" इति विश्वः

विदूषक—कहा जाता है कि वे दोनों भगवान् वाल्मीकि महर्षि के शिष्य हैं, वीणा बजाने की कला में अपूर्व शिक्षा पाई है और उसमें बेजोड़ हैं। वे दोनों इस प्रकार कहते हैं—तपस्वियों का सम्मान करने के लिए राजपुरुषों को भी हमारी तरह भूमि पर आसन लगाना चाहिए। हम एक महापुरुष के चरित्र के सम्बन्ध में एक महा-कवि द्वारा रचे, गीत को वीणा की तारों की ध्वनि के साथ गायेंगे। इसकी पद-रचना (दूसरों के लिए) बड़ी कठिन है, अर्थ-गौरव के कारण गम्भीर है, यह शास्त्र पहले किसी ने नहीं सुना, गान्धर्व वेद सदृश गेय है, रसों से ओतप्रोत है, योग-शक्ति द्वारा संयोजित वर्णों के कारण मनोहर है। तब (इस) विशिष्ट (संगीत-) कला द्वारा प्रसन्न-हृदय राजा जो चेष्टा करे, वह जानना, यह हमें भगवान् वाल्मीकि महर्षि का आदेश है।

१. अवलेपः—गर्व। शौण्डीर्यम्—उन्मतता। उपन्यासः—प्रस्ताव, कथन। यथाभिमतम्—इच्छानुसार। प्रतिज्ञाय—वचन देकर। अवस्थान—(नपुं०) ठहरना। निर्वेदः—खेद। पुरा—पहले।

रसारिच्छं काअपक्खपरिभूसिदं च वअणं पेक्खिअ—एव्वं रामलक्खणा महाराअदसरहे धरमाणे राअट्ठाणं अलंकरंता भवंति—त्ति तुह्माणं बालभावं महाराअं अ सुमरिअ बप्फपुण्णणअणेहिं सोविदल्लएहिं परिपुट्टा चिट्ठंति। [कुत इदानीं निर्वेदः ? तौ हि अन्योऽन्य-वत्सलत्वम् आकार-सादृश्यं काकपक्ष-परिभूषितं च वदनं प्रेक्ष्य —एवं राम-लक्ष्मणौ महाराज-दशरथे ध्रियमाणे राज-स्थानमलङ्कुर्वन्तावभूताम्—इति युवयोर्बाल-भावं महाराजं च स्मृत्वा बाष्प-पूर्ण-नयनैः सौविदल्लैः परिपृष्टौ तिष्ठतः ।[1]

राम:—किमस्मच्छैशवानुकारिणी तयोराकृतिः ?[2]

विदूषक:—अह इं । [अथ किम् ।][3]

राम:—वर्धते मे कुतूहलम्, तत्प्रवेशयाविलम्बितम् ।[4]

शौण्डीर्य-गर्भः—शौण्डीरस्य भावः शौण्डीर्यम्, तद् गर्भे (मध्ये) यस्य सः, 'उन्मततापूर्ण' । उपन्यासः—देखिए, "उपन्यासस्तु वाङ्मुखम् ।" इत्यमरः । पुरा तौ न पराङ्मुखीभवतः—जब तक वे लौट न जायँ । यावत् और पुरा के साथ लट् का प्रयोग लृट् के अर्थ में होता है । (यावत्पुरा-निपातयोर्लट् पा० ३. ३. ४) देखिए, पुरा उत्त्रंस्यन्ति । कुन्द० ३. ८

चिरावस्थान-निर्वेदेन— चिराय यदवस्थानं तेन यो निर्वेदः, तेन ।

राम—अहो ! (संगीत-कला के) विशिष्ट ज्ञान का इतना गर्व और उन्मत्ततापूर्ण कथन ! मित्र ! उन्हें यथेष्ट वचन देकर तुरन्त भीतर ले आओ, देर तक (द्वार पर) खड़े रहने के खेद से वे लौट न जायँ ।

१. वत्सलत्वम्—प्रीति । काकपक्षः-पटे, बालकों की केश-रचना । ध्रियमाणः—जीवित । राजस्थान—राजभवन । परिपृष्टौ—पूछताछ किये जा रहे । सौविदल्लैः—कञ्चुकियों से । ध्रियमाणे—√धृ ६आ० 'जीवन धारण करना' + शतृ ।

सौविदल्लैः—सुष्ठु विदन्तं विद्वांसमपि लान्ति वशवर्तिनं कुर्वन्ति, सुविदल्लाः स्त्रियाः, तासामिमे रक्षकाः (तस्येदम् पा० ७.३.१२०) इति अण् तैः ।

विदूषक—अब खेद कैसा ? उनके परस्पर प्रेम, रूप-सादृश्य और काकपक्षों से अलंकृत मुख को देखकर—महाराज दशरथ की जीवितावस्था में ऐसे ही राम-लक्ष्मण राज-भवन को शोभायमान किया करते थे—इस प्रकार तुम्हारे बचपन और महाराज का स्मरण करके डब-डबाई आँखों वाले कञ्चुकी पूछ-ताछ कर रहे उन्हें रोके खड़े हैं ।

२. राम—क्या उनकी आकृति मेरे जैसी है ?

३. विदूषक—जी, हाँ ।

४. राम—मेरा कुतूहल बढ़ रहा है । तुरन्त लिवा लाओ ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। [यद्भवानाज्ञापयति।][1]

[इति निष्क्रान्तः

(ततः प्रविशतो विदूषकेणोपदिश्यमान-मार्गौ तापसौ कुश-लवौ)[2]

विदूषकः—इदो इदो अंज्जा। [इत इत आर्यौ।][3]

(परिक्रम्य)

कुशः—(अपवार्य) वत्स लव! इदानीं भगवतो वाल्मीकेरादेशादम्बामभिवाद्य पार्थिव-भवनाभिमुखं प्रस्थिते मयि काक-पक्ष-ग्रहण-सञ्ज्ञया पर्ण-शालायां प्रवेश्य कीदृशेन रहस्येनाम्बया पृथक्संविभक्तो भद्र-मुखः।[4]

लवः—न खलु कश्चित् संविभागः। किन्तु तदानीं तापस-जन-सङ्कीर्णमुटजाभ्यन्तरं प्रविश्य बाहूपपीडं तनूदरेण परिष्वज्य शिरसि चाऽऽघ्राय सीत्कार-लाञ्छित-स्मित-मधुरं साऽऽशङ्का शनैः शनैः कर्ण-पत्रं वर्धयन्ती स्व-मुखेन मन्मुखमपवार्य एवं सन्दिष्टवती—वत्स! युवाभ्यां स्वाभाविकमवलेपं परित्यज्य सत्कर्तव्यो महाराजः, कुशलं च परिप्रष्टव्यम् —इति।[5]

---

१. विदूषक—जो आप आज्ञा दें। [प्रस्थान

२. (विदूषक द्वारा मार्ग दिखलाये जाते हुए दो तपस्वी-कुमारों कुश-लव का प्रवेश)

३. विदूषक—इधर आओ, इधर।

(चलकर)

४. अपवार्य—एक ओर होकर। पार्थिव-भवन—राज-भवन। सञ्ज्ञया—संकेत द्वारा। भद्र-मुख—सुमुख। संविभक्त—कर्त्तव्यादेश दिया गया। अपवार्य—

"परावृत्त्य रहस्यप्रकाशनमपवारणं तत् कृत्वा।"

"तद्भवेदपवारितम्। रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्त्य प्रकाश्यते।" सा० द०

काक-पक्ष-ग्रहण-सञ्ज्ञया—काक-पक्षाणां ग्रहणं तस्य सञ्ज्ञया, 'काक-पक्षों के पकड़ने के संकेत द्वारा'। संविभक्तः—सं + वि + √भज् १ उभय० + क्त।

कुश—(एक ओर होकर) भाई लव! अभी भगवान् वाल्मीकि की आज्ञानुसार माताजी को प्रणाम करके राज-भवन की ओर मेरे चलने पर काक-पक्ष पकड़कर संकेत द्वारा कुटिया के भीतर ले जाकर अकेले में कौनसा रहस्य तुम्हें कहा था?

५. तनु—कृश। परिष्वज्य—चिपटाकर। सीत्कारः—चूमने की आवाज। कर्णपत्र—कर्णभूषण। वर्धयन्ती—काटती हुई, निकालती हुई।

कुशः—युज्यते कुशल-प्रश्नः, प्रणामस्तु कथम् ?[1]

लवः—न कथम् ?[2]

कुशः—अप्रणन्तारः किलास्मद्वंश्याः ।[3]

लवः—क एवमाह ?[4]

कुशः—अम्बा ।[5]

लवः—प्रणाममपि सैवोपदिष्टवती, न च गुरु-नियोगा विचार-मर्हन्ति ।[6]

कुशः-साधयामस्तावत्, अग्रतस्तत्र यत्कालोचितमनुष्ठास्यावः ।[7]

तापस-जन-सङ्कीर्णम्—तापसा एव जनाः, तैः सङ्कीर्णम् (व्याप्तम्) 'तपस्वियों से घिरी'। बाहूपपीडम्—बाहुभ्याम् उपपीडम्, 'बाहों में पीच-कर'। तनूदरेण- तनुना उदरेण, 'कृशोदरी द्वारा'। सीत्कार-लक्षित-स्मित-मधुरम्—सीत्कारेण लक्षितं यत् स्मितं तेन मधुरं यथा तथा क्रिया-विशेषण। वर्धयन्ती- √वर्ध् १० उभय० 'बढ़ाना' + शतृ + ङीप्। स्त्रियाँ 'आभूषण उतार कर रखने के लिए' 'आभूषण बढ़ाना' ऐसा कहती हैं। दुकानदार भी दुकान बन्द करने के लिए 'दुकान बढ़ाना' कहते हैं। इसी प्रकार 'दीआ बुझाने को' 'दीया बढ़ाना' कहा जाता है। इसीलिए यहाँ 'वर्धयन्ती' प्रयोग हुआ है।

लव—पृथक् कर्त्तव्योपदेश कुछ नहीं। किन्तु उस समय कुटिया में तपस्वियों की भीड़ लगी थी, (इसलिए) कुटिया के भीतर जाकर बाहों से (मुझे) दबाकर, कृशोदर से चिपटाकर, पुचकारने से प्रकट हो रही मधुर मुस्कान से सिर चूमकर, शंकित हो, धीरे-धीरे कर्णाभूषण हटाते हुए अपने मुँह से मेरा मुँह एक ओर करके इस प्रकार आज्ञा देने लगी—लाल! तुम दोनों अपने स्वाभाविक गर्व का त्याग करके राजा का सत्कार करना और कुशल-क्षेम पूछना।

१. कुश—कुशल-क्षेम पूछना तो ठीक है, प्रणाम क्यों ?

२. लव—नहीं क्यों ?

३. अप्रणन्तारः—न प्रणन्तारः; प्रणन्तारः—प्रणन्तृ का प्रथमा बहु०। कुश—हमारे वंश के लोग किसी को सिर नहीं झुकाते।

४. लव—यह किसने कहा ?

५. कुश—माताजी ने।

६. लव—प्रणाम करने को भी उसी ने आदेश दिया है, और गुरुजनों की आज्ञा पर मीन-मेष करना ठीक नहीं।

७. कुश—तो जाते हैं। आगे जैसा अवसर होगा, वैसा कर लेंगे।

(परिक्रामतः)

विदूषकः—इदो इदो अंज्जा । [इत इत आर्यौ ।][1]

रामः—(विलोक्य) नूनं तदेवेतद्दारक-द्वयं कौशिकेनो-पदिश्य-मान-मार्गमित एवाभिवर्तते । कथमस्मायितोऽस्मि ! किं नु खल्वेतत् ?[2]

न चैदतदभिजानामि नाऽऽकूतमपि किञ्चन ।
तथाऽप्यापात-मात्रेण चक्षुरुद्बाष्पतां गतम् ॥ ६ ॥

अथवा किमत्राश्चर्यम्—

आपात-मात्रेण कयाऽपि युक्तया सम्बन्धिनः संनमयन्ति चेतः ।
*विमृश्य किं दोष-गुणानभिज्ञश्चन्द्रोदये श्च्योतति चन्द्र-कान्तः ॥ १० ॥**

(चलते हैं)

१. विदूषक—इधर आइए, इधर ।

२. राम—(देखकर) कौशिक द्वारा मार्ग बतलाये जाते हुए निश्चय ही यह बालकों की जोड़ी इधर ही आ रही है। मैं अपने-आपको भूल कैसे गया ? यह क्या बात है ?

अन्वयः—एतत् न अभिजानामि आकूतम् अपि न च जानामि, तथापि आपात-मात्रेण चक्षुः उद्बाष्पतां गतम् ।

श०—अभिजानामि—पहचानता हूँ । आकूतम्—अभिप्राय । आपात-मात्र—देखते ही, झटपट । उद्बाष्पता—आँसुओं का उमड़ना ।

टि०—आकूतम्—आ + कू + भावे क्त । आपात-मात्रेण—आपातः एव आपात-मात्रम्, तेन, 'देखने भर से' । आपातः—आ + पत् + घञ्; प्रथम सम्पर्क' । उद्बाष्पताम्—उद्गतो बाष्पो यस्मिन् तद् उद्बाष्पम्, तस्य भावः, उद्बाष्पता, ताम् ।

हिन्दी—न मैं इस (जोड़ी) को पहचानता हूँ, न (इस जोड़ी का) कोई अभिप्राय ही जानता हूँ। तो भी देखने भर से मेरी आँखों में आँसू उमड़ आये हैं।

अथवा, इसमें आश्चर्य कैसा ?

अन्वयः—सम्बन्धिनः कया अपि युक्तया आपात-मात्रेण चेतः सन्नमयन्ति; दोष-गुणानभिज्ञः चन्द्र-कान्तः चन्द्रोदये विमृश्य श्च्योतति किम् ?

श०—सन्नमयन्ति—वशीभूत कर लेते हैं। चन्द्र-कान्तः—मणि का नाम है। विमृश्य—विचार कर। श्च्योतति—पिघलती है।

टि०—कवि यहाँ यह कहना चाहता है कि चन्द्रकान्तमणि बिना जाने ही कि चन्द्रमा उदय हो गया है, पिघलने लगती है। बन्धु-भाव स्वयमेव प्रकट हो

निर्वर्णयामि तावत्किमाकारावेताविति। कथं द्रष्टुमपि न प्रभवामि। यथा-यथा कुमारावेतौ निर्वर्णयामि तथा-तथा हृदयमप्यननुभूत-पूर्वेण साध्वस-प्रहर्ष-शोकानुक्रोश-सम्भेद-चित्रेणावस्था-विशेषेणाऽऽ-क्राम्यमाणं मूर्च्छयेव तिरोधीयते। (मूर्च्छामभिनीय) बाष्प-पातश्च कथम्! प्रशान्त इव मे हृदय-स्तम्भः बाष्प-पातेन, स्वस्थीभूतोऽस्मि संवृत्तः, एतद्व्यपनीत-बाष्प-व्यवधानेन चक्षुषा पुनरवलोकयामि। (निर्वर्ण्य) गम्भीरोदारः सन्निवेशः, प्रशान्त-मनोहरा वेष-रचना, विनयोदयोदात्तम-भिक्रान्तम्। सुव्यक्तमनेन युगलेन कुलीनेन भवितव्यम्।'*

जाता है। सन्नमयन्ति—सम् + √नम् १ पर० + णिच् + लट्। दोष-गुणानभिज्ञः—दोषाणां गुणानां च अनभिज्ञः; अभिजानातीति अभिज्ञः; स न भवतीति अनभिज्ञः। श्च्योतति— √श्च्युत् १ पर० 'बहना, टपकना' + लट्।

हिन्दी—सम्बन्धी लोग किसी अज्ञात ढंग से दर्शन-मात्र द्वारा ही हृदय को मोह लेते हैं। चन्द्रोदय होने पर दोष-गुण से अपरिचित (जड़) चन्द्रकान्तमणि क्या कुछ विचारकर पिघला करती है? [१०]

१. साध्वसम्—भय। अनुक्रोशः—करुणा। सम्भेदः—सम्मिश्रण। चित्र—विचित्र, नाना रूप। आक्रम्यमाणः—व्याकुल हुआ, दबाया हुआ। तिरोधीयते—छिप जाता है। व्यपनीत—दूर हटाया गया। व्यवधानम्—पड़दा। सन्निवेशः—आकार। उदात्त—मनोहर। अभिक्रान्तम्—चेष्टा, गति। निर्वर्णयामि—निर् + √वर्ण् + णिच् + लट्। अननुभूत-पूर्वेण—पूर्वमनुभूतो-ऽनुभूतपूर्वः, न अनुभूतपूर्वः अननुभूतपूर्वः, तेन। साध्वस-प्रहर्ष-शोकानुक्रोश-सम्भेद-चित्रेण—साध्वसं च प्रहर्षः च शोकः च अनुक्रोशः च, एतेषां सम्भेदः, तेन चित्रेण। आक्रम्यमाणम्—आ + √क्रम् १ आ० + णिच् + शानच्। तिरोधीयते—तिरस् + धा + णिच् + लट्। बाष्प-व्यवधानेन—बाष्पाणांव्यव-धानं यस्य, तेन। विनयोदयोदात्तम्—विनयस्य उदयेन उदात्तम्। सुव्यक्तम्—सु + वि + अञ्ज् + क्तः; क्रिया-विशेषण।

प्रशान्त इव मे····आँसुओं के बह जाने से हृदय की जड़ता शान्त हो गई है। यही भाव भवभूति का देखिए,

पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोक-क्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥ उत्तर० ३.२६

हिन्दी—देखूँ तो ये दोनों की आकृति कैसी है। यह क्या है? मैं (इन्हें) देख भी नहीं सकता। ज्यों-ज्यों इन बालकों को देखता हूँ त्यों-त्यों मेरा हृदय, भय, आनन्द, शोक और दया के सम्मिश्रण से

विदूषकः—एसो अत्तभवं राआ, उपसप्प अंआ जहाहिप्पाअं। [एषोऽत्रभवान् राजा, उपसर्पतामार्यौ यथाऽभिप्रायम्।][1]

कुशः—वत्स लव ! अपि जानासि त्वं संप्रत्येव प्रणाम-सम्बन्धेन यथा मया कथितम् ?[2]

लवः—अथ संप्रति किम् ?[3]

कुशः—यथा यथैनं पार्थिवं प्रत्यासीदामि तथा-तथा हृदयोत्कम्प-कारिणा साध्वसेन न प्रभवामि स्वाङ्गानाम्, परित्यक्तोऽस्मि कस्मात् तुल्या-वलेपेन ? न शक्नोमि चास्य पुरस्तादनवनतमुत्तमाङ्गमुद्वोढुम्; किं बहुना, एष प्रणतोऽस्मि।[4]

नाना प्रकार की दशाओं से व्याकुल हुआ मूर्च्छित-सा हो रहा है। (मूर्च्छा का अभिनय करके) यह अश्रुपात कैसा ? आँसू बह जाने से जड़ हुआ मेरा हृदय मानो शान्त हो गया है, मैं सर्वथा स्वस्थ हो गया हूँ। आँसुओं का पड़दा हट जाने से (निर्मल हुई) आँखों से फिर देखता हूँ। (देखकर) इनका गठन गम्भीर और उदार है, वेष-भूषा सौम्य और मनोहर है, विनय-भाव से भरी (इनकी) गति भी मनोहर है, सुस्पष्ट है कि यह जोड़ी किसी ऊँचे कुल से होगी।

१. विदूषक—ये हैं महाराज, स्वेच्छापूर्वक इनके पास जाइये।

२. कुश—भाई लव ! अभी मैंने प्रणाम के सम्बन्ध में जो कहा था, वह स्मरण है ना ?

३. लव—तो अब क्या है ?

४. पार्थिवः—पृथ्वी-पति, राजा। प्रत्यासीदामिं—पास जाता हूँ। उत्तमाङ्गम्—शिर। अनवनत—न झुका हुआ। उद्वोढुम्—ऊपर उठाये रखने के लिए।

पार्थिवम्—'पार्थिवो नृपे।' इति मेदिनी; 'राजा को'। प्रत्यासीदामि—प्रति + आ + सद् + लट्; क्तान्तरूप 'प्रत्यासन्न'। हृदयोत्कम्पकारिणा—हृदयस्य उत्कम्पः, तत्कारिणा। तुल्यावलेपेन—तुल्योऽवलेपः, तेन। उद्वोढुम्—उद् + √वह् + तुमुन्।

कुश—ज्यों-ज्यों राजा के समीप जाता हूँ त्यों-त्यों हृदय को धड़कानेवाले भय के कारण मैं अपने अंगों को भी बस में नहीं रख रहा, किस कारण मेरा स्वाभिमान मुझे छोड़ रहा है ? इसके सामने सिर ऊँचा उठा रखना असम्भव हो रहा है। अधिक क्या, लो, मैं यह झुक गया।

लवः—कथमार्योऽप्यहमिव परम-वशत्वमापादितः ।[1]

(उभौ प्रणमतः)

रामः—न खलु भवद्भ्यां मर्यादा-लङ्घनमनुष्ठेयम् । कथं प्रणतावेव, कष्टं ब्रह्म-शिरसा नतोऽस्मि ।[2] (विषादं नाटयति)

विदूषकः—भो तुवं किं विसण्णो ? एदेहिं पउत्तोपणामो ण पडिगहीदो एत्थ ण तुमं परिहीयसि । [भो त्वं किं विषण्णः ? एताभ्यां प्रयुक्तः प्रणामो न प्रतिगृहीतः, अत्र न त्वं परिहीयसे ।][3]

रामः—सम्यगुपलक्षितं कौशिकेन । आर्यावति-दाक्षिण्य-पेशलौ, श्रूयताम्[4]—

अयं भवद्भ्यामति-संभ्रमेण मयि प्रयुक्तः शिरसा प्रणामः ।
*भवत्विदानीं मदनुज्ञयैव युष्मद्गुरूणां चरणोपहारः ॥ ११ ॥**

---

१. लव—क्या भाई जी भी, मेरे समान, विवश हो गये ?

(दोनों प्रणाम करते हैं)

२. राम—आपको मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, क्या झुक ही गये ? ओह, ब्राह्मण का सिर मेरे सामने झुक गया । (दुःख का अभिनय करते हैं)

३. प्रतिगृहीत—स्वीकृत । परिहीयसे—हीन (कम) हो जाओगे ।

विषण्णः—वि + सद् + क्त । परिहीयसे—परि + हा + णिच् + लट् ।

विदूषक—अरे तुम क्यों दुःखी हो रहे हो ? इनसे किया गया प्रणाम तुमने स्वीकार ही नहीं किया । इसमें तुम्हारी हानि ही क्या ?

४. अति-दाक्षिण्य—शिष्टाचार । पेशल—निपुण ।

दाक्षिण्यम्—"दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्तनम्" ।

पेशलः—"चारौ दक्षे च पेशलः ।" इत्यमरः

राम—कौशिक ने ठीक समझा । शिष्टाचार-निपुण महानुभावो ! सुनो—

अन्वयः—अयम् अति-संभ्रमेण भवद्भ्यां मयि शिरसा प्रयुक्तः प्रणामः मदनुज्ञया एव इदानीं युष्मद्गुरूणां चरणोपहारः भवतु ।

श०—संभ्रमः—शीघ्रता । अनुज्ञा—अनुमति । उपहारः—भेंट ।

टि०—मदनुज्ञया—मदीयया अनुज्ञया ।

हिन्दी—अति-शीघ्रता-वश सिर झुका कर आपसे किया गया प्रणाम मेरी अनुमति द्वारा अब आपके गुरु-चरणों की भेंट हो । [११]

विदूषकः—अप्पडिहदसासणो पिअवअस्सो, एस पणामस्स परिणामोत्ति।
[अप्रतिहत-शासनः प्रिय-वयस्यः—एष प्रणामस्य परिणामः—इति ।][1]

कुश-लवौ—(उत्थाय) अपि कुशलं महाराजस्य ?[2]

रामः—युष्मद्दर्शनात् कुशलमिव। भवतोः किं वयमत्र कुशल-प्रश्नस्य भाजनम्, न पुनरतिथि-जनस्य समुचितस्य कण्ठ-ग्रहस्य ? (परिष्वज्य) अहो। हृदय-ग्राही स्पर्शः। (विचिन्त्य) अनभिज्ञोऽहं तनय-परिष्वङ्ग-सौख्यस्य यद्यपि, तां तुलामारोहे। स्थाने खलु परिक्रामन्ति तपोवन-पराङ्मुखा गृह-मेधिनः।[3] (आसनार्धमुपवेशयति)

उभौ—राजाऽऽसनं खल्वेतत्, न युक्तमध्यासितुम्।[4]

---

१. अप्रतिहत—न रुका हुआ। परिणामः—बदलना, समाप्ति।

अप्रतिहत-शासनः–प्रतिहतं शासनं यस्य सः (बहु०), स न भवतीति।

विदूषक—मेरे प्रिय मित्र की आज्ञा टल नहीं सकती। प्रणाम का यह सुन्दर उत्तर है।

२. कुश-लव—(उठकर) महाराज सकुशल हैं ?

३. भाजनम्—पात्र। कण्ठ-ग्रहः—गले लगाना। परिष्वज्य—आलिंगन करके। तनयः—पुत्र। पराङ्मुखः—विमुख। गृहमेधिन्—गृहस्थ।

सौख्यम्—सुखम् एव सौख्यम् स्वार्थे ष्यञ्। तनय-परिष्वङ्ग-सौख्यस्य—तनयस्य यः परिष्वङ्गः तत्सौख्यस्य। हृदय-ग्राही—हृदयं ग्रहीतुं शीलमस्य। 'मनोमोहक'। तां तुलामारोहे— √रुह् परस्मैपदी है परंतु यहाँ आत्मनेपद में प्रयोग हुआ है। देखिए, "तुलां यदारोहति दन्त-वाससा" कुमार० ५. ३४

राम ने पुत्र-स्पर्श के सुख का अनुभव नहीं किया था, किंतु कुश-लव के आलिंगन द्वारा वही सुख उन्हें प्राप्त हो गया। गृह-मेधिनः—गृहैः दारैः सह मेधन्ते संगच्छन्ते इति। तुलना कीजिए, एते ही हृदय-मर्मच्छिदः संसार-भावा येभ्यो बीभत्समानाः संत्यज्य सर्वान् कामानरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः। उत्तर० १. ८-९

राम—आपके दर्शन-मात्र से सकुशल हूँ। हम क्या आपके कुशल-क्षेम-प्रश्न के ही पात्र हैं, न कि अतिथि योग्य गले मिलने के ? (आलिंगन करके) अहो ! मनोमोहक स्पर्श है। (विचार कर) यद्यपि मैं पुत्रालिंगन के सुख से अपरिचित हूँ तथापि उसे पा गया हूँ। गृहस्थी लोग ठीक ही वानप्रस्थाश्रम के विमुख रहते हैं।

(दोनों को आधे सिंहासन पर बिठाते हैं)

४. अध्यासितुम्—अधि + √आस् + तुमुन्, 'बैठने के लिए'।

दोनों—यह राजासन है, (इस पर हमारा) बैठना ठीक नहीं।

रामः—सव्यवधानं न चारित्र-लोपाय, तस्मादङ्क-व्यवहितमध्या-स्यतां सिंहासनम्। (अङ्कमुपवेशयति)[1]

उभौ—(अनिच्छां नाटयतः) राजन्! अलमति-दाक्षिण्येन।[2]

रामः—अलमति-शालीनतया।[3]

भवति शिशु-जनो वयोऽनुरोधाद् गुण-महतामपि लालनीय एव।
व्रजति हिम-करोऽपि बाल-भावात् पशुपति-मस्तक-केतकच्छदत्वम् ॥१२॥

---

१. सव्यवधानम्—मध्यवर्ती कोई वस्तु। चारित्र-लोपाय—मर्यादा-भङ्ग करने के लिए। व्यवहितम्—बीच में कुछ और वस्तु का रहना।

राम—बीच में कुछ और वस्तु रहने से मर्यादा-भंग न होगी। इसलिए गोदी में आकर सिंहासन पर बैठ जाओ। (गोदी में बैठा लेते हैं)

२. दोनों—(अनिच्छा का अभिनय करते हुए) राजन्! इतनी उदारता न दिखाइए।

३. राम—इतनी लज्जा मत करो।

अन्वयः—शिशु-जनः वयोऽनुरोधात् गुण-महताम् अपि लालनीय एव भवति। हिमकरः अपि बाल-भावात् पशु-पति-मस्तक-केतकच्छदत्वं व्रजति।

श०—अनुरोधः—विचार। हिमकरः—चन्द्रमा। पशुपतिः—शिव। केतकच्छदः—केवड़े का पत्ता। व्रजति—प्राप्त होती है।

टि०—शिशु-जनः—शिशुः एव जनः। वयोऽनुरोधात्—वयसः अनु-रोधात्। गुण-महताम्—गुणैः ये महान्तः, तेषाम्। हिमकरः—हिमाः कराः यस्य सः;'शीतल किरणों वाला अर्थात् चन्द्रमा'; चन्द्रमा के पर्यायवाची देखिए,

"हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः इन्दुः कुसुमबान्धवः ॥
विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरोषधीशोः निशापतिः।" इत्यमरः

पशुपति-मस्तक-केतकच्छदत्वम्—पशुपतेः यन्मस्तकं तत्र यः केतकच्छदः, तस्य भावः।

पशुपतिः—पशूनां (जीवानां) पतिः; प्राचीन वैदिक साहित्य में पशुपति अग्नि का नाम है। देखिए,

अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि, शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा वाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति। श० १. ७. ३. ८.

केतकच्छदत्वम्—केवड़े का पत्ता छोटा होता है, इसीलिए शिव ने उसे मस्तक पर चुना है। प्रत्येक वस्तु जो छोटी हो, वह अधिक सुन्दर और हृदय-ग्राही होती है।

(साश्रुरवलोकयन् पुनः परिष्वजते । विदूषकमवलोक्य) अपि स्मरति भवान्-निर्वासितायाः सीतायाः कियन्तः संवत्सरा अतिक्रान्ताः—इति ?[1]

विदूषकः–(विचिन्त्य) सुमरामि मंदभाओ । (हस्ताङ्गुलि-प्रमाण-सङ्ख्यां विगणय्य उपरिष्टात् पादाङ्गुलि-त्रयमपि निर्दिश्य) किं बहुणा गणिदेण, सव्वहा अज्ज दसमो संवच्चरो देवीए सीदाए सहत्थेण परिप्पेसिदाए । [स्मरामि मन्द-भाग्यः किं बहुना गणितेन, सर्वथाऽद्य दशमः संवसरो देव्याः सीतायाः स्वहस्तेन परिप्रेषितायाः ।][2]

रामः—(कुमारौ निर्वर्ण्य) यदि स्वस्तिना गर्भमपि निर्वर्तयेत् , यदि कश्चिदवगाहेत तदपत्यमियता कालेनेदृशीमवस्थाम् ।[3]

विदूषकः—हंत ! तंभिदो म्हि मंदभाओ एदाए अण्णादविप्पउत्ततणअ-संकहाए । [हन्त ! स्तम्भितोऽस्मि मन्द-भाग्य एतया अज्ञात-विप्रयुक्त-तनय-सङ्कथया ।] (रोदिति)[4]

रामः—अहमप्येतौ तापस-कुमारावलोकयन्नऽसह्य-वेदना-मवस्थामवतीर्णोऽस्मि ।[5]

हिन्दी—बच्चे अपनी (बाल्य-) अवस्था के कारण बड़े-बड़े गुण-वानों से लाड़-प्यार के योग्य होते हैं। चन्द्रमा भी छोटा होने से शिव के मस्तक पर केवड़े के पत्ते के रूप को पा लेता है। [१२]

१. हिन्दी—(डबडबाई आँखों से देखकर फिर हृदय से लगा लेते हैं। विदूषक की ओर देखकर) क्या तुम्हें स्मरण है कि सीता को निर्वासित किये कितने वर्ष व्यतीत हो गये हैं ?

२. विदूषक—(सोचकर) स्मरण है मुझ अभागे को। (एक हाथ की अंगुलियाँ गिनने के बाद ऊपर से पाँओं की तीन अंगुलियाँ भी गिनकर) अधिक क्या गिनना ? निश्चय ही सीतादेवी को अपने हाथों निर्वासित किये आज दसवाँ वर्ष अवश्य हो लिया।

३. अवगाहेत—प्राप्त करे। स्वस्तिना—'स्वस्ति' अव्यय है। नाटक-कार ने प्रथम अंक में (पृष्ठ ४२.४) भी 'सोत्थिणा' अर्थात् 'स्वस्तिना' लिखा है। ऐसा प्राकृत के प्रभाव से हुआ जान पड़ता है।

राम—यदि प्रसव सकुशल हुआ हो, और उसकी सन्तान इस समय तक जीवित हो तो इतनी आयु की ही होगी।

४. विदूषक—आह ! मैं अभागा अज्ञात तथा परित्यक्त पुत्र के वृत्तान्त से सन्न रह गया हूँ। (रोता है)

५. राम—मैं भी इन दोनों तापस-कुमारों को देखकर असह्य

यां यामवस्थामवगाहमानमुत्प्रेक्षते स्वं तनयं प्रवासी ।
*विलोक्य तां तां च गतं कुमारं जातानुकम्पो द्रवतामुपैति ॥ १३ ॥**

(परिष्वज्य रोदिति)

विदूषकः—(ससंभ्रमं) अविह मुंच, सप्प, मुंच, जीवदु तवस्सितणओ, ओदरदु सिंहासणादो । [अविधा ! मुञ्च, सर्प, मुञ्च, जीवतु तपस्वि-तनयः, अवतरतु सिंहासनतः ।][1]

रामः—(ससंभ्रमं कुमारौ मुञ्चन्) वयस्य ! किमेतत् ![2]

विदूषकः—सुदं मए साकेदणिवासिणं चिरजीविआणं मुहादो—जो किल अराहवो इमं सिंहासणं आदिरोहदि तस्स मुद्धा सदहा सदहा विदलदित्ति । [श्रुतं मया साकेत-निवासिनां चिर-जीवितानां मुखात्—यः किला-राघव इमं सिंहासनमधिरोहति तस्य मूर्द्धा शतधा शतधा विदलति—इति ।][3]

वेदना अनुभव कर रहा हूँ ।

अन्वयः—प्रवासी स्वं तनयं यां याम् अवस्थाम् अवगाहमानम् उत्प्रेक्षते तां तां च गतं कुमारं विलोक्य जातानुकम्पः द्रवताम् उपैति ।

श०—अवगाहमानम्—प्राप्त हुए को । उत्प्रेक्षते—कल्पना द्वारा देखता है । जातानुकम्पः—दयावान् । द्रवताम्—पिघल जाने को । उपैति—प्राप्त होता है ।

टि०—तनयः—तनोति कुलम्, तन + कयन् (अय) (वलिमलितनिभ्यः कयन् उ० ४. ९९) 'जो कुल को फैलाता है, अर्थात् पुत्र । अवगाहमानम्—अव + √गाह् १आ० + शानच् 'प्राप्त हुए को'। उत्प्रेक्षते—उत् + प्र + √ईक्ष् १ आ० लट् । जातानुकम्पः—जाता अनुकम्पः यस्य सः (बहु०) । द्रवताम्—√द्रु १ पर० 'पिघलना' + अप् द्रवः, तस्य भावः द्रवता, 'पिघलना, पसीजना', ताम् । उपैति—उप + आ + √इ २ पर० 'जाना' लट् ।

हिन्दी—प्रवासी अपने पुत्र को जिस-जिस अवस्था को प्राप्त हुए की कल्पना करता है, उसी-उसी (अवस्था) को प्राप्त हुए (किसी और के) बालक को देखकर दया-भाव उमड़ आने से पसीज उठता है। [१३]

(हृदय से चिपटाकर रोते हैं)

१. विदूषक—(व्याकुलता के साथ) हाय ! अरे छोड़ो, हटो, छोड़ो, तापस-कुमार जीवित रहें, सिंहासन पर से नीचे उतर आयें ।

२. राम—(सहसा दोनों कुमारों को छोड़कर) मित्र ! यह क्या]

३. अधिरोहति—अधि के साथ द्वितीया विभक्ति होती है । इमं सिंहासनम् अधिरोहति ।

रामः—(सावेगम्) अवतीर्यतां शीघ्रम् ।[1]

(उभाववतीर्य भूमावुपविशतः)

रामः—अपि स्वस्थौ भवन्तौ, मूर्ध्नो वा न कश्चिद्विकार : ?[2]

उभौ—भोः, स्वस्थावेवाऽऽवाम्, न कश्चिन्मूर्ध्नो विकार : ।[3]

विदूषकः—अहो अच्चरिअं ! अच्चरिअं ! एवं णाम अवरिक्खदपइदि-त्थसरीरा चिट्ठंति । [अहो आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! एवं नाम अपरिक्षत-प्रकृतिस्थ-शरीरौ तिष्ठत : ।][4]

रामः—किमत्राऽऽश्चर्यम् (कुमारौ निर्दिश्य) स्वस्त्ययन-परिगृहीतानि तपश्शरीराणि । पश्य—[5]

अपि नाम शरा मोघास्तपस्संनद्ध-मूर्तिषु ।
वासवस्यापि सुव्यक्तं कुण्ठाः कुलिश-कोटयः ॥ १४ ॥

विदूषक—अवध-वासी बड़े-बूढ़ों के मुँह से मैंने सुना है—जो कोई रघुवंशी के अतिरिक्त इस सिंहासन पर बैठता है उसका सिर सौ टुकड़े हो जाता है ।

१. राम—(व्याकुलता के साथ) शीघ्र उतर जाओ ।

(दोनों उतर कर भूमि पर बैठ जाते हैं)

२. राम—आप दोनों स्वस्थ हैं ना, सिर में कोई कष्ट तो नहीं ?

३. दोनों—अजी हम दोनों स्वस्थ हैं, सिर में कोई कष्ट नहीं।

४. विदूषक—अहो ! बड़ा आश्चर्य है ! इनके शरीर तो बिना किसी घाव के हैं और पहले की भाँति स्वस्थ हैं ।

५. राम—यहाँ आश्चर्य कैसा ? (दोनों कुमारों को संकेत करके) तपस्वियों के शरीर स्वस्ति-वाचन मन्त्रों द्वारा सुरक्षित होते हैं ! देखो,

अन्वयः—तपः-संनद्ध-मूर्तिषु शराः अपि मोघाः नाम वासवस्य कुलिश-कोटयः अपि सुव्यक्तं कुण्ठाः ।

श०—सन्नद्ध—व्याप्त । मूर्तिः—शरीर । मोघ—निष्फल । वासवः—इन्द्र । कुलिशः—इन्द्रवज्र । कोटिः–धार, किनारा । कुण्ठाः—खुट्टल, अतीक्ष्ण ।

टि०—तपः-सन्नद्ध-मूर्तिषु—तपसा संनद्धा (व्याप्ता) मूर्तिः (शरीरं) येषां तेषु (बहु०) । शराः—शृणाति इति शरः, √शृ ९ पर० 'हिंसा करना' अप् (ऋदोरप् पा० ३.३.५७) बहुवचन । मोघाः–मुह्यन्त्यस्मिन्; मुह् + घञ् (हलश्च पा० ३. ३. १२१) 'निरर्थक' । नाम—निश्चय ही; यह अव्यय है । इसके कई अर्थ हैं । देखिए,

"नाम कामे (कोपे) ऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च ।

(कुमारावुद्दिश्य)

किं भवद्भ्यामव्यवहिता भूमिरध्यास्यते ?[1]

उभौ—महाराज ! प्रथम-परिणीतोऽयमर्थः ।[2]

रामः—तथा नाम ।[3]

विदूषकः—भो राअ, अदिही खु एदे, ता करिदु संकहाहि आहिहेअं । [भो राजन् ! अतिथी खल्वेतौ, तत् करोतु संकथाभिरातिथेयम् ।][4]

रामः—एष भवतोः सौन्दर्यावलोकन-जनितेन कौतूहलेन प्रतार्य-माणः पृच्छामि—कतमो वर्ण आश्रमोवाभवतोर्जन्म-दीक्षाभ्यामलंक्रियते ।[5]

"संभाव्यकुत्साप्राकाश्यविकल्पेष्वपि दृश्यते ॥" इति मेदिनी

"नाम प्राकाश्यसंभाव्य क्रोधोपगमकुत्सने ॥" इत्यमरः

वासवः—वसवः देवाः, वसूनि रत्नान्यस्य वा सन्ति (ज्योत्स्नादित्वात् वा० ५.२.१०३) अण्, वसोरपत्यमिति वा । दैत्यानां वासं वाति वा (वा गतिगन्धनयोः + कः) कुलिश-कोटयः—कुलिशस्य (वज्रस्य) कोटयः (तीक्ष्णाः धाराः); कुलिशः—कुलौ शेते, (अन्येभ्योऽपि वा० ३.२.१०१, कुलिनः पर्वतान् श्यति वा √शो ४ पर० 'तेज करना, पतला करना' + क (आतोऽनुपसर्गे—पा० ३.२.३) ।

हिन्दी—तप द्वारा परिवेष्टित शरीरधारियों पर बाण भी निश्चय ही निष्फल हैं और इन्द्र-वज्र के किनारे भी खुट्टल हैं । [१४]

(कुमारों को लक्ष्य करके)

१. अव्यवहिता—वि + अव + √धा + क्त + टाप् व्यवहिता, न व्यव-हिता, 'अपृथक्'; देखिए, शार्दूल-चर्म-व्यवधानवत्याम् (कुमार० ३. ४४)

राम—आप दोनों क्या एक ही स्थान पर (इकट्ठे) रहते हैं ?

२. प्रथम-परिणीतः—प्रथमं परिणीतः (निर्णीतः); पहले से ही निश्चित हो चुका है ।

दोनों—महाराज ! यह पहले ही निश्चय हो चुका है ।

३. राम—अच्छा ।

४. अतिथी—अतति इति; अत + इथिन् (ऋतन्यञ्जि उ० ४. २), द्विवचन; आतिथेयम्—अतिथौ साधु, अतिथि + ढञ् (पथ्यतिथिवसतिस्वपते-र्ढञ् पा० ४.४.१०४)

विदूषक—राजन् ! ये दोनों तुम्हारे अतिथि हैं । प्रेमालाप द्वारा इनका सत्कार करो ।

५. प्रतार्यमानः—'छला गया, बस में किया गया ।'

(कुशः सञ्ज्ञया लवमादिशति)

रामः—द्वितीयो वर्णः प्रथम आश्रमः।[1]

लवः—नैतावग्र-जन्मानौ, तदल्पोऽपराधः प्रणाम-प्रयोगो न्यूनाऽऽसन-परिग्रहश्च। अथ क्षत्रिय-कुल-पितामहयोः सूर्याचन्द्रमसोः को वा भवतोर्वंशस्य कर्ता ?[2]

भगवान्—भगवान् सहस्र-दीधितिः।[3]

रामः—कथमस्मत्समानाभिजनौ संवृत्तौ।[4]

विदूषकः—किं दोएणं वि एक्कं एव्व पडिवअणं। [किं द्वयोरप्येकमेव प्रतिवचनम् ?][5]

रामः—कच्चिदस्ति युवयोर्मिथो यौनः सम्बन्धः ?][6]

प्रतार्यमानः—प्र + तृ + णिच् + शानच्। सौन्दर्यावलोकन-जनितेन—सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यम्, तस्य यदवलोकनं तज्जनितेन, 'सौन्दर्य के देखने से उत्पन्न हुए (कुतूहल) द्वारा'।

राम—आपकी मोहिनी सूरत को देखकर उत्पन्न हुए कुतूहल-वश मैं पूछता हूँ कि आपने किस वर्ग और आश्रम को अपने जन्म और दीक्षा द्वारा सुशोभित किया है ?

(कुश संकेत द्वारा लव को बोलने के लिए कहता है)

१. लव—दूसरा वर्ण, पहला आश्रम।

२. अग्र-जन्मन्—ब्राह्मण। न्यूनासनम्—नीचा आसन। परिग्रहः—ग्रहण करना। वंशस्य कर्ता—वंश-प्रवर्तक।

अग्र-जन्मानौ—अग्रे जन्मास्य; अग्रान्मुखाद्वा जन्मास्य, तौ। देखिए, "अग्र-जन्मा द्विजश्रेष्ठे भ्रातरि ब्रह्मणि स्मृतः।" इति विश्वः

न्यूनाऽऽसन-परिग्रहः—न्यूनं (अधोवर्ति) यदासनं तस्य परिग्रहः, आसनम्—आस्यतेऽत्र आस् + ल्युट्। सूर्याचन्द्रमसोः—सूर्यश्च चन्द्रमाश्च, सूर्याचन्द्रमसौ, तयोः।

राम—ये ब्राह्मण नहीं हैं, इस कारण इनके प्रणाम करने तथा नीचे बैठने से मुझे कम दोष लगा है। अच्छा, क्षत्रिय-कुलों के आदिम-पुरुषों सूर्य और चन्द्रमा में से कौन-सा आपका वंश-प्रवर्तक है ?

३. लव—सूर्य भगवान्।

४. राम—यह तो हमारे ही वंश के हो गये।

५. विदूषक—क्या दोनों का एक ही उत्तर है ?

६. राम—क्या आप दोनों का परस्पर रक्त-सम्बन्ध भी है ?

लवः—भ्रातरावावां सौदर्यौ ।[1]

रामः—संवादी सन्निवेशः, वयसस्तु न किञ्चिदन्तरम् ।[2]

लवः—आवां यमलौ ।[3]

रामः—संप्रति युज्यते । को भवतोर्ज्यायान् ? किं नामधेयम् ?[4]

लवः—(अञ्जलिना निर्दिश्य) आर्यस्य पाद-पूजनायां लव इत्यात्मानं श्रावयामि, आर्योऽपि गुरु-चरण-वन्दनायां—[5]

(अप्रतिपत्तिं नाटयति)

कुशः—अहमपि कुश इत्यहमात्मानं श्रावयामि ।[6]

रामः—अहो उदात्त-रम्यः समुदाचारः ।[7]

विदूषकः—जाणिदं णामहेअं, को जेट्ठोत्ति ण दिण्णं पडिवअणं। [ज्ञातं नामधेयम्, को ज्येष्ठ इति न दत्तं प्रतिवचनम् ।][8]

रामः—नन्वञ्जलि-निर्देशादनाम-ग्रहणाच्च दत्तमेव प्रतिवचनम् —कुशो ज्यायान्—इति ।[9]

---

१. सोदर्यौ—समान उदरे शयितः (समानोदरे शयितः पा० ४.४.१०८); समानस्य वा सादेशः (विभाषोदरे पा० ६.३.८८) 'सगा भाई' द्विवचन, देखिए; "समानोदर्यसोदर्यसगर्भ्यसहजाः समाः ।" इत्यमरः

लव—हम दोनों सगे भाई हैं ।

२. संवादी—समान । सन्निवेशः—आकृति ।

राम—सूरत-शकल एक है, आयु में भी कुछ अन्तर नहीं ।

३. हम जुड़वां हैं ।

४. राम—अब ठीक हैं । आप दोनों में कौन बड़ा है, और क्या नाम है ?

५. लव—(हाथ से कुश की ओर संकेत करके) भाई के चरणों में प्रणाम करते समय मैं अपने-आपको लव कहता हूँ और आप भी गुरु-चरणों में प्रणाम करते समय (झिझक का अभिनय करता है)

६. कुश—मैं भी अपना नाम 'कुश' कहता हूँ !

७. उदात्त-रम्यः—उच्च और मनोहर ।

राम—कैसा उच्च और मनोहर शिष्टाचार है ।

८. विदूषक—नाम तो पता चल गये, परन्तु बड़ा कौन है, इसका उत्तर नहीं दिया

९. राम—अञ्जलि के संकेत से तथा नाम न लेने से उत्तर दे तो दिया कि कुश बड़ा है ।

विदूषकः—साहु जाणिदं संपदं। [साधु ज्ञातं सांप्रतम्।][1]

रामः—किं नामधेयो भवतोर्गुरुः ?[2]

लवः—ननु भगवान् वाल्मीकिः।[3]

रामः—केन सम्बन्धेन ?[4]

लवः—उपनयनोपदेशेन।[5]

रामः—अहमत्रभवतोः शरीरस्य धातारं पितरं वेदितुमिच्छामि।[6]

लवः—नहि जानाम्यस्य नामधेयम्, न कश्चिदस्मिंस्तपोवने तस्य नाम व्यवहरति।[7]

रामः—अहो माहात्म्यम्।[8]

कुशः—जानाम्यस्य नामधेयम्।[9]

रामः—कथ्यताम्।[10]

कुशः—निरनुक्रोशो नाम।[11]

रामः—(विदूषकमवलोक्य) अपूर्वं खलु नामधेयम्।[12]

विदूषकः—(विचिन्त्य) एव्वं दाव पुच्छिस्सं। णिरणुक्कोसोत्ति को एव्वं भणादि ? [एवं तावत् पृच्छामि। निरनुक्रोशः—इति क एवं भणति ?][13]

कुशः—अम्बा।[14]

---

१. विदूषक—ठीक, अब समझ गया।

२. राम—आपके गुरु का क्या नाम है ?

३. लव—भगवान् वाल्मीकि।

४. राम—किस सम्बन्ध द्वारा ?

५. लव—यज्ञोपवीत-सम्बन्धी उपदेश के कारण।

६. राम—मैं आपके जन्म-दाता पिता को जानना चाहता हूँ।

७. लव—मैं उनका नाम नहीं जानता, हमारे आश्रम में उनका नाम कोई नहीं लेता।

८. राम—अहो ! इतनी महत्ता (आपके पिता की)।

९. कुश—मैं उनका नाम जानता हूँ।

१०. राम—कहो।

११. कुश—(उनका) निठुर नाम है।

१२. राम—(विदूषक की ओर देखकर) बड़ा विचित्र नाम है।

१३. विदूषक—(सोचकर) तो ऐसे पूछता हूँ। निठुर उन्हें कौ पुकारता है ?

१४. कुश—माता।

विदूषकः—किं कुविदा एव्वं भणादि, आदु पइदित्था ? [किं कुपितैवं भणति उत प्रकृतिस्था ?][1]

कुशः—यद्यावयोर्बाल-भाव-जनितं कञ्चिदविनयं पश्यति तदैव-मधिक्षिपति—निरनुक्रोशस्य पुत्रौ मा चापलम्—इति।[2]

विदूषकः—एदाणं जदि पिदुणो णिरणुक्कोसोत्ति णामहेअं, एदाणं जणणी तेण अवमाणिदा णिव्वासिदा, तस्स अप्पवहंती एदिणा वअणेण दारएं णिब्भच्छदि। [एतयोर्यदि पितुः निरनुक्रोश इति नामधेयम्, एतयोर्जननी तेनावमानिता निर्वासिता, तस्याप्रभवन्ती एतेन वचनेन दारकं निर्भर्त्सयति।][3]

रामः—सम्यगुपलक्षितं कौशिकेन। (निश्वस्य) धिङ्मामेवं भूतम्। सा तपस्विनी मत्कृतेनापराधेन स्वापत्यमेवं मन्युगर्भैरक्षरैर्निर्भर्त्सयति। (सवाष्पमवलोकयति) अपि सन्निहितस्तत्रभवान् निरनुक्रोशो युष्मदाश्रमे ?[4]

लवः—न सन्निहितः।[5]

रामः—(ससंभ्रमम्) अपि श्रूयते ?[6]

(लवः कुशमवलोकयति)

कुशः—न तस्य पादावस्माकं नमस्कृत-पूर्वौ। अम्बायाः पुनरेक-

---

१. विदूषक—क्या अभी क्रोध में आकर वह ऐसा कहती है अथवा बिना क्रोध के भी।

२. कुश—हमारे बचपन के कारण जब हम से कुछ भूल हो जाती है तो ताना देकर कहती हैं—निठुर के पुत्रो ! चपलता मत करो।

३. विदूषक—इनके पिता का नाम यदि निठुर है तो स्पष्ट है कि उसने इनकी माता का अपमान किया होगा, निर्वासित कर दिया होगा, उसका कुछ बिगाड़ न सकती हुई इस वचन द्वारा बच्चों को डाँटती है।

४. अपत्यम्—सन्तान। मन्यु-गर्भः—क्रोध-भरा।

राम—कौशिक ने ठीक समझा। (गहरा साँस लेकर) धिक्कार है ऐसे को ! वह बेचारी मेरे किये गए अपराध के कारण अपने पुत्र को क्रोध-भरे वाक्यों से डाँटती होगी। (आँखों में आँसू भर कर देखते हैं) क्या वे 'निठुर' महोदय आपके आश्रम में रहते हैं ?

५. लव—वे वहाँ नहीं रहते।

६. राम—(व्याकुलता के साथ) क्या उनके सम्बन्ध में कभी कुछ सुना है ?

(लव कुश की ओर देखता है)

वेणी-संसूचितानि तस्योच्छ्वसितानि ।[1]

रामः—किं वा भवन्तौ तेनाघ्रात-पूर्वौ ।[2]

कुशः—तदपि नास्त्येव ।[3]

रामः—अति-दीर्घ-प्रवासोऽयं दारुणश्च, यद्‌यता कालेन नाम परस्पर-लोचन-गोचरमपि नावतीर्णा यूयम् । (विदूषकमवलोक्य जनान्तिकम्) कुतूहलेनाऽऽविष्टो मातरमनयोर्नामतो वेदितुमिच्छामि । न युक्तं च मम स्त्री-गतमनुयोक्तुम् , विशेपतस्तपोवने । तत्कोऽत्राभ्युपायः ?[4]

विदूषकः—(जनान्तिकम्) अप्पडिहदवअणमहत्तणा हि बह्मणजादी, अहं उण पुच्छिस्सं । (प्रकाशं) भो किण्णामहेआ तुह्माणं जणणी ? [अप्रतिहत-वचन-महत्त्वा हि ब्राह्मण-जातिः, अहं पुनः पृच्छामि । (प्रकाशम्) भो किं नामधेया युवयोर्जननी ?][5]

लवः—तस्या द्वे नामनी[6]

विदूषकः—कहं विअ ? [कथमिव ?][7]

---

१. कुश—उनके चरणों में हमने पहले कभी प्रणाम नहीं किया । माता जी की एक वेणी से सूचित होता है कि वे उन्हीं के लिए गहरे साँस भरती हैं ।

२. राम—क्या पहले कभी उसने तुम्हें चूमा है ?

३. कुश—वह भी नहीं ।

४. स्त्री-गतम्—स्त्री के सम्बन्ध में । अनुयोक्तुम्—पूछने के लिए ।

राम—बड़ा लम्बा और भीषण प्रवास है जो कि इतने समय तक आप एक-दूसरे को देख नहीं पाये । (विदूषक को देखकर; एक ओर) कुतूहल-वश इनकी माता का नाम जानने की इच्छा हो रही है । परन्तु पर-स्त्री के सम्बन्ध में प्रश्न करना उचित नहीं, विशेषकर तपोवन में । तो क्या उपाय है ?

५. अप्रतिहत-वचन-महत्त्वा—अप्रतिहतं वचन-महत्त्वं यस्याः सा । ब्राह्मणों की वाणी निर्बाध है । वे जो चाहें कह सकते और पूछ सकते हैं । देखिए,

अतोऽत्र किञ्चिद् भवतीं बहु-क्षमां द्विजाति-भावादुपपन्न-चापलः ।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने ! न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ कुमार० ५.४०

विदूषक-(एक ओर) ब्राह्मण-जाति का महत्त्व स्वतन्त्र वाणी है । तो मैं पूछ लेता हूँ । (प्रकट) भाई ! तुम्हारी माता का नाम क्या है ।

६. लव—उनके दो नाम हैं ।

७. विदूषक—कैसे ?

लवः—तपोवन-वासिनो 'देवी' इति नामाऽऽह्वयन्ति, भगवान् वाल्मीकिः 'वधूः' इति।[1]

रामः—कतमत् क्षत्रिय-कुलं वाल्मीकि-मुनि-मुख-निर्गतेन वधू-शब्देन वर्धते ?[2]

विदूषकः—वित्थिण्णं खत्तिअकुलं ति ण जाणीअदि कदमं खत्तिअकुलं ति। [विस्तीर्णं क्षत्रिय-कुलमिति न ज्ञायते कतमत् क्षत्रिय-कुलमिति।][3]

रामः—अपि च, इतस्तावद्वयस्य ! मुहूर्त-मात्रम्।[4]

विदूषकः—(उपसृत्य) आणवेदु भवं ! [आज्ञापयतु भवान्][5]

रामः—अपि कुमारयोरनयोरस्माकं च सर्वाऽऽकार-संवादी कुटुम्ब-वृत्तान्तः ?[6]

विदूषकः—कहं विअ। [कथमिव ?] [7]

रामः—पश्य, एतयोः सीता-गर्भस्य च तुल्यः कालातिपातः, एतावपि क्षत्रियौ सूर्यान्वयौ, अजात-प्रोषितौ च, निर्विकारौ राजाऽऽसनरोहणे, पितरि चानयोर्दारुणत्व-सूचनो निरनुक्रोश-शब्दः, मातुश्च माहात्म्य-विभावनो देवी-शब्दः। सर्वथाऽहमनेन सादृश्य-बाहुल्येन पर्याकुलोऽस्मि मन्द-भाग्यः।[8]

---

१. लव—तपस्वी लोग उन्हें 'देवी' कहकर पुकारते हैं, और भगवान् वाल्मीकि 'बहु'।

२. राम—वह कौन-सा क्षत्रिय-कुल है जो वाल्मीकि महर्षि के मुख से निकले 'बहु' शब्द द्वारा सम्मानित हो रहा है ?

३. विदूषक—क्षत्रिय-कुल बड़ा विस्तृत है। कहा नहीं जा सकता कि यह कौनसा क्षत्रिय-कुल है।

४. राम—तनिक इधर तो क्षण-भर आओ, मित्र !

५. विदूषक—(पास जाकर) आज्ञा कीजिए।

६. राम—क्या इन बालकों का और हमारा कुल-वृत्तान्त सब तरह मेल नहीं खाता ?

७. विदूषक—कैसे ?

८. कालातिपातः—काल-अवधि। अन्वयः—वंश। अजात—गर्भस्थ, जन्म से पूर्व। प्रोषित—निर्वासित। माहात्म्य-विभावनः—गौरव विशेष का सूचक। बाहुल्य—अधिकता। पर्याकुलः—व्याकुल।

अजात-प्रोषितौ—अजातौ एव प्रोषितौ 'जन्म से पूर्व निर्वासित'। प्रोषित—प्र + √वस् + क्त, 'परदेश में भेजा गया'।

(वैक्लव्यं नाटयति)

विदूषकः—किं तव ईरिसो अहिप्पाओ सीदागब्भगदा एदे दारआत्ति ? [किं तवेदृशोऽभिप्रायः, सीता-गर्भ-गतावेतौ दारकाविति ?][1]

रामः—मा मैवम् । कथं हन्त ! तपोवन-वासिनि जने सम्बन्धमीदृशमध्यारोपयामि । किन्तु,[2]

एतत्कुमार-युगलं वयसान्वयेन
श्यामोन्नतेन वपुषा विपदाऽनया च ।
तां मैथिलीं तनय-सम्भविनीमवस्था-
मादाय मामतितरां तरलीकरोति ॥ १५ ॥

सूर्यान्वयौ—सूर्यवंशीयौ; अन्वयः—अन्वीयते, √इ गतौ १ पर० इण् गतौ २ पर० वा; अनु + √इ + एरच् (पा०. ३.३.५६) । इसी प्रकार 'चयः', 'जयः' शब्द भी बने हैं ।

राम—देखो, सीता के गर्भ और इनकी आयु बराबर है, ये भी सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं, ये भी जन्म से पूर्व ही निर्वासित कर दिये गए हैं । राज-सिंहासन पर चढ़ने से इनका कोई अनिष्ट नहीं हुआ । इनका अपने पिता के लिए निर्दयतासूचक शब्द 'निठुर' और माता को उसका गौरव-सूचक 'देवी' शब्द (का प्रयोग करना) । इस भारी समानता से मैं अभागा बहुत व्याकुल हो रहा हूँ ।

(विकलता का अभिनय करते हैं)

१. विदूषक—क्या आपके कहने का यह अभिप्राय है कि ये बालक सीता के ही गर्भ से उत्पन्न हुए हैं ?

२. अध्यारोपयामि—अधि + आ + √रुह् + णिच् + पुकच् + लट् ।

राम—नहीं, ऐसा नहीं । हाय ! तपस्विनी के साथ मैं ऐसा सम्बन्ध कैसे""जोड़ सकता हूँ ? किन्तु,

अन्वयः—एतत् कुमार-युगलं वयसा, अन्वयेन, श्यामोन्नतेन वपुषा, अनया विपदा च तां मैथिलीं तनय-सम्भविनीम् अवस्थाम् आदाय माम् अधिकतरां तरलीकरोति ।

श०—उन्नत—ऊँचा । वपुस्—शरीर । तनयः—पुत्र । सम्भविनी—जन्म देने वाली । आदाय—स्मरण कर । तरलीकरोति—अधीर करती है ।

टि०—तनय-सम्भविनीम्—तनयस्य तनययोः वा सम्भवः यस्याम् अस्ति सा, 'पुत्रों को जन्म देने वाली', ताम् । यह समस्त पद 'अवस्थाम्' का विशेषण है । तरलीकरोति—अतरलां तरलं करोति इति ।

(चिन्ता-शोकं नाटयति)

(नेपथ्ये)

भोः ! भोः ! कोऽत्र संनिहितस्तत्रभवतोरिक्ष्वाकु-कुल-कुमारयोः कुश-लवयोः ।[1]

उभौ—(आकर्ण्य) द्वावप्यावां संनिहितौ ।[2]

(पुनर्नेपथ्ये)

किमितीयतीं वेलां नियोगः प्रत्युदास्यते ।[3]

वाल्मीकिना मुनि-वरेण महारथस्य
याऽसौ पुराण-पुरुषस्य कथा निबद्धा ।
सा राघव-श्रुति-पथातिथितां न नेया
कालश्च मध्य-सवनस्य न लङ्घनीयः ॥ १६ ॥

हिन्दी—उस (गर्भवती) जानकी की पुत्रोत्पत्ति की सम्भावना वाली अवस्था का स्मरण करके, यह कुमारों की जोड़ी अपनी आयु, वंश, साँवला और ऊँचा शरीर और इस (जन्म से पूर्व निर्वासन-रूप) विपत्ति द्वारा मुझे अत्यन्त अधीर कर रही है। [१५]

(चिन्ता और शोक का अभिनय करते हैं)

(नेपथ्य में)

१. रे रे ! इक्ष्वाकु-कुल के माननीय कुमार कुश-लव में से यहाँ कौन पास है ?

२. दोनों—(सुनकर) हम दोनों ही पास हैं।

(फिर नेपथ्य में)

३. इतनी देर (रामायण-गान की) आज्ञा के प्रति उपेक्षा क्यों की ?

अन्वयः—मुनि-वरेण वाल्मीकिना महा-रथस्य पुराण-पुरुषस्य या असौ कथा निबद्धा, सा च राघव-श्रुति-पथातिथितां नेया, मध्य-सवनस्य कालः च न लङ्घनीयः ।

श०—महारथः—वीर-पराक्रमी । पुराण-पुरुषः—विष्णु । निबद्धा—रचित ।

टि०—पुराण-पुरुषस्य—पुराणश्चासौ पुरुषश्च तस्य (कर्म०) । राघव-श्रुति-पथातिथिताम्—राघवस्य श्रुति-पथस्य (श्रुतेः पन्थाः, तस्य) अतिथिताम् ।

हिन्दी—महर्षि वाल्मीकि ने वीर-पराक्रमी विष्णु की जो वह (विख्यात) कथा लेख-बद्ध की है, वह (तुम्हें) रामचन्द्र को सुनानी है, और मध्याह्न के स्नान का समय भी नहीं टलना चाहिए। [१६]

उभौ—राजन् ! उपाध्याय-दूतोऽस्मान् त्वरयति ।[1]

रामः—मयाऽपि संभावनीय एव महार्थ-संविधायी मुनि-नियोगः । तथा हि,[2]

भवन्तौ गायन्तौ कविरपि पुराणो व्रत-निधि-
गिरां संदर्भोऽयं प्रथममवतीर्णो वसुमतीम् ।
कथा चेयं श्लाघ्या सरसि-रुह-नाभस्य नियतं
पुनाति श्रोतारं रमयति च सोऽयं परिकरः ॥ १७ ॥

वयस्य ! अपूर्वोऽयं मानवानां सरस्वत्यवतारः, तदहं सुहृज्जन-साधारणं श्रोतुमिच्छामि । संनिधीयन्तां सभासदः । प्रेष्यतामस्मदन्तिकं सौमित्रिः । अहमप्येतयोश्चिराऽऽसन-परिखेदं पाद-विहरणेनापहरामि ।[3]

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे

इति पञ्चमोऽङ्कः

---

१. दोनों—राजन् ! गुरुजी का दूत शीघ्रता के लिए कह रहा है ।

२. महार्थ-संविधायी—महांश्चासावर्थश्च महार्थः, 'महान् कार्यों का साधक', तस्य संविधायी (संविधान-शीलः) ।

राम—महान् कार्यों के साधक मुनि के आदेश का मुझे भी आदर करना चाहिए । क्योंकि,

अन्वयः—भवन्तौ गायन्तौ, कविः अपि पुराणः व्रत-निधिः, गिराम् अयं संदर्भः वसुमतीं प्रथमम् अवतीर्णः, सरसि-रुह-नाभस्य इयं कथा च नियतं श्लाघ्या, अयं परिकरः श्रोतारं पुनाति रमयति च ।

श०—गिर्—वाणी । संदर्भः—रचना । परिकरः—सामग्री ।

टि०—व्रत-निधिः—व्रतानां निधिः, 'तपोधन' । वसुमतीम्—वसु धनमस्त्यस्याम् + मतुप् वसुमती, 'पृथ्वी', ताम्, । सरसि-रुह-नाभस्य—सरसि रोहतीति सरसि-रुहम्, तन्नाभौ यस्य सः सरसि-रुह-नाभः तस्य, 'विष्णु का' ।

हिन्दी—आप दोनों (कुश-लव) गायक हैं, पुरातन तपोधन (वाल्मीकि) कवि हैं, वाणी की यह रचना पहली बार ही पृथ्वी पर उतरी है, विष्णु की यह कथा निश्चय ही प्रशंसनीय है । यह सामग्री-समुदाय श्रोताओं को पवित्र करता है और उनका मनोविनोद (भी) [१७]

३. हिन्दी—मित्र ! मनुष्यों में यह कविता का अवतार अनूठा ही हुआ है, अतः मैं इसे मित्र-वर्ग सहित सुनना चाहता हूँ । सभासदों को एकत्र करो, लक्ष्मण को मेरे पास भेज दो । मैं भी इनके देर तक (मेरी गोदी में) बैठे रहने की थकान को टहलकर मिटाता हूँ । [सबका प्रस्थान

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—संपादित-कौशिक-मुख-संक्रान्त-पार्थिवाऽऽज्ञोऽहमत्र स्थितं स्वामिनमवलोकयामि। (विलोक्य) एष प्राप्त एव स्वामी[1]—

महा-शीलैस्त्रिभिः सार्धमित एवाभिवर्तते।
*परिष्कृतस्त्रिभिर्वेदैरश्वमेध इवाध्वरः ॥ १ ॥**

(ततः प्रविशति कुश-लवाभ्यामनुगम्यमानो राम-भद्रो लक्ष्मणश्च)

(सर्वे परिक्रामन्ति)

छठा अंक

(कञ्चुकी का प्रवेश)

१. संपादिता—पालन की गई। संक्रान्त—प्राप्त। पार्थिवः—राजा।

संपादित-कौशिक-मुख-संक्रान्त-पार्थिवाऽऽज्ञः—संपादिता कौशिकस्य मुखेन संक्रान्ता पार्थिवस्य आज्ञा येन सः। संपादिता—सम् + √पद् ४ आ० + णिच् + क्त + टाप्। कौशिकः—कुशिकस्य गोत्रापत्यम्; कुश + ठञ् अथवा कुशिक + अण्। पार्थिवः—पृथिव्या ईश्वरः + अण् (तस्येश्वरः पा० ५.१.४२)। देखिए,

"पार्थिवो नृपतौ भूमिविकारे पार्थिवोऽन्यवत्।" इति विश्वः

कञ्चुकी—कौशिक के मुख द्वारा प्राप्त महाराज की आज्ञा का पालन करके मैं यहाँ विराज रहे स्वामी की प्रतीक्षा करता हूँ। (देखकर) महाराज तो आ ही गये।

अन्वयः—त्रिभिः वेदैः परिष्कृतः अश्वमेधः अध्वरः इव त्रिभिः महा-शीलैः सार्धम् इत एव अभिवर्तते।

श०—महा-शीलः—सद्वृत्त। अभिवर्तते—विद्यमान है। परिष्कृतः—सुशोभित। अध्वरः—यज्ञ।

टि०—महा-शीलैः—महत् शीलं येषां तैः, 'श्रेष्ठ स्वभाव वालों से'। देखिए, 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः। परिष्कृतः—परिष्क्रियते स्म क्तः (पा० ३. २. १०२) संपरिभ्याम्--(पा० ६. १. १३७) इति सुट्; 'परिनिविभ्यः–' पा० ८. ३. ७०) इति षत्वम्। अर्थ के लिए देखिए,

कञ्चुकी—(उपसृत्य) जयत्वार्यः ! एतत् सज्जमास्थान-मण्डपम्, एतदासनं च। (सर्वे उपविशन्ति)[1]

कञ्चुकी—इतस्तावदवलोकयतु देवः। एते राघवाः पौर-जानपदाश्च देवं संभावयन्ति।[2]

रामः— (दृष्ट्वा) किमिदमपरमस्मदन्तिकाद् यवनिकया तिरोधीयते ?[3]

कञ्चुकी—*एतास्तिस्रो महा-देव्यः कौसल्याद्या मही-पतेः।*
एतद्भरत-शत्रुघ्न-लक्ष्मणानां वधू-त्रयम् ॥ २ ॥

"मण्डितः।
प्रसाधितोऽलंकृतश्च भूषितश्च परिष्कृतः ॥" इत्यमरः

अध्वरः—देखिए, "एतस्मिन्विततताध्वरे" कुन्द० ४.७

हिन्दी—तीनों (ऋक्, यजुः, साम) वेदों से सुशोभित अश्वमेध यज्ञ के समान (महाराज रामचन्द्र) सच्चरित्र (लक्ष्मण, कुश, लव) तीनों (भाइयों) के साथ इधर ही पधार रहे हैं। [१]

(इसके अनन्तर राम तथा लक्ष्मण और उनके पीछे-पीछे कुश-लव का प्रवेश)
(सब घूमते हैं)

१. सज्जम्—प्रस्तुत। आस्थान-मण्डपम्—सभा-मण्डप।

सज्जम्— √सस्ज् + अच्। आस्थान-मण्डपम्–आस्थानस्य मण्डपम्; आस्थानम्—आतिष्ठन्त्यस्याम्, अधिकरणे ल्युट् (पा० ३. ३. ११७) 'संसद, सभा'। देखिए,

"समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः।
आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयो सदः ॥" इत्यमरः

कञ्चुकी—(पास जाकर) महाराज की जय हो ! सभा-मण्डप तैयार है, और यह है राजसिंहासन। (बैठते हैं)

२. पौर-जानपदाः—नागरिक तथा ग्रामवासी।

कञ्चुकी—महाराज इधर देखें, ये रघुवंशी, नागरिक तथा ग्रामवासी महाराज का स्वागत कर रहे हैं।

३. अस्मदन्तिकात्—हमारे समीप से, हमसे। यवनिका—पर्दा। तिरोधीयते—छिपाया जा रहा है।

राम—(देखकर) और यह क्या है (जो कि) पर्दे द्वारा हम से छिपाया जा रहा है ?

अन्वयः—एताः कौसल्याद्याः तिस्रः मही-पतेः महा-देव्यः (सन्ति)।

लक्ष्मणः—(कञ्चुकिनमुद्दिश्य) आर्य ! वैदेही च न देवीषु सङ्ख्यायते, न वधूषु च ।[1]

रामः—(निश्वस्य) कञ्चुकिन् ! गच्छ त्वं स्वभूमिमध्यास्व ।[2]

कञ्चुकी—यदाह ![3] [निष्क्रान्तः

रामः—आर्यौ ! प्रस्तूयताम् ।[4]

कुश-लवौ—

उपयेमे ततस्तिस्रो धर्म-पत्नीर्महीपतिः ।
कौसल्यामथ कैकेयीं सुमित्रां च सुमध्यमाम् ॥ ३ ॥

राम-लक्ष्मणौ—(सहर्षम्) तात एव कथा-नायकतामुपनीतः कविना । (उभौ नमस्कृत्याऽऽसनादवतरतः)[5]

एतत् च भरत-शत्रुघ्न-लक्ष्मणानां वधू-त्रयम् (अस्ति) ।

श०—तिस्रः—तीन । मही-पतिः—राजा ।

टि०—मही-पतेः—मह्याः पतिः, तस्य । भरत-शत्रुघ्न-लक्ष्मणानाम्—भ्रातुश्च ज्यायसः (वा० २.२.३४) के अनुसार बड़े भाई का नाम समास में पहले आना चाहिए; यह समास होना चाहिए था, भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नानाम् । देखिए,

अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ । रामायणः

वधू-त्रयम्—वधूनां त्रयम्, 'तीन बहुएँ' ।

कञ्चुकी—ये कौसल्या आदि महाराज (दशरथ) की तीन रानियाँ हैं, और ये भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न की तीन बहुएँ हैं । [२]

१. लक्ष्मण—(कंचुकी को सम्बोधन करके) आर्य ! सीता देवी को न रानियों में गिना है और न ही बहुओं में ।

२. राम—कञ्चुकी ! तुम जाओ और अपने स्थान पर बैठ जाओ ।

३. कञ्चुकी—जो आज्ञा ! [प्रस्थान

४. राम—आर्यो । प्रारम्भ करो ।

अन्वयः—ततः मही-पतिः तिस्रः धर्म-पत्नीः उपयेमे, कौसल्याम् अथ कैकेयीं सुमध्यमां सुमित्रां च ।

श०—उपयेमे—विवाह किया ।

टि०—सुमध्यमाम्—शोभनो मध्यो यस्यास्ताम् ।

कुश-लव—इसके पश्चात् महाराज (दशरथ) ने तीन धर्म-पत्नियों—कौसल्या, कैकेयी तथा कृशोदरी सुमित्रा—से विवाह किया । [३]

५. राम-लक्ष्मण—(सहर्ष) कवि ने पिताजी को ही कथा-नायक बनाया है । (दोनों नमस्कार करके आसन से उतरते हैं)

कुश-लवौ—कौसल्या सुषुवे रामं

(लक्ष्मणः प्रणमति)

कुश-लवौ— कैकयी भरतं ततः ।

सुमित्रा जनयामास यमौ शत्रुघ्न-लक्ष्मणौ ॥ ४ ॥

(रामो लक्ष्मणमालिङ्गति)

कुश-लवौ—

उपयेमे ततः सीतां रामः सौमित्रिरूर्मिलाम् ।
तथा भरत-शत्रुघ्नौ कुशध्वज-सुते उभे ॥ ५ ॥
बाल्य-यौवनयोर्मध्ये वर्तमाना नृपाऽऽत्मजाः ।
नवयोत्कण्ठया चैव कलत्रे दुःस्थितिं ययुः ॥ ६ ॥

अन्वयः—कौसल्या रामं सुषुवे; ततः कैकेयी भरतं (सुषुवे); सुमित्रा शत्रुघ्न-लक्ष्मणौ यमौ जनयामास ।

श०—सुषुवे—उत्पन्न किया । यम—युगल, जुड़वाँ ।

टि०—सुषुवे— √सू २ आ० लिट् । जनयामास— √जन् ४ पर०+ णिच् । यमः—'जुड़वाँ'; यम के कई अर्थ हैं । देखिए,

"यमो दण्डधरे ध्वाङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च ।" इति विश्वः

कुश-लव—कौसल्या ने राम को जन्म दिया ।

(लक्ष्मण प्रणाम करता है)

कुश-लव—कैकेयी ने भारत को तथा सुमित्रा ने जुड़वाँ पुत्र शत्रुघ्न और लक्ष्मण को जन्म दिया । [४]

(राम लक्ष्मण का आलिंगन करते हैं)

अन्वयः—ततः रामः सीताम् उपयेमे । सौमित्रिः ऊर्मिलाम् (उपयेमे) तथा भरत-शत्रुघ्नौ उभे कुशध्वज-सुते (उपयेमाते) ।

कुश-लव—तदनन्तर राम ने सीता से विवाह किया, लक्ष्मण ने ऊर्मिला से और भरत-शत्रुघ्न दोनों ने कुशध्वज की कन्याओं (माण्डवी और श्रुतकीर्ति) से । [५]

अन्वयः—बाल्य-यौवनयोः मध्ये वर्तमानाः नृपाऽऽत्मजाः कलत्रे नवया उत्कण्ठया च एव दुःस्थितिं ययुः ।

श०—आत्मजः—पुत्र । कलत्रम्—स्त्री । दुःस्थितिः—मानसिक चपलता । ययुः—प्राप्त हुए ।

टि०—कलत्रे—कलं त्रायते इति कलत्रम्; तस्मिन्, अथवा कडति कड्यते वा √कड् १ पर० 'शासन करना' अथवा 'उन्मत्त होना' बाहुलकादत्रन् ।

लक्ष्मणः—रमणीयः।[1]

रामः—अलं कालातिपातेन, गीयताम्।[2]

जरसा पलितस्तातः काक-पक्ष-धरा वयम्।
जानु-दघ्नास्तदा तेऽपि साकेतोद्यान-पादपाः ॥ ७ ॥

कुश-लवौ—अथाभिषेक-संभारे रामस्य समुपस्थिते।
भरते मातुलं द्रष्टुं मातामह-पुरं गते ॥ ८ ॥

देखिए, "कलत्रं श्रोणिभार्ययोः।" इत्यमरः

"दुर्गस्थाने नृपादीनां कलत्रं श्रोणिभार्ययोः" इति रभसः

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है—भार्या, दारा, और कलत्र का अर्थ एक ही है, परन्तु तीनों का लिंग पृथक्-पृथक् है। भार्या स्त्री०, दारा पु० और कलत्रम् नपुं०। दारा के लिए देखिए 'दारान्तराऽऽहरण०' कुन्दमाला १. १४

हिन्दी—बाल्य और यौवन के सन्धि-काल में स्थित राजकुमार अपनी धर्म-पत्नियों के विषय में नई-नई उमंगों के कारण ही मानसिक चंचलता को प्राप्त हुए। [६]

१. लक्ष्मण—बहुत सुन्दर!
२. राम—समय न गँवाओ, गाओ।

अन्वयः—तदा तातः जरसा पलितः वयं काक-पक्ष-धराः (आस्म), ते साकेत-उद्यान-पादपाः अपि जानु-दघ्नाः (आसन्)।

श०—पलितः—बालों का पक जाना। जानु-दघ्नाः—घुटनों तक ऊँचे।

टि०—जरसा—प्रारम्भ में स्वर वाले प्रत्ययों से पहले जरा विकल्प से 'जरस्' हो जाता है। जीर्यतेऽनया; √जॄ २ पर० 'आयु की हानि, बुढ़ापा' + अङ् (षिद्भिदादिभ्योऽङ् पा० ३.३.१०४)। पलितः—यहाँ यह विशेषण है, पलितम् अस्यास्तीति; पलित + अच्। "पलितं जरसा शौक्ल्यं केशादौ।" इत्यमरः

वयं काक-पक्ष-धराः—इससे उनकी बाल्यावस्था की ओर संकेत है। जानु-दघ्नाः—'प्रमाण' के अर्थ में तीन प्रत्यय हैं द्वयसच्, दघ्नच्, और मात्रच्। भाष्यकारानुसार पहले दो प्रत्यय ऊँचाई के लिए प्रयुक्त होते हैं—प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम। उद्यानम्—उद्यान्त्यत्र; √या 'प्राप्त करना', अधिकरणे ल्युट्।

हिन्दी—पिताजी के केश बुढ़ापे के कारण पक गये थे, हम (अभी) काक-पक्षधारी (बालक) थे, तब अयोध्या के उपवनों के वृक्ष भी घुटनों तक ऊँचे थे। [७]

अन्वयः—अथ रामस्य अभिषेक-संभारे समुपस्थिते भरते (च) मातुलं

रामः—(आत्मगतम्) नियतं मध्यमाऽम्बा निन्द्यते। (प्रकाशम्) तमुद्देशमुल्लङ्घ्य सीताऽपहरणात् प्रभृति गीयताम् [1]

कुश-लवौ—कालेन रूप-सौन्दर्यं श्रुत्वा शूर्पणखा-मुखात्।
जहार देहं सीताया न चारित्रं दशाऽऽननः॥ ६॥

(लक्ष्मणो राममवलोकयति)

द्रष्टुं मातामह-पुरं गते (सति)

श०—अभिषेक-संभारः—अभिषेक-सामग्री। मातामहः—नाना।

टि०—राम ने यह समझ कर कि गायक कैकेयी द्वारा वनवास के वर्णन की ओर संकेत करने वाले हैं, उन्होंने तुरन्त और विषय सुझा कर वहाँ से गायन प्रारम्भ करने को कह दिया। राम नहीं चाहते थे कि माता कैकेयी की निन्दा करने का अवसर दिया जाय। इसी प्रकार उत्तर-रामचरित में भी हम देखते हैं कि चित्र-प्रदर्शन के समय जब लक्ष्मण मन्थरा के चित्र की ओर संकेत करता है तब राम सीता का ध्यान किसी और चित्र की ओर जुटा देते हैं। इस पर लक्ष्मण कहता है—अये ! मध्यमाम्बावृत्तान्तोऽन्तरित आर्येण। १. २१-२२

कुश-लव—फिर राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारी होने पर और भरत के मामा से मिलने ननिहाल गये होने पर [८]

१. नियतम्—निश्चय।

राम—(स्वगत) अवश्यमेव कैकेयी की निन्दा की गई है। (प्रकट) उस प्रसंग को छोड़कर सीता-हरण से लेकर गाओ।

अन्वयः—कालेन दशाननः शूर्पनखा-मुखात् (सीतायाः) रूप-सौन्दर्यं श्रुत्वा सीतायाः देहं जहार (परं) चारित्रं न (जहार)।

श०—कालेन—काल-क्रम से। दशाननः—रावण।

टि०—दशाननः—दश आननानि यस्य सः, 'रावण'। प्राचीन समय में लंका-नरेशों की 'एरावण' एक पदवी थी जैसे जर्मनी के बादशाहों की केसर (Kaiser) और रूस के बादशाहों की जार (Czar)। 'एरावण' का अर्थ 'प्रभु, Lord' है। कवि ने यहाँ बड़ी चतुराई से दिखाया है कि रावण सीता को हर ले जाने पर भी उसका सतीत्व न हर सका। शूर्पनखा—शूर्प + नख + आ (टाप्)। जहार—√हृ १ उभय० 'ले जाना', लिट्।

कुश-लव—काल-क्रम से शूर्पनखा के मुँह से (सीता का) रूप-लावण्य सुनकर रावण ने सीता के शरीर को हर लिया (परन्तु) उसका चरित्र न (हर सका)। [६]

(लक्ष्मण राम की ओर देखता है)

कुश-लवौ—ततो बद्ध्वाऽर्णवे सेतुं निहत्य युधि रावणम् ।
सीतामादाय रामोऽपि साकेतं पुनरागतः ॥ १० ॥

रामः—अहो संक्षेपः ![1]

कुश-लवौ—प्राप्त-राज्यस्ततो रामो जन-वादेन चोदितः ।
आहूय लक्ष्मणं प्राह सीता निर्वास्यतामिति ॥ ११ ॥
बाष्प-पर्याकुल-मुखीमनाथां शोक-विक्लवाम् ।
उद्वहन्तीं च गर्भेण पुण्यां राघव-संततिम् ॥ १२ ॥
सीतां निर्जन-संपाते चण्ड-श्वापद-सङ्कुले ।
परित्यज्य महाऽरण्ये लक्ष्मणोऽपि न्यवर्तत ॥ १३ ॥

अन्वयः—ततः रामः अर्णवे सेतुं बद्ध्वा युधि रावणं निहत्य सीताम् आदाय पुनः अपि साकेतम् आगतः ।

टि०—अर्णवः—अर्णांसि (जलानि) सन्त्यत्र; अर्णस् (नपुं०) के स् का लोप हो जाता है और व प्रत्यय का आदेश हो जाता है । (वा० अर्णसो लोपश्च इति वः; सलोपश्च) 'समुद्र' ।

कुश-लव—इसके अनन्तर राम समुद्र पर पुल बाँधकर, युद्ध में रावण को मार कर, (और) सीता को (साथ) ले फिर अयोध्या आ गये । [१०]

१. राम—अहो ! कितना संक्षेप ?

अन्वयः—ततः प्राप्त-राज्यः रामः जन-वादेन चोदितः (सन्) लक्ष्मणम् आहूय 'सीता निर्वास्यताम्' इति प्राह ।

कुश-लव—इसके अनन्तर राज्य पाकर राम ने, लोक-निन्दा से प्रेरित हो, लक्ष्मण को बुलाकर कहा 'सीता को वन में छोड़ आओ ।' [११

अन्वयः—लक्ष्मणः अपि च बाष्प-पर्याकुल-मुखीम् अनाथां शोक-विक्लवां गर्भेण च पुण्यां राघव-सन्ततिम् उद्वहन्तीं सीतां निर्जन-संपाते चण्ड-श्वापद-संकुले महारण्ये परित्यज्य न्यवर्तत ।

श०—संपातः—आना-जाना । संकुल—परिपूर्ण ।

टि०—अनाथाम्—अविद्यमानः नाथः यस्याः सा, ताम् । महारण्ये—महत् च तद् अरण्यं च (कर्म०), तस्मिन् । इन दो पद्यों का एक ही वाक्य बना है । ऐसे पद्य 'युग्म' कहलाते हैं ।

कुश-लव—लक्ष्मण भी आँसुओं से सने मुँहवाली, अनाथ, शोक-विह्वल, तथा गर्भ में रघु-कुल की पवित्र सन्तान को धारण किये सीता को निर्जन (एवं) क्रूर हिंसक जीवों से घिरे महावन में छोड़-

लक्ष्मणः—अहो ! अयशोभागी लक्ष्मणः।[1]

रामः—कस्तवात्रापराधः, राम-पराक्रमाः खल्वेते गृह्यन्ते[2]। ततः।

कुश-लवौ—एतावती गीतिः।[3]

रामः—(सोद्वेगम्) सौमित्रे ! कष्टमापतितम्—[4]

उभौ—ततः प्राणैः परित्यक्ता निराशा जनकात्मजा।
अप्रियाऽऽख्यान-भीतेन कविना संहृता कथा ॥ १४ ॥

कुशः—(अपवार्य) महा-भागावेतौ सीता-संकथायामत्यन्त-विषादिनौ, तस्मादनुयोक्ष्ये। (लक्ष्मणमुद्दिश्य) अपि भवन्तौ रामायण-कथा-नायकौ राम-लक्ष्मणौ ?[5]

लक्ष्मणः—तौ क्लेश-भागिनौ।[6]

कुशः—किं नीता त्वया सीता ?[7]

लक्ष्मणः—(सलज्जम्) मया मन्द-भाग्येन।[8]

कर लौट आया। [१२,१३]

१. लक्ष्मण—अहो ! अपयश का भागी लक्ष्मण बना।

२. गृह्यन्ते—समझे जाते हैं। देखिए,

परमार्थेन न गृह्यतां वचः। शाकु० २. १८

राम—इसमें तुम्हारा क्या अपराध है, ये तो राम के ही चरित्रों का वर्णन माना जाता है। हाँ, तब ?

३. कुश-लव—काव्य तो इतना ही है।

४. राम—(उद्वेग के साथ) लक्ष्मण ! महान् संकट आ पड़ा।

अन्वयः—ततः निराशा जनकात्मजा प्राणैः परित्यक्ता अप्रियाख्यान-भीतेन कविना कथा संहृता।

टि०—प्राणैः परित्यक्ता—यह होना चाहिए था—प्राणैः परित्यक्ता भवेत्। संहृता—सं + √हृ + क्त + टाप् 'समाप्त की गई'।

दोनों—इसके अनन्तर निराश जानकी ने प्राण छोड़ दिये (होंगे) और अप्रिय कथन के भय से कवि ने कथा (यहीं) समाप्त कर दी। [१४]

५. कुश—(एक ओर को) ये दोनों महाभाग सीता-सम्बन्धी कथा से अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, अतः इन्हें पूछता हूँ। (लक्ष्मण को लक्ष्य करके) क्या आप ही रामायण-कथा के नायक राम-लक्ष्मण हैं ?

६. लक्ष्मण—(हाँ) हम वही दुखिया हैं।

७. कुश—क्या तुम सीता को ले गये थे ?

८. लक्ष्मण—(लजाकर) हाँ, मैं अभागा (ले गया था)।

कुशः—किं सीता रामस्य धर्म-पत्नी ?[१]

लक्ष्मणः—अथ किम् ?[२]

कुशः—अथ सीतायास्तद्गर्भस्य वा विदितः कश्चिद् वृत्तान्तः ?[३]

लक्ष्मणः—विदितो युष्मद्गीतेन ।[४]

रामः—किमितः पुनः कल्याणमावेदयति ? (विचिन्त्य) एवं तावदनुयोक्ष्ये। आर्यौ! किमेष युवयोरागमावधिः, आहोस्वित् संदर्भावधिः ?[५]

कुशः—न वयं जानीमः ।[६]

रामः—कण्वोऽनुयोक्तव्यः। सौमित्रे ! कण्वमाह्वय ।[७]

(लक्ष्मणो निष्क्रम्य कण्वेन सह पुनः प्रविष्टः)

कण्वः—(विलोक्य)

स एष रामो नयनाभिरामः सीता-सुताभ्यां समुपास्यमानः ।
यदृच्छया तिष्य-पुनर्वसुभ्यां पार्श्व-स्थिताभ्यामिव शीत-रश्मिः ॥१५॥

---

१. कुश—क्या सीता राम की धर्म-पत्नी है ?

२. लक्ष्मण—हाँ।

३. कुश—क्या सीता अथवा उसके गर्भ का कुछ वृत्तान्त विदित है ?

४. लक्ष्मण—तुम्हारे गीत से ही विदित हुआ है।

५. इतः—इसके अनन्तर । आगमावधिः—अध्ययन की सीमा । आहोस्वित्—अथवा । संदर्भावधिः—ग्रन्थ की सीमा ।

राम—क्या इसके आगे फिर कोई शुभ समाचार सुनायेगा ? (सोचकर) तो इस प्रकार पूछता हूँ। महानुभावो ! क्या तुमने यहीं तक पढ़ा है या ग्रन्थ ही यहीं तक रचा है ?

६. कुश—हम नहीं जानते।

७. राम—कण्व को पूछना चाहिए। लक्ष्मण ! कण्व को बुलाओ।

(प्रस्थान करके लक्ष्मण का कण्व सहित पुनः प्रवेश)

अन्वयः—सः एषः नयनाभिरामः रामः यदृच्छया पार्श्व-स्थिताभ्यां तिष्य-पुनर्वसुभ्यां शीत-रश्मिः इव सीता-सुताभ्यां समुपास्यमानः ।

श०—समुपास्यमानः—उपसेवित । यदृच्छया—अकस्मात् । शीत-रश्मिः—चन्द्रमा ।

टि०—समुपास्यमानः—सम् + उप + आस् + शानच्। तिष्य-पुनर्वसुभ्याम्—तिष्य का दूसरा नाम पुष्य है। २७ नक्षत्रों में से यह आठवाँ नक्षत्र

लक्ष्मणः—कण्वोऽयमार्य ! संप्राप्तः ।[1]

रामः—(प्रणम्य) इदमासनमास्यताम् ।[2]

कण्वः—(उपविश्य) यदि रामायण-श्रवण-कौतुकं कथ्यताम्, कुत्रावधिरभिहितः कुश-लवाभ्यामिति ।[3]

लक्ष्मणः—"*सीता निर्जन-संपाते*" (इति पठित्वा) एषा कुश-लवयोर्गीत-सीमा ।[4]

कण्वः—श्रूयतां ततः परम् ।[5]

रामः—का गतिः ?[6]

कुश-लवौ—राम-दाराणां भद्रं गायति ।[7]

कण्वः—*ततः श्रुत्वा स शिष्येभ्यो वाल्मीकिर्मुनिरुत्तमः ।*
स्वयं सीतां समाश्वास्य निनाय स्वं तपोवनम् ॥ १६ ॥

है। पुनर्वसु—यह नक्षत्र दो भागों वाला है। इसलिए इसका प्रयोग प्रायः द्विवचन में होता है। पाणिनि के नियमानुसार तिष्य और पुनर्वसु का समास द्विवचन में होता है, बहुवचन में नहीं। इसीलिए यहाँ द्विवचन में प्रयोग हुआ है। शीत-रश्मिः—शीताः रश्मयः यस्य सः। देखिए, हिमकरः ५. १२

कण्व—(देखकर) आँखों का तारा यह राम, जो पास बैठे सीता के पुत्र (कुश-लव) द्वारा उपसेवित हो रहा है, ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो अकस्मात् उपस्थित हुए तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों सहित चन्द्रमा विराजमान हो। [१५]

१. लक्ष्मण—भाई जी ! कण्व आ गये।

२. राम—(प्रणाम करके) यह रहा आसन, विराजिए।

३. कण्व—(बैठकर) यदि रामायण सुनने की उत्कण्ठा है तो कहो कुश-लव से कहाँ तक सुना है।

४. लक्ष्मण—"सीता को निर्जन प्रदेश में" इतना पढ़कर यह है कुश-लव के गीत की सीमा।

५. कण्व—इसके आगे सुनिए।

६. राम—क्या चारा है ? (शुभाशुभ जो भी हो सुनना होगा)

७. कुश-लव—क्या राम की धर्मपत्नी का शुभ समाचार सुनायेंगे ?

अन्वयः—ततः उत्तमः मुनिः सः वाल्मीकिः शिष्येभ्यः श्रुत्वा सीतां स्वयं समाश्वास्य स्वं तपोवनं निनाय।

टि०—निनाय—ले गया; √नी १ पर० + लिट्।

कण्व—उसके पश्चात् श्रेष्ठ मुनि (वाल्मीकि), शिष्यों से

रामः—अनुगृहीतं भगवता रघु-कुलम्, अभ्युद्धृतोऽस्मि भगवता।[१]

कुश-लवौ—दिष्ट्या कुशलिनो राम-दाराः।[२] (सर्वे हर्षं नाटयन्ति)

कुशः—अयि वत्स लव! काऽसौ वाल्मीकि-तपोवने सीता नाम ?[३]

लवः—न काचित्, केवलं गीति-निबन्धनान्येतानि—'सीता' 'सीता'—इत्यक्षराणि।[४]

रामः—ततस्ततः।[५]

कण्वः—परिपूर्णे ततः काले द्यौरिवेन्दु-दिवाकरौ।
सीताऽपि जनयामास सा यमौ तनयावुभौ॥ १७॥

लक्ष्मणः—जयत्वार्यः, दिष्ट्या वर्धतां राघव-कुलम्।[६]

कुश-लवौ—जयतु महाराजः पुत्र-जन्मना।[७]

रामः—(स्वगतम्) अपि नाम कुश-लवौ स्याताम्।[८]

निर्जन वन में निःसहाय सीता रो रही है, ऐसा समाचार सुनकर सीता को स्वयं धीरज बँधाकर अपने तपोवन में ले गये। [१६]

१. राम—भगवान् (वाल्मीकि) ने रघु-कुल को अनुगृहीत किया, भगवान् ने मुझे उबार लिया।

२. कुश-लव—बड़े भाग्य! राम की धर्मपत्नी सकुशल है।
(सब हर्ष का अभिनय करते हैं)

३. कुश—प्रिय लव! भगवान् वाल्मीकि के तपोवन में सीता कौन है?

४. लव—कोई भी नहीं। कविता में गुँथे—'सीता, सीता'—ये अक्षर-मात्र हैं।

५. राम—हाँ, तब?

अन्वयः—ततः काले परिपूर्णे सा सीता अपि द्यौः इन्दु-दिवाकरौ इव उभौ यमौ तनयौ जनयामास।

श०—द्यौः—आकाश। इन्दु-दिवाकरौ—चन्द्रमा और सूर्य।

कण्व—तदनन्तर (गर्भ का) समय पूरा हो जाने पर उस सीता ने भी जैसे आकाश चन्द्रमा तथा सूर्य को जन्म देता है, वैसे ही दो जुड़वाँ बेटों को जन्म दिया। [१७]

६. लक्ष्मण—भाई जी की जय हो! रघु-कुल फूले-फले।

७. कुश-लव—पुत्र-जन्म से महाराज की जय हो!

८. राम—(स्वगत) क्या वे यही कुश-लव हैं?

कण्वः—*जातावस्थोचितं कर्म विदधानो यथा-क्रमम् ।*
स चकार तयोर्नाम मुनिः कुश-लवाविति ॥ १८ ॥

रामः—कथमेतावेव सीता-तनयौ ? हा ! पुत्र कुश ! हा ! पुत्र लव ![1]

लक्ष्मणः—इयं स देवी-संभवा आर्यस्याऽऽत्म-संक्रान्तिः ![2]

कुश-लवौ—कथमयं सः ! हा तात ! त्रायस्व ।

(सर्वे परस्परमालिङ्ग्य मोहं गच्छन्ति)[3]

कण्वः—(सविषादम्) किमेतत् कष्टमापतितम् ![4]

मया तु मन्द-भाग्येन भद्रं तु किल गायता ।
रघु-प्रवीराश्चत्वारो हितेनैकेन पातिताः ॥ १९ ॥

अन्वयः—सः मुनिः जातावस्थोचितं कर्म यथा-क्रमं विदधानः तयोः कुश-लवौ इति नाम चकार ।

श०—जातावस्थोचित—जन्म-कालोचित । विदधानः—करते हुए ।

टि०—जातावस्थोचितम्—जातावस्थायां यदुचितम् जातं जन्म, तद् एव अवस्था जातावस्था; अथवा जातस्य (बालस्य) अवस्था जातावस्था (शैशवम्) तत्र उचितम्, जात-कर्म—नामकरण—निष्क्रमणान्नप्राशनाऽऽदि—संस्काराः । यथा-क्रमम्—क्रमम् अनतिक्रम्य (अव्ययी०) । विदधानः—वि + √धा ३ उभय० + शानच् । नाम चकार—नाम-करण संस्कार के समय नाम रखने के लिए नाम √कृ का प्रयोग होता है । देखिए,

अथ दशम्याम् उत्थाय पिता नाम करोति । पारस्करः

कण्व—उन (प्रसिद्ध) मुनि ने बाल्यावस्थोचित जात-कर्मादि संस्कारों को यथा-क्रम संपन्न करते हुए उन दोनों का नाम कुश और लव रखा । [१८]

१. राम—क्या यह सीता के पुत्र हैं ? हा पुत्र कुश ! हा पुत्र लव !

२. देवी-संभवा—देवी-संभवः (उत्पत्ति-करणं) यस्याः सा । आत्म-संक्रान्तिः—आत्मनः संक्रान्तिः, 'प्रतिबिम्ब', 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इति श्रुतिः ।

लक्ष्मण—यही वह सीता के गर्भ से उत्पन्न आपकी अपनी सन्तति है ।

३. कुश-लव—यही वह कैसे ? हा पिता जी ! बचा लो ।
(सब एक दूसरे को आलिंगन करके मूर्च्छित हो जाते हैं)

४. कण्व—(दुःख के साथ) यह क्या संकट आ पड़ा ।

अन्वयः—मन्द-भाग्येन मया तु भद्रं तु किल गायता एकेन हितेन तु चत्वारः रघुवीराः पातिताः ।

(निर्वर्ण्य) दिष्ट्या श्वासोद्गम इव। अहमेतं वृत्तान्तं भगवते देव्यै च निवेदयामि।[1] [इति निष्क्रान्तः

(ततः प्रविशति वाल्मीकिः ससंभ्रमं सीता च)

वाल्मीकिः—वत्से! त्वरस्व, मा परिलम्बिष्ठाः। अप्रतिक्रियमाणा मूर्च्छा निष्क्रान्तमापद्यते।[2]

सीता—कहेहि कहेहि परमत्थं, अवि धरन्ति राहवा? [कथय कथय परमार्थम्, अपि ध्रियन्ते राघवाः?][3]

वाल्मीकिः—समाश्वसिहि, ध्रियन्ते राघवाः। किमेतान्न पश्यति भवत्युच्छ्वसितान्?[4]

सीता—दिढं पच्चाइदह्मि तादेण। [दृढं प्रत्यायितास्मि तातेन।][5]

श०—भद्र—कल्याण। हितः—मंगल-कामना करने वाला, मित्र।

टि०—भद्रं तु किल गायता—मंगल-कल्याण के लिए गान करते हुए से; अर्थात् न मैंने कोई प्रहार किया, न कोई अनिष्ट चाहा, किन्तु तब भी ये चारों मूर्च्छित हो गये। एकेन हितेन—एक ही शुभाभिलाषा-प्रेरित वाक्य द्वारा 'स चकार तयोर्नाम मुनिः कुश-लवाविति'।

हिन्दी—मुझ अभागे ने (अपनी समझ में) कल्याण का गान करते हुए एक हित की बात से चारों रघुवीरों को पृथ्वी पर सुला दिया। [१६]

१. श्वासोद्गमः—साँस का चलना। भगवते देव्यै च निवेदयामि—कथ्, ख्या, शंस्, निवेदन आदि के साथ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।

हिन्दी—(देख कर) सौभाग्य से साँस तो चल-सा रहा है। मैं इस वृत्तान्त को भगवान् बाल्मीकि और सीता देवी को सुनाता हूँ। [प्रस्थान

(वाल्मीकि तथा व्याकुल सीता का प्रवेश)

२. त्वरस्व—जल्दी करो। मा परिलम्बिष्ठाः—विलम्ब मत करो। न माङ्योगे (पा० ६.४.७४) इससे लुङ् के अट् का लोप हुआ। देखिए, पृष्ठ ४४। अप्रतिक्रियमाणा—प्रतिकार बिना। निष्क्रान्तम्—मृत्यु; निस्+क्रम्+भावे क्तः।

वाल्मीकि—पुत्री! जल्दी करो। मूर्च्छा का प्रतिकार किये बिना मृत्यु भी हो जाती है।

३. परमार्थम्—वास्तविक स्थिति। ध्रियन्ते—जीवित हैं।

सीता—ठीक-ठीक बताइए, क्या राघव जीवित हैं न?

४. वाल्मीकि—धीरज धरो, राघव जीवित हैं। क्या तुम देख नहीं रही हो कि ये साँस ले रहे हैं?

५. प्रत्यायिता—विश्वास दिला दी गई।

वाल्मीकिः—(अन्वेषणमभिनीय)

मैथिलि ! प्रहिणु लोचने ततः साधु धैर्यमवलम्ब्य यत्नतः ।
*त्वत्कथा-प्रलय-मातरिश्वना पश्य राघव-कुलं निपातितम् ॥ २० ॥**

सीता—(सलज्जम्) भअवं, अणणुण्णाददंसणा अहं अंअउत्तेण । [भगवन् ! अननुज्ञात-दर्शनाऽहमाऽऽर्यपुत्रेण ।][1]

वाल्मीकिः—(सावष्टम्भम्) मयि स्थिते को वा अभ्यनुज्ञायाः, प्रतिषेधस्य वा ? गच्छ, अभ्यनुज्ञाताऽसि वाल्मीकिना मयैतद्दर्शने । उपसर्प निःशङ्कमुपयन्तारम् ।[2]

सीता—आपने मुझे पूरा विश्वास दिला दिया ।

अन्वयः—मैथिलि ! यत्नतः धैर्यम् अवलम्ब्य लोचने ततः साधु प्रहिणु । त्वत्कथा-प्रलय-मातरिश्वना निपातितं राघव-कुलं पश्य इति ।

श०—प्रहिणु—(दृष्टि) डालो । मातरिश्वन्—वायु ।

टि०—प्रहिणु—प्र + √हि ५ पर० 'जाना, भेजना', लोट् । त्वत्कथा-प्रलय-मातरिश्वा—तव कथा त्वत्कथा, सैवं प्रलय-मातरिश्वा तेन; मातरिश्वा—मातरि (अन्तरिक्षे) श्वयति (संचरति) 'वायु' । प्रलयकाल के अवसर पर भारी अंधड़ चलते हैं, ऐसा कहा जाता है । देखिए,

कल्पाक्षेप-कठोर-भैरव-मरुद्-व्यस्तैरिवाकीर्यते । उत्तर० ५. १४

'माता' शब्द आकाश के अर्थ में भी लिया जाता है । देखिए, "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।" इति श्रुतिः । आकाश से उत्पन्न होने के कारण और उसी में फैलने से वायु मातरिश्वा कही जाती है ।

वाल्मीकि—(खोजने का अभिनय करते हुए) प्रिय सीते ! यत्न से धीरज बाँध कर आँखों को उधर भली प्रकार दौड़ाओ । देखो, प्रलय वायु रूपी तुम्हारी कथा ने राघव-कुल को गिरा दिया । [२०]

१. सीता—(लज्जापूर्वक) भगवन् ! स्वामी के आदेशानुसार मैं उनके सम्मुख नहीं आ सकती ।

२. सावष्टम्भम्—अभिमान-पूर्वक । अभ्यनुज्ञया—आज्ञा । उपयन्तृ—स्वामी, पति ।

उपयन्तारम्—देखिए, 'अथोपयन्तारमलं समाधिना' कुमार० ५. ४५

वाल्मीकि—मेरे रहते आज्ञा देने वाला वा रोकने वाला कौन है ? जाओ, वाल्मीकि ने तुझे देखने की आज्ञा दी है । निडर होकर

सीता—(विलोक्य) किं एव्वं वट्टदि, सव्वहा हदह्मि मन्दभाग्रा। [किमेवं वर्तते ! सर्वथा हतास्मि मन्द-भाग्या ![1] (पतित्वा रोदिति)

वाल्मीकिः—उत्तिष्ठ, समाश्वासय। अहमपि राम-लक्ष्मणावभ्युपपत्स्ये। वत्स राम ! वत्स लक्ष्मण ! समाश्वसिहि।[2]

सीता—जाद कुश ! जाद लव ! समस्सस समस्सस। [जात कुश ! जात लव ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि।][3]

(एवं सलिल-सेकं नाटयति)

रामः—(प्रत्यागम्य) आर्य कण्व ! अपि ध्रियते वैदेही ?[4]

वाल्मीकिः—पुरत एव वर्तते।[5]

रामः—(विलोक्य) कथं भगवान् संप्राप्तः ? (लज्जां नाटयति)[6]

वाल्मीकिः—अलं लज्जया, कलत्र-विषया खल्वनुकम्पा ![7]

लक्ष्मणः—(आश्वस्य) अपि प्रत्यागत-सञ्ज्ञ आर्यः स्यात्।[8]

रामः—प्रत्यागतोऽस्मि मन्द-भाग्यः।[9]

कुश-लवौ—(समाश्वस्य) हा तात ! परित्रायस्व।[10]

(इति पादयोः पतित्वा रुदितः)

स्वामी के पास जाओ।

१. सीता—(देखकर) यह क्या बन गया ? मैं अभागिन सर्वथा लुट गई। (गिरकर रोती हैं)

२. वाल्मीकि—उठो, धीरज धरो, मैं भी राम-लक्ष्मण को सचेत करता हूँ। वत्स राम ! वत्स लक्ष्मण !! धीरज धरो।

३. सीता—पुत्र कुश ! पुत्र लव !! धीरज धरो, धीरज धरो !

(इस प्रकार जल के छींटों का अभिनय करती हैं)

४. राम—(सचेत होकर) आर्य कण्व ! क्या वैदेही जीवित है ?

५. वाल्मीकि—सामने ही है।

६. राम—(देखकर) क्या भगवान (वाल्मीकि) आ गये ? (लज्जा का अभिनय करते हैं)

७. वाल्मीकि—लज्जा मत करो, यह तुम्हारी पत्नी के प्रति दया के कारण ही था।

८. लक्ष्मण—(सचेत होकर) क्या भाई जी सचेत हो गये ?

९. राम—मैं अभागा सचेत हो गया हूँ।

१०. कुश-लव—(सचेत होकर) हा पिता जी ! बचा लो।

(पाओं पर गिरकर रोते हैं)

राम-लक्ष्मणौ—(परिष्वज्य समाश्वासयतः) वत्सौ ! अलमावेगेन ।[1]

वाल्मीकिः—हा ! तात-दर्शन-दुर्ललितौ ! कस्य क रुद्यते; प्रमृज्यतामश्रु ।[2]

(कुश-लवौ बाष्पं प्रमृज्य राममवलोकयन्तौ स्थितौ)

सीता—(अपवार्य) को एसो, जो तुह्मेहिं एव्वं पेक्खिदो। [क एषः, यो युवाभ्यामेवं प्रेक्षितः ?[3]

रामः—अहो औदासीन्यं वैदेह्याः, यदियं चिर-कालोपनतमस्मत्संनिधानं मुख-विकासेनाऽपि न संभावयति ।[4]

वाल्मीकिः—(सकोपम्) हे राजन् ! धृत-सौहाद ! महा-कुलीन ! समीक्ष्यकारिन् ! किं युक्तं तव प्रतिपादितां जनकेन, गृहीतां दशरथेन कृत-मङ्गलामरुन्धत्या, विशुद्ध-चारित्रां वाल्मीकिना, भावित-शुद्धिं विभावसुना, मातरं कुश-लवयोः, दुहितरं भगवत्या विश्वंभरायाः, देवीं सीतां जनापवाद-मात्र-श्रवणेन निराकर्तुम् ?[5]

---

१. राम-लक्ष्मण—(चिपटाकर धीरज बँधाते हुए) पुत्रो ! घबराओ मत ।

२. वाल्मीकि—हा ! पिता के दर्शन के लिए भारी उत्कण्ठा ! किसके लिए रोते हो ? पोंछ डालो आँसू !

(कुश-लव आँसू पोंछकर राम को देखकर खड़े होते हैं)

३. सीता—(एक ओर हटकर) यह (तुम्हारा) कौन है जिसे तुम इस प्रकार देख रहे हो ?

४. औदासीन्यम्—उदासीनता। उपनतम्—प्राप्त । संनिधानम्—निकटता । मुख-विकासः—प्रसन्न-मुख ।

राम—अहो ! सीता की उदासीनता ! चिरकाल के अनन्तर मिलने पर हमारे निकट होते हुए भी प्रसन्न-मुख द्वारा स्वागत नहीं करती ।

५. धृत-सौहार्द—उदार-हृदय । प्रतिपादिता—सौंपी गई । भावित—प्रमाणित । विश्वंभरा—पृथ्वी । निराकर्तुम्—परित्याग के लिए।

धृत-सौहार्द—धृतं-सौहार्दं (सुहृदः भावः) येन तत् सम्बोधन । महा-कुलीन—महच्च तत्कुलम्, तत्र भवः तत् सम्बोधन । समीक्ष्य-कारिन्— देखिए पृष्ठ ११४.१ । भावित-शुद्धिम्—भाविता शुद्धिः यस्याः ताम्; √भू १ पा० + णिच् का अर्थ है 'रचना'। देखिए, भूत-भावनः (भूतानि भावयति) 'सब प्राणियों का सृजन करने वाला'। इसका अर्थ 'पवित्र करना' भी होता है। देखिए,

(रामो वैक्लव्यं नाटयति)

वाल्मीकिः—सौमित्रे ! युक्तमिदम् ? अथवा कस्तवोपालम्भः, नियोज्यस्त्वं कनीयान्। (राममुद्दिश्य) अथ दशग्रीव-वीर-वधावसाने सीता-प्रतिग्रहं प्रति कः प्रमाणीकृतो देवः प्रमाणेन ?[1]

रामः—भगवान् वैश्वानरः।[2]

वाल्मीकिः—भोः ! प्रत्यय-निवृत्तेः किं कारणम् ?[3]

सीता—हद्धि हद्धि मम अधण्णाए किदे एव्वं अदिक्खिअदि अंअउत्तो। [हा धिक् ! हा धिक् ! ममाधन्यायाः कृते एवमधिक्षिप्यते आर्यपुत्रः।[4] (कर्णौ पिदधाति)

'भावितात्मा'। भावित के और भी अर्थ हैं। देखिए,

"लब्धं प्राप्तं विन्नं भावितमसादितं च भूतं च।" इत्यमरः

इसके अतिरिक्त 'भावित' 'वासित' के अर्थ में भी आता है। देखिए,

"तुल्ये भावितवासिते।" इत्यमरः

विभावसुना—विभा (प्रभा) वसु (धनम्) अस्य, 'अग्नि', तेन। देखिए,

"सूर्यवह्नी विभावसू।" इत्यमरः

वाल्मीकि—(सक्रोध) हे राजन् ! उदार-हृदय ! महा-कुलीन ! विवेक-शील ! जनक द्वारा तुम्हें सौंपी गई, दशरथ द्वारा स्वीकार की गई, अरुन्धती द्वारा मङ्गल-विधान की गई, वाल्मीकि द्वारा शुद्ध-चरित्र प्रमाणित की गई, अग्नि द्वारा (सतीत्व धर्म की) शुद्धि सिद्ध की गई, कुश-लव की माता, भगवती पृथ्वी की पुत्री सीता देवी को लोक-निन्दा के सुनने से छोड़ देना तुम्हें क्या ठीक है ?

(राम व्याकुलता का अभिनय करते हैं)

१. वाल्मीकि—लक्ष्मण। तुम्हें भी यह ठीक था ? अथवा तुम्हें क्या दोष देना ? तुम तो आज्ञाकारी छोटे भाई हो। (राम को लक्ष्य करके) रावण का वध किये जाने पर सीता को स्वीकार करने के लिए तुमने किस देवता को प्रमाण माना था ?

२. विश्वानरः—विश्वे नरा अस्य (नरे संज्ञायाम् पा० ६.३.१२६) सूत्र द्वारा विश्व का अ दीर्घ हो गया। विश्वा-नरस्यापत्यम् (ऋष्यण् पा० ४.१.११४)। देखिए, 'अग्निर्वैश्वानरः' इत्यमरः

राम—भगवान् अग्निदेव को।

३. वाल्मीकि—अच्छा, तो विश्वास न रहने का क्या कारण ?

४. सीता—हाय ! मुझे धिक्कार है ! मुझ अभागिन के कारण

वाल्मीकिः—

कुश-लव-जननी-विशुद्धि-साक्ष्ये पवन-सखा यदि देवता नियुक्ता ।
कथमिव भवतो निरङ्कुशोऽयं हृदि निहितो नु पृथग्जनापवादः ॥ २१ ॥

रामः—आयुज्यमानमिव ।[1]

वाल्मीकिः—कथं वीरहस्तेन मामतिवाहयति ?[2]

अनुकृति-सरले पृथग्जनानां निवसति चेतसि संश्रितोऽनुरागः ।
*नरपति-हृदये न जात-माल्ये न हि पुलिनेषु तिलस्य संभवोऽस्ति ॥ २२ ॥**

स्वामी इस प्रकार डाँटे जा रहे हैं। (कान बन्द कर लेती हैं)

अन्वयः—कुश-लव-जननी-विशुद्धि-साक्ष्ये पवन-सखा देवता नियुक्ता यदि (तर्हि) अयं निरङ्कुशः पृथग्-जनापवादः भवता हृदि कथम् इव निहितः नु ।

श०—पवन-सखा—अग्नि । निरङ्कुशः—निर्बाध । निहितः—स्थापित ।

टि०—कुश-लव-जननी-विशुद्धि-साक्ष्ये—कुश-लवयोः जननी, तस्या विशुद्धिः, तस्याः साक्ष्ये । पवन-सखा—पवनः सखा यस्य सः, पृथग्जनापवादः—पृथग्जनैः (साधारणै जनैः) कृतः अपवादः, 'साधारण लोगों से की गई निन्दा'; देखिए, "अपवादस्तु निन्दायामाज्ञाविश्रम्भयोरपि ।" इति मेदिनी

निहितः—नि + √धा + क्त (दधातेर्हिः पा० ७.४.४२) । देखिए, १.१४

वाल्मीकि—कुश-लव की माता की पवित्रता की साक्षी में यदि अग्नि देवता को प्रमाण रूप से स्वीकार किया था तो इस निर्बाध लोकापवाद को अपने हृदय में स्थान कैसे दिया ? [२१]

१. राम—मानो दूसरों से प्रेरित किया गया (था) ।

२. वीर-हस्तेन—शक्तिशाली हाथों से, बड़ी निपुणता से । अतिवाहयति—टालता है ।

वाल्मीकि—क्यों, अपने शक्तिशाली हाथ से (अथवा बड़ी निपुणता से) मुझे टालना चाहता है ?

अन्वयः—पृथग्जनानाम् अनुकृति-सरले चेतसि संश्रितः अनुरागः निवसति । जात-माल्ये नर-पति-हृदये न (निवसति) । पुलिनेषु तिलस्य सम्भवः न हि अस्ति ।

श०—पृथग्जनः—साधारण पुरुष । अनुकृति-सरलः—अनुकरण करने में अर्थात् बदले में प्रेम करने में भोला-भाला । जात-माल्यः—मलिनता-प्राप्त, टेढ़ा ।

टि०—अनुकृति-सरले—अनुकृतौ सरले; 'बदले में प्रेम करने में भोला-भोला' । जात-माल्ये—जातं माल्यं (मलिनता) यत्र तादृशे । यहाँ पाठ 'जात-माल्यं' मूल-पुस्तक में दिया गया है ।

वत्स ! किमनेन कण्डूयनेन ? गृहाण कुश-लवौ। गच्छामः स्वमाश्रमपदम्। (इति परिक्रामति)[1]

राम-लक्ष्मणौ—प्रसीदतु गच्छतु भगवान्।[2]

वाल्मीकिः—(प्रतिनिवृत्य) वैदेहि ! तपोवन-गतानामपि दण्डं समाज्ञापयति। तत्परिशोध्यतामात्मा।[3]

सीता—अहं किं परिचोधेमि। [अहं किं परिबोधयामि ?][4]

वाल्मीकिः—अपापा भवसि।[5]

सीता—(सलज्जम्) जणमज्झगदा एव्वं भणामि—मन्दभाइणी विदेहराअ-तणआ अहिण्णचारित्तेति। [जन-मध्य-गता एवं भणामि—मन्द-भागिनी विदेह-राज-तनया अभिन्न-चारित्रा—इति।][6]

वाल्मीकिः—समुद्घुष्यताम्—विकारानुरूपः प्रतिकारः—इति।[7]

सीता—पहवदि गुरुणिओओ। (अञ्जलिं बद्ध्वा दिशो विलोक्य) सुण्णंतु भवन्तो लोअपाला गअणमज्झचारिणो देवदाओ गन्धव्वसिद्ध-विज्झाधरा जे अ प्पवाहपच्चक्खीकिदसब्वलोअरहस्सा वम्मीइविस्समित्तवसिट्ठप्पमुहा महेसिणो एसो सअललोअसुहासुहकम्मसक्खी भअवं राहवउलपिदामहो सहस्सरस्सिं अ सीदा चारित्तसुद्धिं अन्तरेण एव्वं सच्चावणदि। [प्रभवति गुरु-नियोगः। (अञ्जलिं बद्ध्वा दिशो विलोक्य) शृण्वन्तु भवन्तो लोक-पालाः, गगन-मध्य-चारिण्यो

हिन्दी—साधारण मनुष्यों के अनुकरण—सरल (प्रत्यनुराग करने में) भोले-भाले चित्त में आश्रित प्रेम टिका रहता है, किन्तु मलिनता से युक्त (टेढ़े) राजा के हृदय में नहीं। देखिए, नदी के बालू में तेल की संभावना नहीं होती। [२२]

१. हिन्दी—वत्स ! इस खुजाने से क्या ? कुश-लव को स्वीकार करो, हम अपने आश्रम को जाते हैं। (घूमते हैं)

२. राम-लक्ष्मण—आप प्रसन्नतापूर्वक जा सकते हैं।

३. वाल्मीकि—(लौटकर) सीता ! तपस्वियों को भी यह आदेश देता है। तो अपनी शुद्धि तुम आप सिद्ध करो।

४. सीता—मैं क्या जतलाऊँ ?

५. वाल्मीकि—तुम निष्पाप हो।

६. सीता—लोगों के बीच खड़ी हुई मैं अभागिन जानकी कहती हूँ कि मैं अखण्डित सतीत्व धर्म वाली हूँ।

७. वाल्मीकि—इसकी ऊँचे से घोषणा करो—रोगानुसार ही औषधि होती है।

देवताः, गन्धर्व-सिद्ध-विद्याधराः, ये च प्रभाव-प्रत्यक्षीकृत-सर्व-लोक-रहस्या वाल्मीकि-विश्वामित्र-वसिष्ठ-प्रमुखा महर्षयः, एष सकल-लोक-शुभाशुभ-कर्म-साक्षी भगवान् राघव-कुल-पितामहः सहस्र-रश्मिश्च सीता चारित्र-शुद्धिमन्तरेण एवं सत्यापयति।[1]

वाल्मीकिः—पश्यन्तु भवन्तो महा-प्रभावाऽकृष्टमपि सीता-माहात्म्य-संभृतमाश्चर्यम्।[2]

सर्वे—(सविस्मयम्) आश्चर्यमाश्चर्यम्! एष हि देवी-वचनस्य समनन्तरं दत्तावधान इव निःशब्द-प्रशान्तो निवृत्त-सर्वाऽऽरम्भः कृत्स्न एव स्थावर-जङ्गमो लोकः संप्रवृत्तः। तथा हि[3]

---

१. गुरु-नियोगः—गुरोः नियोगः। गगन-मध्य-चारिणः—गगनस्य मध्ये चारिणः, 'आकाशगामी'। गन्धर्व-सिद्ध-विद्याधराः—गन्धर्वश्च सिद्धश्च विद्याधरश्च ते। गन्धर्व, सिद्ध और विद्याधर प्राचीन जातियों के नाम हैं। आधुनिक पुराविद् इन्हें हिमालय पर बसी बताते हैं। प्रभाव-प्रत्यक्षीकृत-सर्व-लोक-रहस्या—प्रभावेण प्रत्यक्षीकृतानि सर्वलोकानां रहस्यानि यैः ते। सकल-लोक-शुभाशुभ-कर्म-साक्षी—सकलानां लोकानां यानि शुभाशुभानि कर्माणि तेषां साक्षी। अन्तरेण—'सम्बन्ध में'। देखिए, १६१.६; 'नाट्यमन्तरेण कीदृशी' मालविका०

'तदस्य देवीं वसुमतीमन्तरेण महदुपालम्भनं गतोऽस्मि।' शाकु०

सत्यापयति—सत्यम् आचष्टे; सत्य का नाम धातु; 'शपथ-पूर्वक कहती है'।

सीता—गुरु का आदेश शिरोधार्य है। (हाथ जोड़े सब ओर देखकर) हे सब लोकपालो! आकाश के बीच विचरने वाले देव, गन्धर्व, सिद्ध, तथा विद्याधरो! और अपने प्रभाव से संसार के सब रहस्यों को प्रत्यक्ष देखने वाले वाल्मीकि, विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि महर्षियो! सकल लोक के पुण्य और पाप कर्मों के साक्षी, रघु-कुल के प्रवर्त्तक, भगवान् सूर्य, आप सब सुनें—सीता सच्चरित्र की शुद्धि के सम्बन्ध में इस प्रकार शपथ लेती है।

२. महा-प्रभावाऽकृष्टम्—महान् प्रभावः येषां ते महा-प्रभावाः, तैः अकृष्टम्, 'असंपादित, अनुपलब्ध'; आपटे ने √कृष् का अर्थ 'प्राप्त करना' भी लिखा है। देखिए, कुल-संख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः। महा० ८

संभृतम्—'सिद्ध किया गया', असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेः। कुमार० १.३१

वाल्मीकि—दिव्य शक्तियों की सहायता के बिना ही सीता के सतीत्व के प्रभाव द्वारा सिद्ध किये गए आप इस आश्चर्य को देखें।

३. समनन्तरम्—बोलने के साथ ही। दत्तावधान—सावधान। निवृत्त-

उदन्वन्तः शान्ताः स्तिमिततर-कल्लोल-वलया
निरारम्भो व्योम्नि प्रकृति-चपलोऽप्येष पवनः ।
प्रवृत्ता एतस्मिन्निभृततर-कर्णा गज-घटा
जगत् कृत्स्नं जातं जनक-तनयोक्तावपवहितम् ॥ २३ ॥

सर्वारम्भः—सब काम-काज छोड़कर । कृत्स्न—समग्र । स्थावर—अचर । जङ्गम-चर । संप्रवृत्त—हो गया ।

दत्तावधानः—दत्तम् अवधानं येन सः, 'सावधान' । निःशब्द-प्रशान्तः—निःशब्दश्च प्रशान्तश्च । निवृत्त-सर्वारम्भः—निवृत्तः (शान्तः) सर्वारम्भः (सर्वाणि कार्याणि) यस्य सः । आरम्भः—चेष्टा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । देखिए, फलानुमेयाः प्रारम्भाः । रघु० १. २०

लव—(विस्मयपूर्वक) आश्चर्य है ! महान् आश्चर्य है !! (सीता) देवी के बोलते ही चराचरात्मक समस्त संसार, सब काम-काज छोड़े, निस्तब्ध तथा शान्त हो गया । क्योंकि,

अन्वयः--एतस्मिन् (काले) उदन्वन्तः स्तिमिततर-कल्लोल-वलयाः शान्ताः प्रकृति-चपलः अपि एषः पवनः व्योम्नि निरारम्भः (संवृत्तः) गज-घटाः निभृततर-कर्णाः प्रवृत्ताः, कृत्स्नं जगत् जनक-तनयोक्तौ अवहितं जातम् ।

श०—उदन्वन्तः—समुद्र । स्तिमित—निश्चल । कल्लोलः—तरंग । वलयः—समूह । व्योम्न्—आकाश । निरारम्भः—निष्क्रिय । निभृततर-कर्णा—सर्वथा निस्तब्ध कान वाला (हाथी-समूह) । प्रवृत्ता—संवृत्ता ।

टि०—उदन्वन्तः—उदकानि सन्त्यत्र उदन्वान् । स्तिमितर-कल्लोल-वलयः—स्तिमिततराः (अत्यन्तं निश्चलाः) कल्लोलानां वलयाः येषां ते । प्रकृति-चपलः—प्रकृत्या चपलः । निरारम्भः—निर्गतः आरम्भः (क्रिया) यस्मात् सः । निभृततर-कर्णाः—निभृततरौ (अत्यन्तं) निस्पन्दौ कर्णौ या सा तादृश्यः । निभृत शब्द कवि का प्रिय शब्द प्रतीत होता है । प्रस्तुत नाटक में कई स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है । देखिए, पृष्ठ ७१. ३-६; ७२. ३; ६६.१ इत्यादि । निभृत का वास्तव में अर्थ है 'नितरामभारि' (नि + √भृ १ उभय० + क्तः), अर्थात् 'किनारे तक भरा' । किनारे तक भरा बर्तन कोई शब्द नहीं करता । अतः इसका अर्थ हुआ 'शान्त, चुपचाप' । देखिए ।

"कोऽयं भो निभृत-तपोवनमिदं ग्रामीकरोत्याज्ञया ।" स्वप्न० १.३
"निष्कम्प-वृत्तं निभृत-द्विरेफं काननम् ।" कुमार० ३. ४२
"कारणेन खलु मया नैभृत्यमवलम्बितम् ।" मालविका० ५. १२-१३

शब्द भी क्रिया की ही उपज है, अतः शब्द के अभाव से अभिप्राय निष्क्रि-

सीता—जदि मए सअललोअमहत्थप्पच्चआपूरिदगुरुसासणं उम्मुलिअमहा-महीहरसहस्सविरइदसेदुबन्धविभत्तमहासमुद्दम् सुरासुरभुवणेक्कधणुद्धरं राहवकुलणंदणं तुमं उज्झिअ पइव्वदाविरुद्धेण भावेण अण्णो को वि णअणेहिं णिव्वण्णिदो, वअणेण आलविदो, हिअएण वा चिंतिदो, एदिणा सच्चवअणेण सअललोअपच्चक्खदीसमाणदिव्वरूपधारिणी भअवदी महप्पहावा चित्तसुद्धिं मे लोअस्स पआसीकरोदु (पअडीकरोदु) [यदि मया सकल-लोक-महार्थ-प्रत्ययाऽऽपूरित-गुरु-शासनम् उन्मूलित-महा-मही-धर-सहस्र-विरचित-सेतु-बन्ध-विभक्त-महा-समुद्रं सुरासुर-भुवनैक-धनुर्धरं राघव-कुल-नन्दनं त्वामुज्झित्वा पतिव्रता-विरुद्धेन भावेनान्यः कोऽपि

यता का हुआ। देखिए,

"निष्कम्प-चामर-शिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।" शाकु० १.८

"अनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।" मेघ० ६८

शारीरिक निष्क्रियता तथा शान्ति से अर्थ मानसिक शान्ति की ओर बढ़ा। देखिए, निभृतात्मा 'शान्तात्मा'। मन के सम्बन्ध में निष्क्रियता से तात्पर्य हुआ 'स्थिरता, दृढ़ता' जिससे अर्थ 'विश्वसनीय, भक्त' निकला। देखिए,

"तथा व्याहृत-सन्देशा सा बभौ निभृता प्रिये।" कुमार० ६.२

कालान्तर में शान्त तथा निष्क्रिय का अर्थ 'रहस्य, गुप्त' हुआ। देखिए,

"निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत् शीघ्रमिति सुकरम्।" शाकु० ३. ६. १०

रहस्य अथवा गुप्त भाव से तात्पर्य 'छिपाना' हो सकता है, अतः अर्थ हुआ 'छिपना, आँखों से ओझल होना'। देखिए, "निभृतो भूत्वा।" पञ्चतन्त्र; "नभसा निभृतेन्दुना।" रघु० ८. १५

इसका अर्थ 'एकान्त' भी हो सकता है। देखिए,

"निभृतनिकुञ्जगृहं गतया" गीतगोविन्द २

परिपूर्णता से भाव नम्रता का भी लिया जाता है। वृक्ष फलों के भार से झुक जाता है। मनुष्य भी गुणों से परिपूर्ण हुआ विनीत हो जाता है। देखिए,

"प्रमाण-निभृता कुल-वधूरिव।" मुद्राराक्षस १

"निभृतविनीतप्रश्रिताः समाः।" इत्यमरः

हिन्दी—इस (समय) समुद्र, जिनकी गोलाकार लहरें सर्वथा निश्चल हैं, पूर्णतया शान्त (निःशब्द) हो गये हैं, यद्यपि यह पवन स्वभाव से चपल है तथापि (अब) आकाश में सर्वथा गति-हीन है, गज-पंक्तियाँ अत्यन्त निस्पन्द कानों वाली हो गई हैं—समस्त संसार जानकी का वचन सुनने के लिए सावधान हो गया है।

नयनाभ्यां निर्वर्णितः, वचनेनाऽऽलपितः, हृदयेन वा चिन्तितः, एतेन सत्य-वचनेन सकल-लोक-प्रत्यक्ष-दृश्यमान-दिव्य-रूप-धारिणी भगवती महा-प्रभावा चित्त-शुद्धिं मे लोकस्य प्रकाशीकरोतु (प्रकटीकरोतु) ।][1]

(सर्वे संभ्रमं नाटयन्ति)

वाल्मीकिः—किमेतदव्यक्त-भीषणं लोकस्य रसान्तरमाविर्भूतम् ![2]

नादः पाताल-मूलात् प्रभवति तुमुलं पूरयन् व्योम-रन्ध्रं
पात-क्लिष्टा इवैते दिशि-दिशि गिरयो मन्द-मन्दाश्चरन्ति ।
बद्धाऽऽनन्दाः समन्ताल्लवण-जलधयो मथ्यमाना इवाऽऽसन्
सीमामुल्लङ्घ्य वेगादुद-निधि-सलिलैः स्वानि वेला-वनानि ॥ २४ ॥*

---

१. महार्थः—कल्याण । प्रत्ययः—विश्वास । आपूरित—अनुष्ठित । गुरु-शासनः—पित्राज्ञा । महीधरः—पर्वत । उज्झित्वा—त्यागकर । निर्वर्णितः—देखा गया । आलपितः—वार्तालाप किया गया ।

सकल-लोक-महार्थ - प्रत्ययाऽऽपूरित - गुरु-शासनम्—सकल-लोकस्य महार्थ-प्रत्ययेन (महांश्चासौ अर्थप्रत्ययः महार्थ-प्रत्ययः तेन) आपूरितं गुरोः शासनं येन सः । उन्मूलित-महा-मही-धर-सहस्र-विरचित-सेतु-बन्ध-विभक्त-महा-समुद्रम्—उन्मूलिताः ये महा-मही-धराः तेषां सहस्रेण विरचितः यः सेतु-बन्धः तेन विभक्तः महा-समुद्रः येन सः । सुरासुर-भुवनैक-धनुर्धरम्—सुरासुराणां भुवने एकं धनुर्धरम् ।

सीता—यदि मैंने समस्त संसार का कल्याण करने के लिए पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाले, उखाड़े हुए सैकड़ों बड़े-बड़े पर्वतों से पुल बाँधकर अपार समुद्र को बाँट देने वाले, स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोकों में अद्वितीय धनुर्धारी रघु-कल-नन्दन तुम्हें छोड़कर किसी पर-पुरुष को पतिव्रता के विरुद्ध भाव से आँख उठाकर भी देखा हो, किसी से कोई बात भी की हो, अथवा हृदय में विचार तक किया हो, तो मेरे इस सत्य वचन के प्रभाव द्वारा दिव्य रूप धारण किये समस्त विश्व को अपना दिव्य रूप दिखलाती हुई भगवती (पृथ्वी), जो महा-प्रभाव-शालिनी है, मेरी हृदय-शुद्धि को लोक में प्रकट करे ।

(सब व्याकुलता का अभिनय करते हैं)

२. अव्यक्त--अस्पष्ट । रसान्तरम्–विलक्षण रस । आविर्भूतम्–प्रादुर्भूत ।

वाल्मीकि—कैसा विलक्षण रस, अस्पष्ट और भयानक, संसार के लिए प्रकट हुआ है ?

अन्वयः—व्योम-रन्ध्रं तुमुलं पूरयन् पाताल-मूलात् नादः प्रभवति, एते

गिरयः पात-क्लिष्टाः इव दिशि- दिशि मन्द-मन्दाः चरन्ति । बद्धाऽऽनन्दाः लवण-जलधयः वेगात् सीमाम् उल्लङ्घ्य समन्तात् उद-निधि-सलिलैः स्वानि वेला-वनानि मथ्यमानाः इव आसन् ।

श०—व्योम-रन्ध्रम्—आकाश-छिद्र । तुमुलम्—पूर्ण रूप से । पूरयन्—भरता हुआ । पाताल-मूलात्—पाताल के नीचे से । नादः—ध्वनि । पात-क्लिष्टाः—गिरने (की सम्भावना) से क्लेश को प्राप्त हुए । बद्धाऽऽनन्दाः—आनन्द-विभोर । लवण-जलधयः—लवण सहित सागर । उद-निधि-सलिलैः—समुद्र-जलों द्वारा । वेला-वनानि—समुद्र-तटवर्ती वनों को । मथ्यमानाः—बिलोते हुए ।

टि०—व्योम-रन्ध्रम्—व्योम एव रन्ध्रम् । पूरयन्—√पूर् १० उभय० + शतृ । पाताल-मूलात्—पातालस्य मूलात्, 'रसातल से' । पात-क्लिष्टाः—पातेन (पतनेन) क्लिष्टाः इव; √पत् का अर्थ 'उड़ना, भागना' भी है । देखिए,

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् ।
दिशः पपात पत्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥ रघु० १५. ४८

बद्धाऽऽनन्दाः—बद्धः (प्राप्तः) आनन्दो यैः । उद-निधि-सलिलैः—उद-निधेः सलिलैः; उदनिधिः—उदकानां निधिः । देखिए, उदन्वन्त ६. २३ । मथ्यमानाः— √मथ् १, ६ पर० + णिच् + शानच्; प्रथमा बहु० √मन्थ् द्विकर्मक धातु है । परन्तु भाष्यकार ने इसका द्विकर्मक धातुओं में उल्लेख नहीं किया ।

इस अर्थ के ग्रहण करने से 'पातेन-क्लिष्टाः' द्वारा एक अत्यन्त प्राचीन कथानक की ओर संकेत लिया जा सकता है । कहा जाता है कि बहुत प्राचीन काल में पर्वतों के पंख होते थे और वे उड़ा करते थे । जहाँ कहीं वे उतरते थे, लोगों का नाश कर डालते थे । अन्त में इन्द्र ने अपने वज्र द्वारा उनके पंख काट दिये । इसी कारण इन्द्र को गोत्रभिद्, अद्रिभिद् आदि कहा है । अब अन्य देवताओं की भाँति कुल-पर्वत भी सीता की शुद्धि के सम्बन्ध में पृथ्वी की साक्षी देने के लिए आ रहे हैं । वे किसी कारण-वश धीरे-धीरे चल रहे होंगे परन्तु कवि कल्पना करता है कि वे बहुत ज्यादा उड़ने से थक गये हैं और इसलिए उनकी चाल धीमी पड़ गई है ।

हिन्दी—पाताल के नीचे से आकाश-छिद्र को भरता हुआ घोर शब्द उत्पन्न हो रहा है; दिशा-उपदिशा में पर्वत (अब) धीरे-धीरे चल रहे हैं, मानो उड़ने के कारण थक गये हैं । समुद्रों के जल बड़े वेग से सीमाओं का उल्लंघन करके मानो आनन्द-विभोर हो रहे लवण-सागरों में से अपने तटवर्ती वनों को बिलो कर निकाल रहे हों । [२४]

सीते ! त्वामुद्दिश्य प्रादुर्भूतानि सर्व-लक्षणानि । पुनरप्यावर्त्यतां सत्यम् ।[1]

(सीता "जइ मए सअललोअ" इत्यादि पठति)

(नेपथ्ये)

स्वस्ति गोभ्यः । स्वस्ति ब्राह्मणेभ्यः । स्वस्ति राघव-कुलाय ।[2]

आकृष्टा मिथिलाऽधिराज-तनया-सत्येन पातालत-
स्तोयोन्मज्जन-लीलया तनुमिमां हित्वाऽऽत्मनः स्थावराम् ।
साक्षाल्लक्षित-दिव्य-मूर्ति-महिमा-योगेन विश्वंभरा
लोकं मध्यमम्बु-राशि-रसना देवी समारोहति ॥ २५ ॥

---

१. हिन्दी—हे सीता ! यह सब लक्षण तुम्हारे लिए प्रकट हो रहे हैं । अपनी शपथ को फिर दोहरा दो ।

(सीता पूर्वोक्त वचन "यदि मैंने···" इत्यादि फिर दोहराती है)

(नेपथ्य में)

२. गौओं का कल्याण हो ! ब्राह्मणों का कल्याण हो ! रघु-कुल का कल्याण हो !

अन्वयः—अम्बु-राशि-रसना देवी विश्वंभरा मिथिलाऽधि-राज-तनया-सत्येन पातालतः आकृष्टा (सती) स्थावराम् इमाम् आत्मनः तनुं हित्वा साक्षात्-लक्षित-दिव्य-मूर्ति-महिमा-योगेन तोयोन्मज्जन-लीलया मध्यमं लोकं समारोहति ।

श०—अम्बु-राशिः—समुद्र । रसना—तगड़ी । विश्वंभरा—पृथ्वी । तनुः—शरीर । मूर्तिः—शरीर । तोयम्—जल । उन्मज्जन—जल में से निकलना । समारोहति—चढ़ रही है ।

टि०—अम्बु-राशि-रसना—अम्बु-राशिः (समुद्र) एव रसना (मेखला) यस्यः सा 'समुद्र मेखला' । विश्वंभरा—विश्वं बिभर्ति, खच् प्रत्यय (संज्ञायां भृतृ—पा० ३.२.४६) देखिए,

"भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वंभरा स्थिरा ।
धरा धरित्री धरणी क्षोणी ज्या काश्यपी क्षितिः ॥" इत्यमरः

मिथिलाऽधिराज-तनया-सत्येन—मिथिलाधिराजस्य तनयायाः सत्येन । पातालतः—पाताल + तसिल् (पञ्चम्यर्थे) । आकृष्टा—आ + √कृष् + क्त + टाप् । साक्षात्-लक्षित-दिव्य-मूर्ति-महिमा-योगेन—साक्षात्-लक्षिता दिव्या मूर्तिः तस्याः या महिमा तया योगेन । मध्यमम्—मध्ये भवम् । मूर्तिः—देखिए,

"कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः ।" इत्यमरः

हिन्दी—देवी विश्वंभरा (पृथ्वी), जिसके समुद्र तगड़ी हैं,

(सर्वे आकर्ण्य विस्मयं नाटयन्ति)

वाल्मीकिः—कथमदृष्ट-पूर्वाऽश्रुत-पूर्वेयमाश्चर्य-परंपरा-वृत्तिः ।[1]

एतज्ज्योतिरुदेति नाग-भुवनात् संवासयन्तश्चिरान्
माल्यैः शीतल-पद्म-गन्धि-सुभगाः पाताल-वाता दिशः ।
एषाऽऽविर्भवति क्रमेण वसुधा राजन् ! बधानाञ्जलिं
सौमित्रे ! प्रणमाऽऽदरात् कुश-लवौ ! पुष्पाञ्जलिः कीर्यताम् ॥२६॥

जानकी की शपथ के कारण पाताल से खिंचकर, अपने इस स्थावर शरीर को छोड़, योग-बल द्वारा साक्षात् दीख रहे महिमा युक्त दिव्य-शरीर को धारण किए, जल में से निकलने की लीला करती हुई, मध्यम लोक (मर्त्य लोक) पर चढ़ रही है।

(सुनकर सब विस्मय प्रकट करते हैं)

१. वाल्मीकि—पहले कभी न देखे, न सुने गये ये आश्चर्यों का तांता कैसा लग रहा है ?

अन्वयः—एतद् ज्योतिः नाग-भुवनाद् उदेति, माल्यैः शीतल-पद्म-गन्धि-सुभगाः पाताल-वाताः दिशाः चिरात् संवासयन्तः, एषा वसुधा क्रमेण आविर्भवति । राजन् ! अञ्जलिं बधान, सौमित्रे ! आदरात् प्रणम, कुश-लवौ ! (युवाभ्याम्) पुष्पाञ्जलिः कीर्यताम् ।

श०—नाग-भुवनः—पाताल-लोक, नाग-लोक । उदेति—उदय हो रही है । माल्यः—माला । सुभगः—प्रिय, मनोहर । संवासयन्तः—सुगन्धित करती हुई । आविर्भवति—प्रकट हो रही है । अञ्जलिं बधान—हाथ जोड़ो । कीर्यताम्—बखेरो ।

टि०—नाग-भुवनात्—नागानां भुवनः, तस्मात् । उदेति—उत् + इ + लट् । माल्यैः—माला एव माल्यम्, तैः । शीतल-पद्म-गन्ध-सुभगाः—शीतलाश्च ते पद्म-गन्धयश्च, ते च सुभगाः च (कर्म०) । संवासयन्तः—सं + वास् १० उभय० + णिच् + शतृ + प्रथमा बहु० । बधान— √बन्ध् ९ पर० लोट् । कीर्यताम्— √कॄ ६ पर० लोट् ।

हिन्दी—यह (सामने) नाग-लोक से ज्योति उदय हो रही है । मालाओं (अथवा मालाओं में गुँथने योग्य पुष्पों) से शीतल कमल-गन्ध-युक्त मनोहर पाताल-पवन दिशाओं को चिरकाल से सुगन्धित कर रहे हैं । यह (देखो) पृथ्वी धीरे-धीरे प्रकट हो रही है । हे राजन् ! हाथ जोड़ो । ऐ लक्ष्मण ! सादर प्रणाम करो । ऐ कुश-लव ! (पृथ्वी पर) अञ्जलि भर-भर कर फूल बखेरो । [२६]

(सर्वे यथोक्तं नाटयन्ति)

(ततः प्रविशति पातालोद्भेदं नाटयन्ती पुष्प-वर्षाभिर्नारीभिः
सह समानो-दात्तोज्ज्वल-वेषाभिश्च पृथ्वी)[१]

(सर्वे कृताञ्जलयः)

त्वं बिभर्षि जगत् कृत्स्नं शेष-मूर्ध्ना त्वमुह्यसे ।
काम्यानभिमतान् देवास्त्वामेव दुदुहुः पुरा ॥ २७ ॥
उन्नतौ विन्ध्य-कैलासौ तव देवि ! पयोधरौ ।
जाह्नवी हार-यष्टिस्ते समुद्रा रत्न-मेखला ॥ २८ ॥

(सभी कथनानुसार अभिनय करते हैं)

१. उद्भेदः—फटना । उदात्तः—उदार । उज्ज्वल—भड़कीला । वेषः—वस्त्र ।

(पाताल फाड़कर निकलने का अभिनय करती हुई पृथ्वी का,
उसके समान बढ़िया और भड़कीले वस्त्र पहने फूल
बरसाती हुई स्त्रियों सहित प्रवेश)

अन्वयः—(हे पृथ्वि) कृत्स्नं जगत् बिभर्षि, त्वं शेष-मूर्ध्ना उह्यसे । पुरा देवाः त्वाम् एव अभिमतान् काम्यान् दुदुहुः ।

श०—बिभर्षि—धारण करती हो । शेष-मूर्ध्ना—शेषनाग के सिर से । उह्यसे—उठाई जाती हो । काम्यान्—अभिलषित पदार्थों को ।

टि०—शेष-मूर्ध्ना—शेषस्य (अनन्त नागस्य)मूर्ध्ना (शिरसा)। उह्यसे—√वह् + कर्मवाच्य णिच् + लट् । पुरा देवाः····दुदुहुः—पुराणों के अनुसार पृथ्वी को (गाय के रूप में) पहले पृथु ने और कालान्तर में देवताओं तथा मनुष्य, ऋषि आदि ने फल, पौधे आदि की प्राप्ति के लिए कई बार दोहा । पृथु के दोहने के कारण ही इसका नाम पृथ्वी पड़ा । दुदुहुः—यह धातु द्विकर्मक है । त्वाम् तथा काम्यान् इसके कर्म हैं ।

हिन्दी—(हे पृथ्वि !) तुम समस्त जगत् को धारण करती हो । तुम (स्वयं) शेषनाग के सिर से धारण की जाती हो । पुराने समय में देवताओं ने मनोवाञ्छित पदार्थों को तुम से ही दुहा था । [२७]

अन्वयः—हे देवि ! उन्नतौ विन्ध्य-कैलासौ तव पयोधरौ (स्तः) जाह्नवी ते हार-यष्टिः (अस्ति), समुद्राः (ते) रत्न-मेखला (अस्ति) ।

श०—पयोधरः—स्तन । हार-यष्टिः—मुक्तामाला ।

टि०—उन्नतौ—उत् + नम् + क्त द्विवचन । पयोधरौ—पयसो धरः; अच् प्रत्यय, तौ । जाह्नवी—जह्नोः अपत्यं स्त्री, 'गंगा' ।

यज्ञाङ्गानां समुत्पत्त्यै वासवस्त्वां प्रवर्षति ।
रत्नानामोषधीनां च त्वां प्रसूतिं प्रचक्षते ॥ २६ ॥

नमो भगवत्यै विश्वंभरायै । (प्रणमन्ति)[1]

पृथ्वी—(दिशो विलोक्य) अहो ! अनतिक्रमणीयं शासनं प्रतिनिवृत्तानां पतिव्रतानाम् ।[2]

व्याप्य द्यावा-पृथिव्यौ प्रतिहत-गतयो यत्र भानोर्मयूखा
गाम्भीर्याऽक्षीण-वेगो नियमयति गतिं यच्च वोढुं गरुत्मान् ।
यत् स्थानं विप्रकर्षात् परिमित-तपसां योगिनामप्यगम्यं
तस्मादाकृष्य साऽहं जनक-तनयया दूरमारोपिताऽस्मि ॥ ३० ॥*

हिन्दी—हे देवि ! विन्ध्य और कैलाश पर्वत तेरे दो स्तन हैं; गंगा तेरी मुक्तामाला है, समुद्र तेरी रत्न जड़ी तगड़ी है । [२८]

अन्वयः—वासवः यज्ञाङ्गानां समुत्पत्त्यै त्वां प्रवर्षति, (जनाः) त्वां रत्नानां ओषधीनां च प्रसूतिं प्रचक्षते ।

श०—वासवः—इन्द्र । यज्ञाङ्गम्—यज्ञ की सामग्री । समुत्पत्त्यै—ठीक-ठीक उत्पत्ति के लिए । प्रसूतिः—स्रोत, उत्पत्ति-स्थान । प्रचक्षते—कहते हैं ।

टि०—दूसरी पंक्ति के भाव के लिए देखिए,

भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् । कुमार० १.२

हिन्दी—इन्द्र यज्ञ के साधनों की ठीक-ठीक उत्पत्ति के लिए तुम पर वर्षा करता है । (लोग) तुम्हीं को रत्न और औषधियों का उत्पत्ति-स्थान कहते हैं । [२६]

१. हिन्दी-भगवती पृथ्वी को हमारा प्रणाम ! (सब प्रणाम करते हैं)

२. अनतिक्रमणीय—न टाले जाने योग्य । प्रतिनिवृत्ता—विषयों से पराङ्मुख स्त्री ।

पृथ्वी—अहो ! विषयोन्मुख पतिव्रताओं का आदेश टाला नहीं जा सकता ।

अन्वयः—द्यावा-पृथिव्यौ व्याप्य भानोः मयूखाः यत्र प्रतिहत-गतयः (भवन्ति), गाम्भीर्याऽक्षीण-वेगः गरुत्मान् च यत् (स्थानम्) वोढुं गतिं नियमयति, यत् (च) स्थानं विप्रकर्षात् परिमित-तपसां योगिनाम् अपि अगम्यं तस्मात् आकृष्य जनक-तनयया सा अहं दूरम् आरोपिता अस्मि ।

श०—द्यावा-पृथिव्यौ—स्वर्ग और पृथ्वी । व्याप्य—फैलकर । भानुः—सूर्य । प्रतिहत—रुकी हुई । गरुत्मान्—गरुड । वोढुम्—जाने के लिए । विप्रकर्षः—अधिक दूर होना । दूरम् आरोपिता—दूर लाई गई हूँ ।

तत्तामेवाभिभाषिष्ये। वत्से मैथिलि! कर्तव्यतां केनार्थयसि?[1]

सीता—(सविस्मयं विलोक्य) भअवदि, का तुमं? [भगवति! का त्वम्?][2]

पृथ्वी—किं न मां वेत्ति भवती?[3]

टि०—द्यावा-पृथिव्यौ—द्यौः च पृथिवी च तौ (द्वन्द्व०); द्वन्द्व समास में 'दिव्' द्यावा में बदल जाता है। दिव् और पृथिवी दोनों को देवता स्वरूप माना गया है। प्रतिहत-गतयः—प्रतिहता गतिः येषां ते (बहु०)। गाम्भीर्याऽक्षीण-वेगः—गाम्भीर्येण अक्षीणो वेगो यस्य सः। गरुत्मान्—गरुतः सन्त्यस्य; मतुप् (पा० ५. २. ९४) 'गरुड'। देखिए, "पक्षिताक्ष्यौं गरुत्मन्तौ।" इत्यमरः

वोढुम्—√वह् 'जाना'। देखिए,

दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान् वाहयेदध्व-शेषम्। मेघ० १.४१

नियमयति—नि + √यम् 'नियन्त्रण करना' लट्। परिमित-तपसाम्—परिमितं तपो येषां तेषाम्। आरोपिता—आ + √रुह् + णिच् + क्त + टाप्। माता की ममता क्या नहीं कर सकती? जहाँ सूर्य की किरणें भी जा नहीं सकतीं, गरुड भी जाते समय अपनी गति धीमी कर लेता है, साधारण योगी-जन भी पहुँच नहीं सकते, वहाँ से सीता की पुकार पृथ्वी को यहाँ खींच लाई।

हिन्दी—आकाश (अथवा स्वर्ग) तथा पृथ्वी को घेर कर भी सूर्य की किरणों की गति जहाँ तक जाती है, गम्भीरता के कारण कम वेग न होने वाला गरुड़ भी जहाँ जाते समय अपनी गति को रोक लेते हैं, जो स्थान बहुत दूर होने से साधारण योगी-जन के लिए भी पहुँच से बाहर है, उस (स्थान) से खींची जाकर वह (सर्वत्र ज्ञात) मैं जानकी द्वारा बहुत दूर लाई गई हूँ। [३०]

१. अभिभाष्ये—√भाष् १ आ० + लृट्, 'बात करूँगी'। कर्त्तव्यतां केनार्थयसि—√अर्थ्—आत्मनेपदी है। केन—यह शब्द यहाँ असंदिग्ध है। अर्थ अथवा अर्थिन् के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग अधिक उपयुक्त है। देखिए, "कस्यार्थः कलशेन" स्वप्न० १. ८। कर्तव्यताम्—कार्य।

हिन्दी—उससे ही बात करूँ। बेटी सीता! मुझ से क्या काम चाहती है?

२. सीता का प्रश्न यहाँ समझ में नहीं आता। स्वयं ही तो सीता ने दो बार पृथ्वी को पुकारा है, सब उसकी स्तुति करते हैं। फिर यह प्रश्न कैसा?

सीता—(विस्मयपूर्वक देखकर) भगवति! तुम कौन हो?

३. पृथ्वी—क्या तू मुझे नहीं जानती?

मामामनन्ति मुनयः प्रणव-द्वितीयां
मत्तः प्रसूतिरखिलस्य चराचरस्य ।
मय्येव सिध्यति तपोऽवनि-देवतां त्वं
जानीहि जानकि ! तवान्तिकमागतां माम् ॥ ३१ ॥

अपि च, वत्से ! ज्ञायतामिदमपि ।[1]

अभ्युद्धृतिश्च सहसा ममैवेयमनुष्ठिता ।
पुरा महा-वराहेण त्वत्प्रभावेण सांप्रतम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—मुनयः मां प्रणव-द्वितीयाम् आमनन्ति । मत्तः अखिलस्य चराचरस्य प्रसूतिः(जाता) । मयि एव तपः सिध्यति । जानकि ! त्वं तव अन्तिकम् आगता माम् अवनि-देवतां जानीहि ।

श०—प्रणव-द्वितीया—ओंकार के पश्चात् । आममनन्ति—कहते हैं । मत्तः—मेरे पास से । प्रसूतिः—उत्पत्तिः । अन्तिकम्—समीप । अवनि—पृथ्वी ।

टि०—प्रणव-द्वितीयाम्—प्रणवाद् द्वितीयाम् (उत्तराम्) । चराचरस्य—चरं च अचरं च इति चराचरम् (समाहारा०),तस्य । परन्तु यहाँ सूत्र देखिए, विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि (पा० २. ४. १३) । मयि एव तपः सिध्यति—तप पृथ्वी-तल पर ही फलता है । मन्त्र-जाप आदि पृथ्वी-तल पर ही बैठकर किया गया सार्थक होता है । यहीं के पाप-पुण्य आगे फल देते हैं ।

हिन्दी—मुनि लोग ओङ्कार के अनन्तर मेरा उच्चारण करते हैं । मुझ से समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति हुई है । मुझ ही पर तप सिद्ध होता है । जानकि ! तू अपने पास आई हुई मुझ को पृथ्वी देवता जान । [३१]

१. हिन्दी—और हे बेटी ! यह भी जान ।

अन्वयः—इयं च सहसा एव मम अभ्युद्धृतिः पुरा महा-वराहेण अनुष्ठिता सांप्रतं (च) त्वत्प्रभावेन (अनुष्ठिता) ।

श०—अभ्युद्धृतिः—उद्धार । पुरा—प्राचीनकाल में । महा-वराहेण—वराहावतार द्वारा ।

टि०—अभ्युद्धृतिः—अभि + उत् + √धृ + क्तिन् । पुरा महा-वराहेण यहाँ वराहावतार की ओर संकेत है । यह विष्णु का तीसरा अवतार हुआ है । हिरण्याक्ष दैत्य जब पृथ्वी को पाताल ले गया, तब विष्णु ने वराहावतार धारण करके इसे बचाया । अनुमान किया जाता है कि यह अवतार सूकर-क्षेत्र (आधुनिक सोरों जिला एटा, यू० पी०) में हुआ था ।

हिन्दी—यह मेरा एकाएक ऊपर उठाने का काम प्राचीन काल

सीता—(अञ्जलिं बद्ध्वा) भअवदि, अणुकम्पं अज्भासिअ जह तुए एव्वं चारित्ताविकलत्तेणेण अहिलक्खिदा तह लोअस्स पआसीअदु। [भगवति! अनुकम्पाम् अध्यास्य यथा त्वयैवं चारित्राविकलत्वेनाभिलक्षिता तथा लोकस्य प्रकाश्यताम्।][1]

पृथ्वी—तथाऽस्तु। (समन्तादवलोक्य)[2]

ऋषयो दानवाः सिद्धा यक्ष-गन्धर्व-किन्नराः।
मानवा लोक-पालाश्च भवन्त्ववहिताः क्षणम्॥ ३३॥
रामं दाशरथिं मुक्त्वा न जातु पुरुषान्तरम्।
मनसाऽपि गता सीतेत्येवं विदितमस्तु वः॥ ३४॥

(आकाशात् पुष्पवृष्टिः दुन्दुभि-ध्वनयश्च)

सर्वे—(सहर्षम्) अहो! विस्मयः। वसुंधरा-संपादित-शुद्धि-मनुवर्तयन्ति बहु-विधान्येतानि प्रादुर्भवन्ति।[3]

में वराहावतार ने किया था और अब तेरी शक्ति ने (किया है।) [३२]

१. अध्यास्य—आश्रय लेकर। अविकलत्वम्—अखण्डितत्व।

सीता—(करबद्ध हो) भगवति! आपने जैसे मुझे शुद्ध चरित्र वाली परखा है, कृपा करके संसार के सम्मुख वैसे ही प्रकट कर दीजिए।

२. पृथ्वी—तथास्तु (चारों ओर देखकर)

अन्वयः—ऋषयः, दानवाः, सिद्धा, यक्ष-गन्धर्व-किन्नराः, मानवाः, लोक-पालाः च क्षणम् अवहिताः भवन्तु।

श०—दानवाः—दैत्य।

टि०—यक्ष-गन्धर्व-किन्नराः—देखिए पृष्ठ १८१·१

हिन्दी—ऋषि, दैत्य, सिद्ध, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य और लोक-पाल क्षण-भर दत्तचित्त हों। [३३]

अन्वयः—दाशरथिं रामं मुक्त्वा सीता पुरुषान्तरं मनसा अपि जातु न गता, इति एवं वः विदितम् अस्तु।

हिन्दी—तुम सब को विदित हो कि सीता ने दशरथ-पुत्र राम को छोड़कर दूसरे किसी पुरुष का कभी मन से भी ध्यान तक नहीं किया। [३४]

(आकाश से पुष्प-वृष्टि होती है और दुन्दुभियों की ध्वनि होती है)

३. वसुंधरा-संपादित-शुद्धिम्—वसुन्धरया संपादिता शुद्धिः यस्याः सा ताम्, अर्थात् सीता को।

सब—(सहर्ष) अहो! बड़ा आश्चर्य है! पृथ्वी द्वारा सीता की

आशा-मुखे त्रिदश-दुन्दुभयो ध्वनन्ति
व्योम्नः पतन्ति कुसुमानि निरन्तराणि ।
आकस्मिकोऽप्युपरि धार्यत एव देव्याः
केनाप्यवध्यवितते गगने वितानः ॥ ३५ ॥

(नेपथ्ये)

जयति दशरथः स सत्य-सन्धो जयति तथैक-धनुर्धरश्च रामः ।
जयति रघु-कुलं कलङ्क-मुक्तं जयति चरित्र-गुणोन्नता च देवी ॥ ३६ ॥

पृथ्वी—अपि शुद्धिमती वैदेही ?[1]

(सर्वे कृताञ्जलयः)

शुद्धि की घोषणा होते ही नाना प्रकार के अनुकूल (शकुन) प्रकट होने लगे हैं।

अन्वयः—आशा-मुखे त्रि-दश-दुन्दुभयः ध्वनन्ति । व्योम्नः निरन्तराणि कुसुमानि पतन्ति । केन अपि अवध्य-वितते गगने देव्याः उपरि आकस्मिकः वितानः अपि धार्यते एव ।

श०—आशा—दिशा । त्रिदशा—देवता । अवध्य-वितत—पूरा फैला हुआ । वितानः—चंदोवा ।

टि०—आशा-मुखे—आशानां मुखे । त्रिदश-दुन्दुभयः—त्रिदशानां (देवानां) दुन्दुभयः; त्रिदशा—तृतीया (यौवनाख्या) दशा सदा येषाम् । देखिए,

"अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः ।" इत्यमरः

आकस्मिकः—अकस्माद् एव आकस्मिकम् ।

हिन्दी—दिशाओं-उपदिशाओं में देवताओं की दुन्दुभियाँ बज रही हैं। आकाश में निरन्तर पुष्प बरस रहे हैं। संपूर्ण आकाश में किसी ने (सीता) देवी के ऊपर अकस्मात् ही चंदोवा ताना हुआ है। [३५]

(नेपथ्य में)

अन्वयः—सः सत्य-सन्धः दशरथः जयति । तथा एक-धनुर्धरः रामः जयति । कलङ्क-मुक्तं रघु-कुलं जयति । चरित्र-गुणोन्नता देवी च जयति ।

हिन्दी—सत्य-प्रतिज्ञ उस (प्रसिद्ध) दशरथ की जय हो! तथा अद्वितीय धनुर्धर राम की जय हो। दोष से मुक्त रघु-कुल की जय हो! चरित्र-रूप गुण से समुन्नत (सीता देवी) की जय हो! [३६]

१. पृथ्वी—है सीता शुद्धाचारिणी ?

(सब हाथ जोड़ते हैं)

या स्वयं प्रकृति-निर्मला सती छाद्यतेऽन्य-जन-वाद-वारिदैः ।
जानकी भगवति ! त्वयाऽद्य सा चन्द्रिकेव शरदा विशोधिता ॥ ३७ ॥

(प्रणमन्ति) अपि नामाऽऽश्चर्यं मिथुनं भूयः संयुज्यते ! [१]

वाल्मीकिः—भो भोः कौसल्या-मातः ! संभाव्यतां सीता परिशुद्धि-परिग्रहेण । [२]

रामः—यदाज्ञापयन्ति गुरवः । वत्स लक्ष्मण ! क्रियतां पाद-प्रणामः । [३]

सीता—(अञ्जलिं बद्ध्वा सहर्षम्) जेदु अंग्रउत्तो । [जयतु आर्यपुत्रः ।] [४]

वाल्मीकिः—अहो ! उदात्त-शालीनः प्रतिग्रह-प्रकारः । [५]

अन्वयः—भगवति ! या स्वयं प्रकृति-निर्मला सती (अपि) अन्य-जन-वाद-वारिदैः छाद्यते सा अद्य त्वया शरदा चन्द्रिका इव विशोधिता ।

श०—प्रकृति-निर्मला—स्वभाव से शुद्ध । वारिदः—बादल । विशोधिता—पवित्र कर दी गई ।

टि०—प्रकृति-निर्मला—प्रकृत्या निर्मला । सती—पतिव्रता । देखिए, "सुचरित्रा तु सती साध्वी पतिव्रता ।" इत्यमरः

अन्य-जन-वाद-वारिदैः—अन्ये च ते जना अन्या जनाः (साधारणाः पुरुषाः) तेषां वादाः एव वारिदाः तैः 'साधारण लोगों के अपवाद रूपी बादलों से' ।

हिन्दी—भगवति (पृथ्वी) ! जो (सीता) स्वयं स्वभाव से ही शुद्ध होने पर भी साधारण लोगों के अपवाद रूपी बादलों से (अब तक) ढंकी हुई थी, वह आज शरदृतु की चाँदनी से मानों पवित्र कर दी गई है । [३७]

(सब प्रणाम करते हैं)

१. इसमें क्या आश्चर्य यदि युगल फिर मिल जाय !

२. कौसल्या-मातः—कौसल्या माता यस्य सः, सम्बोधन । शुद्ध रूप होगा कौसल्या-मातृक कप् प्रत्यय; अथवा कौसल्या-मात अच् प्रत्यय (मातज्मातृ-कमातृपु वा० १४४३)

वाल्मीकि—हे कौसल्या-पुत्र राम ! चरित्र-शुद्धि को स्वीकार कर सीता का सत्कार करो ।

३. राम—जो गुरु-जन आज्ञा करें ! वत्स लक्ष्मण ! (भाभी के) चरणों में प्रणाम करो ।

४. सीता—(करबद्ध हो सहर्ष) स्वामी की जय हो !

५. उदात्त-शालीनः—उदार तथा विनययुक्त । प्रतिग्रहः—स्वीकार करना ।

लक्ष्मणः—(सहर्षं सलज्जं च) आर्ये ! वध्यः पातकी लक्ष्मणः प्रणमति ।[1]

सीता—कीस तुए अप्पा णिंदिअदि ? एव्वं अप्पगुरुणिओअवट्टी चिरं जीव । [कुतस्त्वया आत्मा निन्द्यते ? एवमात्म-गुरु-नियोग-वर्ती चिरं जीव ।[2]

वाल्मीकिः—वत्स राम ! अनेन गृहीता वैदेही । स्वयमाभाष्य पाणिना पाणौ संगृह्य नियुज्यतां यज्ञाधिकारे ।[3]

(रामो लज्जां नाटयति)

वाल्मीकिः—अलं लज्जया । यज्ञाङ्गं विना किं वा ऽपूर्वम्—दाशरथेः सर्व-साक्षिकं पाणि-ग्रहणम्—इति ?[4]

रामः—समाचारोऽयं गुरु-नियोगश्च । (सीतां पाणौ गृहीत्वा) भद्रे वैदेहि ![5]

अपत्यमिष्टं च वदन्ति देवाः फल-द्वयं दार-परिग्रहस्य ।
पूर्वं तयोस्त्वय्युदपादि ह्यं वहस्व वासे भवने द्वितीयम् ॥ ३८ ॥

वाल्मीकि—अहो ! कैसा उदार तथा विनीत ढंग है स्वीकार करने का ।

१. लक्ष्मण—(हर्ष के साथ तथा लजाते हुए) भाभी ! पापी लक्ष्मण प्रणाम करता है ।

२. सीता—किसलिए तुम अपनी निन्दा कर रहे हो ? इस प्रकार अपने गुरुजनों के आज्ञाकारी बन युग-युग जिओ ।

३. वाल्मीकि—वत्स राम ! सीता को तुमने स्वीकार कर लिया । (अतः) स्वयं बुलाकर अपने हाथों से उसका हाथ पकड़कर यज्ञ-कर्म में नियुक्त करो !

(राम लज्जा का अभिनय करते हैं)

४. वाल्मीकि—लज्जा मत करो । तुमने (विवाह के समय) सब के सम्मुख पाणि-ग्रहण किया ही था, (अब) यज्ञ-विधि के अंग होने के अतिरिक्त इसमें नयापन क्या है ?

५. समाचारः—सदाचार ।

राम—यह शिष्टाचार तथा गुरुजी की आज्ञा भी है । (सीता का हाथ पकड़कर) भद्रे सीते !!

अन्वयः—देवाः दार-परिग्रहस्य अपत्यम् इष्टं च (इति) फल-द्वयं वदन्ति । तयोः पूर्वं त्वयि ह्यम् उदपादि, भवने वासे (सति) द्वितीयं वहस्व ।

सीता—जं अंअउत्तो आणवेदि। उच्छसिओ मे अप्पा। पच्छागदा मे पाणा [यदार्यपुत्र आज्ञापयति। उच्छ्वसितो मे आत्मा। प्रत्यागता मे प्राणाः।]¹

पृथ्वी—*अविघ्नमस्तु यज्ञानां काले वर्षतु वासवः।*
निरातङ्काः प्रजाः सन्तु सीता-राम-समागमात् ॥ ३६ ॥

[अन्तर्धानं नाटयन्ती निष्क्रान्ता

रामः—कथमन्तर्भूता वसुमती !²

श०—देवः—विद्वान्। इष्टम्—यज्ञ। हृद्यम्—सुन्दर। उदपादि—उत्पन्न हो चुका। वहस्व—धारण करो।

टि०—दार-परिग्रहस्य—दाराणां परिग्रहस्य। अपत्यम्—सन्तति; देखिए, "प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥" रघु० १.७। इष्टम्— √यज् १ उभय + क्त। हृद्यम्—हृदयस्य प्रियम्; हृद् + यत्। उदपादि—उद् + √पद् + लुङ्।

हिन्दी—बुद्धिमान् लोग पत्नि-ग्रहण के दो फल बताते हैं—सन्तान और यज्ञ। इन दोनों में से पहला सुन्दर (फल) तो (मुझे) तुझ में सम्पन्न हो चुका है; घर में रहकर अब दूसरे (फल) को धारण करो। [३८]

१. सीता—जो स्वामी की आज्ञा ! मैं पुनर्जीवित हो गई, मेरे प्राण लौट आये।

अन्वयः—सीता-राम-समागमात् यज्ञानाम् अविघ्नम् अस्तु। वासवः काले वर्षतु। प्रजाः निरातङ्काः सन्तु।

श०—प्रजाः—जनता। निरातङ्कः—निर्भय और नीरोग।

टि०—निरातङ्काः—निर्गतः आतङ्कः याभ्यः ताः (बहु०); आतङ्कः—आतङ्कनम्; आ + √तकि १ पर० 'कृच्छ्रजीवने' + घञ्। देखिए,

"रुक्तापशङ्कास्वातङ्कः।" इत्यमरः

"रोगसन्तापशङ्कासु मुरजध्वनौ।" इति मेदिनी

पृथ्वी—सीता और राम के समागम से यज्ञों में विघ्न न हों, इन्द्र समय पर वर्षा करे, प्रजा नीरोग तथा निर्भय हो। [३६]

देवता लोग हमारी मर्त्यभूमि पर हमारी सहायता के लिए प्रकट होते हैं और कार्य पूरा हो जाने पर तुरन्त यहाँ से चले जाते हैं। वे हमारे संग अधिक समय ठहरना नहीं चाहते। देखिए, अनतिदीर्घ-संनिधाना हि देवताः। १६७.१

[अन्तर्धान का अभिनय करते हुए प्रस्थान

२. राम—यह क्या ! भगवती पृथ्वी अन्तर्धान हो गई।

वाल्मीकिः—अनति-दीर्घ-संनिधाना हि देवताः ।[1]

रामः—भगवताऽहमप्यनुज्ञातो लक्ष्मणमभिषेक्तुमिच्छामि ।[2]

लक्ष्मणः—(अञ्जलिं बद्ध्वा) यदि प्रसन्नमार्येण, तेन तनय-संक्रामिणा युवराज-शब्देन विभज्यतां चिर-कालानुचरः सौमित्रिः ।[3]

वाल्मीकिः—इक्ष्वाकु-कुल-सदृशमभिहितम् ।[4]

रामः—का गतिः ? अनतिक्रान्तैव रामेण लक्ष्मण-प्रार्थना । अवश्यं चेदिदं कर्म वत्सस्य, तदहमेव तत्प्रतिपत्स्ये । सौमित्रे ! आनीयतामभिषेक-संभारः ।[5]

लक्ष्मणः—आर्य ! संपादितं सर्वमभिषेक-समयोचितं व्यग्रहस्ताभिर्दैवताभिः । पश्य—[6]

एषच्छत्रं वहति भगवान् वासवश्चन्द्र-गौरं
देवी वाल-व्यजन-युगलं जह्नु-कन्या शची च ।
अम्भोगर्भान् कनक-कलशान् धारयन्ति प्रजौघा-
*श्चित्रं नैतत् प्रणय-सुलभाः संपदस्तद्विधानाम् ॥ ४० ॥**

---

१. वाल्मीकि—देवता लोग हमारे पास बहुत देर तक नहीं ठहरते ।

२. राम—भगवान् की आज्ञा से मैं लक्ष्मण का राज्याभिषेक करना चाहता हूँ ।

३. यदि प्रसन्नमार्येण—प्रसन्न—प्र + √सद् ६ पर० 'तोड़ना, जाना, डूबना' + क्त; प्र + √सद् अकर्मक है, अतः इसका दूसरा रूप होगा 'यदि प्रसन्न आर्यः' । तनय-संक्रामिणा—तनयं संक्रामति इति तच्छीलः, 'पुत्र को प्राप्त होने वाला' तेन । विभज्यताम्—पृथक् रखिए ।

लक्ष्मण—(हाथ जोड़कर) यदि भाई जी प्रसन्न हैं तो पुत्र को प्राप्त होने वाली युवराज की उपाधि से चिर-सेवक लक्ष्मण को पृथक् ही रखें ।

४. वाल्मीकि—इक्ष्वाकु-वंशियों के अनुरूप ही तुमने कहा है ।

५. प्रतिपत्स्ये—प्रति + √पद् ४ आ० 'जाना' + लृट्, 'करूँगा ।'

राम—क्या चारा है ? लक्ष्मण की प्रार्थना को राम टाल नहीं सकता । यदि यह काम पुत्र के लिए करना है तो मैं स्वयं ही इसे करूँगा । लक्ष्मण ! अभिषेक की सामग्री ले आओ ।

६. व्यग्र-हस्ताभिः—काम में जुटे हाथों से ।

लक्ष्मण—भाई जी ! अभिषेक योग्य सब सामग्री हाथों में लिए देवता लोग उपस्थित हैं । देखिए,

अन्वयः—एषः भगवान् वासवः चन्द्र-गौरं छत्रं वहति, देवी जह्नु-कन्या

रामः—आवयोस्तर्हि वेत्राधिकारः।[1]

लक्ष्मणः—अनुगृहीताभियोगः संविभागः।[2]

रामः—लक्ष्मण ! वेत्रं धारय। (वाल्मीकिमुद्दिश्य) भगवन्नभिषिच्यतां नप्ता।[3]

वाल्मीकिः—(कलशमादायोपसर्पन्) भो भोः साकेत-निवासिनः पौराः ! नाना-दिगन्त-वासिनो राजानः ! विभीषण-सुग्रीव-हनुमत्प्रभृतयो महारथाः ! शृण्वन्तु भवन्तः[4]—

(देवी) शची च बाल-व्यजन-युगलं (वहतः) प्रजौघाः; अम्भोगर्भान् कनक-कलशान् धारयन्ति। तद्-विधानां प्रणय-सुलभाः संपदः (इति) एतत् न चित्रम्।

श०—चन्द्र-गौरम्—चाँद-सा उजला। बाल-व्यजनम्—चाँवरी। ओघः—समुदाय। अम्भोगर्भः—जल से भरा। कनक-कलशः—सोने का घड़ा। प्रणयः—प्रेम, याचना, इच्छा।

टि०—प्रजौघाः—प्रजानाम् ओघाः, 'जन-समुदाय'। अम्भोगर्भान्—अम्भः गर्भे (मध्ये) येषां तान्। तद्विधानम्—सा विधा (प्रकारः) येषां तेषाम्। प्रणय-सुलभाः—प्रणयेन सुलभाः। देखिए,

"प्रणयः प्रसरे प्रेम्णि।

याच्ञा विश्रम्भयोरपि। निर्वाणेऽपि॥" इति मेदिनी

हिन्दी—ये भगवान् इन्द्र चाँद-सा उजला छत्र धारण कर रहे हैं, देवी गंगा तथा देवी इन्द्राणी दो चाँवर (डुला रही हैं); जन-समुदाय जल-भरे घड़े लिए हैं, यह सब कुछ आश्चर्यजनक नहीं, संपदाएँ ऐसे महापुरुषों को इच्छा-मात्र से सुलभ होती हैं। [४०]

१. राम—तो हम दोनों को राज-दण्ड-ग्रहण का अधिकार रहा।

२. अनुगृहीताभियोगः—अनुगृहीतः अभियोगः (सहयोगः) यस्मिन् सः। अभियोगः—देखिए, "अनुग्रहोऽभिग्रहणेऽप्यभियोगे च गौरवे।" इति रुद्रः। संविभागः—कार्य का बाँटना।

लक्ष्मण—इस काम में साक्षी बनाकर मुझे भी अनुगृहीत किया गया हो।

३. राम—लक्ष्मण ! राज-दण्ड धारण करो। (वाल्मीकि को लक्ष्य करके) भगवन् ! पोते का राज्याभिषेक कीजिए।

४. वाल्मीकि—(कलस पकड़े पास सरक कर) हे अयोध्या-वासी नागरिको ! नाना देश-वासी राजाओ ! विभीषण, सुग्रीव, हनुमान् आदि महारथियो ! आप सब सुनें—

मैथिली-तनयः श्रेष्ठः कुशो नाम महा-रथः।
अभिषिक्तोऽद्य साम्राज्ये मान्यतामस्य शासनम् ॥ ४१ ॥
पुरन्दरस्य यत् स्वर्गे पाताले यच्च वासुकेः।
पृथिव्यां यच्च मान्धातुस्तदस्तु तव मङ्गलम् ॥ ४२ ॥

(अभिषेकं नाटयति) (नेपथ्ये कल-कलः)

जय जय महाराज ![1]

सीता—पिअं मे दिट्ठिआ संउत्तं। [प्रियं मे दिष्ट्या संवृत्तम्।][2]

रामः—पूर्णास्ते लक्ष्मणस्य मनोरथाः।[3]

(सर्वे हर्षं नाटयन्ति)

रामः—(कुशमुद्दिश्य) राजन्! त्वयाऽहमभ्यनुज्ञातो यौवराज्ये लवमभिषेक्तुमिच्छामि।[4]

अन्वयः—श्रेष्ठः महारथः कुशः नाम मैथिली-तनयः अद्य साम्राज्ये अभिषिक्तः; अस्य शासनं मान्यताम्।

हिन्दी—सीता का पुत्र श्रेष्ठ महारथी कुश आज चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त हुआ है, (भविष्य में) इसकी आज्ञा शिरोधार्य हो। [४१]

अन्वयः—यत् मङ्गलं पुरन्दरस्य स्वर्गे (अस्ति), यत् च (मङ्गलं) वासुकेः पाताले (अस्ति), यत् च (मङ्गलम्) मान्धातुः पृथिव्याम् (आसीत्), तद् (एव मङ्गलं) तव अस्तु।

श०—पुरन्दरः—इन्द्र। वासुकिः—शेषनाग, साँपों का राजा।

टि०—पुरन्दरः—पुरो ऽरीणां दारयति; पुरं + √दृ + खच् (पूः-सर्वयोर्दारिसहोः पा० ३.२.४१)। मान्धाता—यह सूर्य-वंशी राजा युवनाश्व का पुत्र था। यह सागर और हरिश्चन्द्र से बहुत पहले हुआ था। भोज-प्रबन्ध में भी इसका गान किया गया है—मान्धाता स महीपतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः।

हिन्दी—जो मंगल स्वर्ग में इन्द्र का है, और जो (मंगल) वासुकि का पाताल में है, और जो (मंगल) इसी लोक में मान्धाता का था, वह (मंगल) तेरा हो। [४२]

(अभिषेक का अभिनय करते हैं) (नेपथ्य में कोलाहल होता है)

१. जय हो, जय हो महाराज की!

२. सीता—सौभाग्यवश मेरा मनोरथ पूरा हुआ।

३. राम—लक्ष्मण! तेरे मनोरथ भी पूरे हुए।

(सब हर्ष का अभिनय करते हैं)

४. राम—(कुश को लक्ष्य करके) आपकी अनुमति हो तो लव का

कुशः—यदाज्ञापयति देवस्तातः ।[1]

रामः—प्रकामम् (कलशमानीय)[2]

महाराज-कुशस्यायं लवो नाम प्रियानुजः ।
मया तद्वचनादेव यौवराज्येऽभिषिच्यते ॥ ४३ ॥

(सर्वे यथोचितं हर्षं नाटयन्ति)

वाल्मीकिः—किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ?[3]

रामः—*त्वद्दर्शनेन विधिना परिशुद्ध-वृत्ति-*
र्जाता महाऽध्वर-सखी मम सैव पत्नी ।
न्यस्तं च सूनु-युगलं भुवनाधिकारे
किं स्यादतः प्रियतमं गुरुणाऽभिधेयम् ॥ ४४ ॥

युवराज पद पर अभिषेक करना चाहता हूँ ।

१. कुश—जो पूज्य-पाद पिताजी की आज्ञा हो ।

२. प्रकामम्—बहुत अच्छा । देखिये,

"कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम् ।" इत्यमरः

राम—बहुत सुन्दर ! (कलसा लाकर)

अन्वयः—अयं लवः नाम महाराज-कुशस्य प्रियानुजः तद्-वचनात् एव मया यौवराज्ये अभिषिच्यते ।

हिन्दी—महाराज कुश का यह लव नामक छोटा भाई, उसके ही वचन से मैंने यौवराज्य पद पर अभिषिक्त कर दिया । [४३]

(सभी यथोचित हर्ष का अभिनय करते हैं)

३. वाल्मीकि—तुम्हारा और प्रिय क्या करूँ ?

अन्वयः—त्वद्-दर्शनेन विधिना सा एव परिशुद्ध-वृत्तिः मम पत्नी (मम) महाऽध्वर-सखी जाता । सूनु-युगलं च भुवनाधिकारे न्यस्तम् । अतः (अपि) प्रियतमं किं गुरुणा अभिधेयं स्यात् ?

श०—विधिना—अनुष्ठान द्वारा । परिशुद्ध-वृत्तिः—विशुद्ध आचार वाली । भुवन—लोक । न्यस्त—स्थापित । अभिधेय—कहने योग्य ।

टि०—परिशुद्ध-वृत्तिः—परितः शुद्धा वृत्तिः यस्याः सा, 'सर्वथा चरित्र-शालिनी' । महाध्वर-सखी—महांश्चासावध्वरः तस्य सखी ।

रामः—आपके दर्शन रूप पवित्र कर्म से वही पवित्र-हृदया पत्नी मेरी (अश्वमेध नामक) महायज्ञ की सहचरी हो गई और दोनों पुत्र लोक-पालन के कार्य में नियुक्त हो गये । इससे (भी) अधिक प्रिय क्या है जो गुरु जी कहेंगे ? [४४]

वाल्मीकिः—तथापीदमस्तु—[1]

स्थाणुर्वेधास्त्रिधामा मकर-वसतयः पावको मातरिश्वा
पातालं भूर्भुवस्स्वश्चतुरुदधि-समाः साम-मन्त्राश्च वेदाः ।
सम्यक्संसिद्धि-विद्या-परिणत-तपसः पीठिनस्तापसाश्च
*श्रेयांस्यस्मिन् नरेन्द्रे विदधतु सकलं वर्धतां गो-कुलं च ॥ ४५ ॥**

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे

षष्ठोऽङ्कः

कुन्दमाला समाप्ता

---

१. वाल्मीकि—तब भी यह हो—

अन्वयः—स्थाणुः, वेधाः, त्रि-धामा, मकर-वसतयः, पावकः, मातरिश्वा, पातालम्, भूः, भुवः, चतुरुदधि-समाः, साम-मन्त्राः, वेदाः च, संसिद्धि-विद्या-परिणत-तपसः पीठिनः, तापसाः च अस्मिन् नरेन्द्रे श्रेयांसि सम्यक् विदधतु, सकलं गो-कुलं च वर्धताम् ।

श०—स्थाणुः—शिव । वेधाः—ब्रह्मा । त्रिधामा—विष्णु । मकर-वसतयः—मगरमच्छों का वास-स्थान, अर्थात् समुद्र । मातरिश्वा—वायु । परिणत—परिपक्व, सफल । पीठिन्—आचार्य, कुलपति । श्रेयस्—कल्याण । विदधतु—करें ।

टि०—स्थाणुः—तिष्ठतीति, स्थाणु शिव का नाम है । देखिए,

"स्थाणुः कीले हरे पुमान् । अस्त्री ध्रुवे" इति मेदिनी

कालिदास की भी शिव के प्रति प्रार्थना देखिए,

स स्थाणुः स्थिर-भक्ति-योग-सुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥ विक्रमो० १.१

और भी देखिए,

ततः प्रभृति विश्वात्मा न प्रसूते शुभाः प्रजाः ।

स्थाणुवन्निश्चलो यस्मात्स्थितः स्थाणुरतः स्मृतः ।

वेधस्—विदधाति इति; वि + √धा + असुन् गुणः विधाञो वेध च (उ० ४.२२९) देखिए,

"स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधिः ।" इत्यमरः

त्रिधामन्—त्रीणि धामानि (देहाः) यस्य सः । महाकाव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त, इस शब्द का संस्कृत में अभाव है । शब्दार्थकल्पद्रुम ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है:—त्रीणि भूरादीनि वा धामानि यस्य । वाचस्पत्य ने व्युत्पत्ति इस प्रकार की है:—त्रीणि धामानि भूरादीनि स्थानानि तेजांसि सत्त्वादीनि वा तस्य । मकर-वसतयः—मकरानां वसतयः । साम-मन्त्राः—साम-प्रधानाः

मन्त्राः येषु ते। सम्यक्-संसिद्धि-विद्या-परिणत-तपसः—सम्यक् संसिद्धया सम्यक् विद्यया च परिणतं तपः येषां ते, 'जिन्होंने सम्यक् संसिद्धियों तथा सम्यक् विद्या द्वारा तप सफल किया है'। सम्यक् का सम्बन्ध 'विदधातु' के साथ भी हो सकता है। पीठिन्—पीठ से विद्यापीठ का बोध होता है। पीठवन्तः पीठिनः।

गो-कुलं च वर्धताम्—भारतवर्ष में सदा से ही गाय का आदर रहा है। राजा के विभिन्न धनों में गो-धन भी गिना जाता था। राजा दिलीप नन्दिनी गाय की रक्षा के लिए अपना जीवन बलिदान करने से तनिक न झिझका।

हिन्दी—शिव, ब्रह्मा, विष्णु, समुद्र, अग्नि, पवन, पाताल, भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, चारों समुद्रों के समान साम-मन्त्र-प्रधान (चारों) वेद, सफल विद्या और सफल तपस्या वाले कुल-पति तथा तपस्वी लोग—ये सब इस राजा का भले प्रकार कल्याण करें और गो-वंश बढ़े। [४५]

[सब का प्रस्थान

कुन्दमाला का छठा अंक समाप्त

पद्य-सूची

सुभाषितावली

असंहार्य-परिच्छदः सुकृतिनः । १४.६

लोको निरंकुशः १.१२

सर्वथाऽलं महिलत्वेन । २१.११

क्षते क्षारमिवाऽऽहितम् । १.१६

तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः । २८.५

पूर्णचन्द्रान्मेऽशनि-पातः । ३८.७-८

प्रासादतलादधोऽवतारः । ४१.४

अहो ! अविश्वसनीयता प्रकृति-निष्ठुर-भावानां पुरुष-हृदयानाम् ।
४८.१५-६

असित-पक्ष-चन्द्र-लेखेव दिने-दिने परिहीयसे। ५२.३

शोक-परिहारेणापि शोको वर्धते । ५५.३-४

प्रमादः संपदं हन्ति प्रश्रयं हन्ति विस्मयः ।
व्यसनं हन्ति विनयं हन्ति शोकश्च धीरताम् ॥ ३.१

को जानाति दुर्विदग्धः प्रजापतिः कथं कथं क्रीडतीति । ६८.३-४

सुलभ-सादृश्यो लोक-संनिवेशः । ६८.६

तृषितेन मया मोहात् प्रसन्न-सलिलाऽऽशयः ।
अञ्जलिर्विहितः पातुं कान्तार-मृग-तृष्णिकाम् ॥ ४.२२

निर्व्याज-सिद्धो मम भाव-बन्धः । ५.५

अन्तरिता अनुरागा भावा मम कर्कशस्य बाह्येन ।
तन्त्व इव सुकुमाराः प्रच्छन्नाः पद्मनालस्य ॥ ५.६

भुवनमभितपन् सहस्र-रश्मिर्जल-गुरुभिर्व्यवधीयते हि मेघैः । ५.७

ज्योतिः सदाभ्यन्तरमाप्त-पादैरदीपितं नार्थ-गतं व्यनक्ति ।
नालं हि तेजोऽप्यनलाभिधानं स्वकर्मणो मारुतमन्तरेण ॥ ५.८

न च गुरु-नियोगा विचारमर्हन्ति । १४२.६-७

आपात-मात्रेण कयाऽपि युक्तया सम्बन्धिनः संनमयन्ति चेतः ।
विमृश्य किं दोष-गुणानभिज्ञश्चन्द्रोदये श्च्योतति चन्द्रकान्तः ॥
५.१०

स्थाने खलु परिक्रामन्ति तपोवन-पराङ्मुखा गृहमेधिनः । १४७.७-८

भवति शिशु-जनो वयोऽनुरोधाद् गुण-महतामपि लालनीय एव ।
व्रजति हिम-करोऽपि बाल-भावात् पशुपति-मस्तककेतकच्छदत्वम् ॥
५.१२

यां यामवस्थामवगाहमानमुत्प्रेक्षते स्वं तनयं प्रवासी ।
विलोक्य तां तां च गतं कुमारं जातानुकम्पो द्रवतामुपैति ॥ ५.१३

अपि नाम शरा मोघास्तपःसन्नद्ध-मूर्तिषु ।
वासवस्यापि सुव्यक्तं कुण्ठाः कुलिश-कोटयः ॥५.१४

प्रथम-परिणीतोऽयमर्थः । १५२.३

अप्रतिहत-वचन-महत्त्वा हि ब्राह्मण-जातिः । १५७.९-१०

कलत्र-विषया खल्वनुकम्पा । १७६.११

अनुकृति-सरले पृथग्जनानां निवसति चेतसि संश्रितेऽनुरागः ।
नरपति-हृदये न जात-माल्ये न हि पुलिनेषु तिलस्य संभवोऽस्ति ॥
६.२२

विकारानुरूपः प्रतिकारः । १८०.११

अनतिक्रमणीयं शासनं प्रतिनिवृत्तानां पतिव्रतानाम् । १८६.४-५

अनतिदीर्घ-संनिधाना हि देवताः । १९७.१

प्रणय सुलभाः संपदस्तद्विधानाम् । १९७.१४

छन्द

प्रत्येक साहित्य में प्रथम ग्रन्थों की रचना पद्य में हुई। संस्कृत-साहित्य में वेद, जो संसार के समस्त साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, काव्य का अद्भुत उदाहरण हैं। सामवेद तो सारा गान पर ही निर्भर है। कवियों ने अपने ग्रन्थों में विविध छन्दों का प्रयोग किया है। संस्कृत में पद्य का आधार मात्राओं अथवा अक्षरों का परिमाण होता है। अक्षर अथवा मात्राओं के आधार पर रचा पद्य वृत्त अथवा जाति कहलाता है। वृत्तों के तीन भेद हैं:—समवृत्त—जबकि पद्य के चारों पादों का छन्द एक ही है। अर्द्ध समवृत्त—जबकि सम और विषम पाद (अर्थात् पहला-तीसरा तथा दूसरा-चौथा) का एक ही छन्द है। विषम-वृत्त—जब कि चारों पादों का भिन्न-भिन्न छन्द हो।

जिसका एक ही साँस में उच्चारण किया जाय, उसे वर्ण कहते हैं। वर्ण ह्रस्व अथवा गुरु होता है यदि उसका स्वर ह्रस्व अथवा दीर्घ हो। परन्तु ह्रस्व स्वर भी गुरु माना जाता है यदि बाद में अनुस्वार, विसर्ग अथवा संयुक्त व्यंजन हो, अथवा पाद के अन्त में भी विकल्प से गुरु माना जाता है। देखिए,

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत्।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा ॥

मात्रिक छन्दों में ह्रस्व वर्ण की एक मात्रा होती है और गुरु की दो। वर्णों के आधार पर बने छन्दों की रचना आठ गणों पर निर्भर मानी है:—

आदिमध्यावसानेषु यरता यान्ति लाघवम्।
भजसा गौरवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम् ॥

य (गण) ।ऽऽ; र (गण) ऽ।ऽ; त (गण) ऽऽ।
भ (गण) ऽ।।; ज (गण) ।ऽ।; स (गण) ।।ऽ
म (गण) ऽऽऽ; न (गण) ।।।

ह्रस्व वर्ण इस प्रकार लिखा जाता है। और दीर्घ इस प्रकार ऽ। पद्य पढ़ते समय जहाँ रुकना पड़ता है, उसे 'यति' कहते हैं।

कुन्दमाला नाटक में निम्नलिखित पन्द्रह छन्दों का प्रयोग हुआ है:—

१. अनुष्टुप्—श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥

अर्थात् प्रत्येक पाद का पाँचवाँ वर्ण ह्रस्व होता है, छठा गुरु तथा सातवाँ सम-विषम पादों में क्रमशः ह्रस्व और गुरु होता है।

उदाहरण, १ अंक—१, ८, १०, १३, १५, १६, २०, २८, ३१, ३२; ३ अंक—२, १५, १६; ४ अंक—२, १०, १२, १४–१७ २२; ५ अंक—६, १४; ६ अंक—१–१४, १६–१६, २७-२६, ३२–३४, ३६, ४१–४३।

२. आर्या—यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।

अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश साऽऽर्या॥

अर्थात् आर्या छन्द के चारों पादों में क्रमशः १२, १८, १२ और १५ मात्राएँ होती हैं। उदाहरण, १ अंक—१; ३ अंक—४, १३; ४ अंक १६; ५ अंक—६।

३. इन्द्रवज्रा—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

अर्थात् प्रत्येक पाद में २ तगण, १ जगण और २ गुरु होते हैं (११ वर्ण)। उदाहरण, १ अंक—६, ११।

४. उपजाति—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।

इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम॥

अर्थात् जब एक ही पद्य में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा मिल जाते हैं, तब वह छन्द उपजाति कहलाता है। जब दूसरे छन्द भी मिल जाते हैं, तब भी छन्द उपजाति कहलाता है। उदाहरण, १ अंक—१७; २ अंक ६; ५ अंक–२, ८, १०, ११, १३; ६ अंक–१५, ३८।

५. उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

अर्थात् प्रत्येक पाद में १ जगण, १ तगण, १ जगण और २ गुरु होते हैं, (११ वर्ण)। उदाहरण, १ अंक—४, ६।

६. पुष्पिताग्रा—अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

अर्थात् प्रत्येक विषम पाद में २ नगण, १ रगण, और १ यगण (१२ वर्ण) होते हैं और प्रत्येक समपाद में १ नगण, २ जगण, १ रगण और १ गुरु (१३ वर्ण) होते हैं। उदाहरण, ३ अंक—७; ४ अंक—१, ८, १८, २१; ५ अंक—१, ७, १२; ६ अंक—२१, २२, ३६।

७. मन्दाक्रान्ता—मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद् गुरू चेत्।

अर्थात् इस छन्द में १ मगण, १ भगण, १ नगण, २ तगण, और दो गुरु होते हैं (१७ वर्ण)। यति चौथे और दसवें वर्ण के बाद होती है। उदाहरण, ३ अंक–३, ६; ६ अंक ४०।

८. मालिनी—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

अर्थात् मालिनी में २ नगण, १ मगण, और २ यगण होते हैं (१५ वर्ण); यति आठवें अक्षर के बाद होती है। उदाहरण, ३ अंक—१, ५, १२; ४ अंक—३, २४।

९. रथोद्धता—रात्परैर्नरलगै रथोद्धता।

अर्थात् इसमें १ रगण, १ नगण, १ रगण, १ लघु और १ गुरु होता है (११ वर्ण); यति दूसरे और आठवें वर्ण के बाद अथवा चौथे और आठवें वर्ण के बाद होती है। उदाहरण, ६ अंक—२०, ३७।

१०. वसन्ततिलका—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

अर्थात् इसमें १ तगण, १ भगण, २ जगण और २ गुरु होते हैं (१४ वर्ण)। उदाहरण, १ अंक—३, ५, १२, १४, १८, २१-२४, २७, २९; २ अंक—२; ४ अंक—५, ६, ११, १३, २०, २३; ५ अंक—३, ४, १५, १६; ६ अंक—३७, ३५, ४४।

११. वंशस्थम्—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

अर्थात् वंशस्थ में १ जगण, १ तगण, १ जगण और १ रगण होते हैं। (१२ वर्ण) उदाहरण, ३ अंक—१०।

१२. शार्दूलविक्रीडितम्–सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।

अर्थात् इसमें एक-एक मगण, सगण, जगण, सगण और २ तगण तथा १ गुरु होता है। (१९ वर्ण); यति १२वें अक्षर के बाद होती है। उदाहरण, १ अंक—२, ३०; ३ अंक—८, १४, १७; ४ अंक—४, ६, ७; ६ अंक—२५, २६।

१३. शालिनी—मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः।

अर्थात् इसमें १ मगण, २ तगण और २ गुरु होते हैं (११ वर्ण); यति चौथे वर्ण के बाद होती है। उदाहरण, १ अंक—१९, २५, २६।

१४. शिखरिणी—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।

अर्थात् इसमें एक-एक यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, ह्रस्व और गुरु होता है (१७ वर्ण); यति छठे वर्ण के बाद होती है। उदाहरण, १ अंक—७; ३ अंक—११; ५ अंक—१७; ६ अंक—२३।

१५. स्रग्धरा—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

अर्थात् इसमें एक-एक मगण, रगण, भगण, नगण और ३ यगण होते हैं। (२१ वर्ण); यति सातवें वर्ण के बाद होती है। उदाहरण, ४ अंक—२५; ६ अंक—२४; ३०, ४५।

प्राकृत से संस्कृत बनाने के नियम

संस्कृत नाटकों में तीन प्रकार की प्राकृत होती है, शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री। शौरसेनी वार्त्तालाप का माध्यम है, महाराष्ट्री कविता, गीत आदि का और नीच पात्र मागधी का व्यवहार करते हैं। नीचे वे नियम दिये जाते हैं जिनके द्वारा नाटकीय प्राकृतों का संस्कृत में परिवर्तन होता है—

ऋ, ॠ, लृ, ऐ, और औ के अतिरिक्त प्राकृत में संस्कृत के सभी स्वर हैं। प्राकृत भाषा में द्विवचन नहीं होता और चतुर्थी विभक्ति भी नहीं। चतुर्थी के लिए षष्ठी का प्रयोग होता है, जैसे, नमो देवाय—णमो देवस्स।

प्राकृत भाषा में आत्मनेपद नहीं होता। द्विवचन भी नहीं होता। लुङ् का रूप-क्रम बहुत सरल है।

स्वर

ऋ इ में बदल जाती है जैसे कृपा-किवा, कृत-किद, मृदुल-मिदुल, कृश-किस, दृष्टि-दिट्ठि, अथवा उ में (विशेष करके जब पवर्ग का कोई अक्षर पहले हो), जैसे पृच्छति-पुच्छदि, परभृत-परभुओ, संवृत्त-संवुद, वृद्ध-वुड्ढ, वृत्तान्त-वुत्तन्त, अथवा अ में जैसे तृण-तण, जृम्भते-जंभाअइ, घृणा-घणा, मृष-मरिस, अथवा रि में (केवल ऋ जब आरम्भ में हो) जैसे ऋण-रिण, तादृश-तारिस, ऋक्ष-रिच्छ।

ऐ का ए हो जाता है, जैसे शैल-सेल, ऐरावत-एरावण, वैद्य-वेज्ज, अथवा अइ, जैसे दैत्य-दइच्च, वैर-वइर, दैव-दइव, और कभी-कभी इ अथवा ई, जैसे सैन्धव-सिंधव, धैर्य-धीर।

औ का ओ हो जाता है, जैसे दौत्य-दोच्च, कौमुदी-कोमुई, कौशिकी-कोसिई, कौलीन-कोलीण, औषध-ओसह, अथवा-अउ, जैसे कौरव-कउरअ, गौरव-गउरव, और कभी-कभी उ, जैसे सौन्दर्य-सुन्देर।

कुछ शब्दों में इ और उ का ओ में क्रमशः परिवर्तन हो जाता है, जैसे निद्रा-णेद्दा अथवा णिद्दा, पुस्तक-पोत्थअ, लुब्धक-लोद्धअ।

दो व्यंजनों से पहले दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाता है, जैसे ईश्वर-इस्सर, विश्रब्ध-विस्सद्ध। दो व्यंजनों से पहले का ह्रस्व स्वर कभी-कभी दीर्घ कर

दिया जाता है और दो व्यंजनों में से एक का लोप हो जाता है, जैसे जिह्वा—जीहा, विश्रब्ध—वीसद्ध।

व्यंजन

प्राकृत में श्, ष् और : (विसर्ग) का अभाव होताहै; श् और ष् का स् बन जाता है, जैसे शाखा—साहा, कुशेषु—किसेसु, वेष (श)—वेस, संशय—संसय, विशेष—विसेस। मागधी में श्, ष् और स् के बदले श् रहता है, जैसे शाखा—शाहा, कृशेषु—किशेशु, वेष—वेश, समर—शमल।

न् का ण् बन जाता है, जैसे अनुराग—अणुराग, नूनं—णूणं, नाम-णाम, तेन—तेण, नवनीत—णवणीत, पुनः—उण।

आरम्भिक य का ज् बन जाता है, जैसे यः—जो, यदि—जइ, युक्त—जुत्त। अन्तिम अकेले व्यंजन का लोप हो जाता है, (केवल म् और कभी-कभी न् को छोड़कर जो अनुस्वर में बदल जाता है), जैसे यशस्—जसो, सरस्—सरो, यावत्—जाव, तावत्—ताव। संज्ञाओं के अन्तिम अकेले व्यंजन के स्थान पर अ अथवा आ हो जाता है जैसे, सरित्—सरिआ, वाच्—वाआ (किन्तु दिश—दिसा, शरद्—सरद, विद्युत्—विज्जू)।

मध्यम-वर्गी अकेले व्यंजन

क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प् और य का लोप हो जाता है, जैसे लोक—लोअ, अशोक—असोअ, सागर—साअर, समागम—समाअम, उचित—उइद, वचन—वअण, भोजन—भोअण, वात—वाय, पाद—पाअ, नूपुर—णूउर, अथवा णेउर, जय—जअ। किन्तु प और ब् का कभी-कभी व हो जाता है, जैसे उपायन—उवाअण, वेपते—वेवदि, पिबति—पिवदि (अथवा पिअदि)। ट का ठ, ड् का ढ् और न् का ण् हो जाता है, जैसे, कुटुम्ब—कुडुम्ब, वट—वड, कुटिल—कुडिल, पठति—पढदि, जठर—जढर, नाम—णाम।

ख्, घ्, थ्, ध्, फ्, और भ् का परिवर्तन ह में हो जाता है, जैसे, मुख—मुह, मेघ—मेह, अथवा—अहवा, साधु—साहु, आराधनेन—आराहणेण, अधिकार—अहिआर, शेफालिका—सेहालिआ, अभिलाष्—अहिलास, विभव—विहव, भवतु—होदु। छ् झ् और ढ् का कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसे, गच्छति—गच्छदि, उज्झित्वा—उज्झिअ, दृढ—दिढ।

र् प्रायः ल् में बदल जाता है, जैसे, चरण—चलण, करुण—कलुण। अधिकतर मागधी में र् ल् में बदलता है। ण्, म्, ल्, स और ह नहीं बदलते।

संयुक्त व्यंजन

प्राकृत भाषा में भिन्न-भिन्न वर्गी दो व्यंजनों का मिलाप नहीं होता और

सदैव उन दोनों को एक ही व्यंजन के रूप में बदल दिया जाता है। ऐसा करने में एक-न-एक का लोप हो जाता है। क्, ग्, ड्, त्, द्, प् और ब् का बाद में स्पर्श व्यंजन होने पर लोप हो जाता है और अनुगामी स्पर्श व्यंजन का द्वित्व हो जाता है, जैसे भुक्त—भुत्त, मुग्ध—मुद्ध, उत्कण्ठा—उक्कण्ठा, उद्गम—उग्गम, शब्द—सद्द, विप्रलब्ध—विप्पलद्ध, शब्द—सद्द, कुब्ज—कुज्ज।

न्, म् और य् जब संयुक्त हों और अन्तिम हों तो उनका लोप कर दिया जाता है और अवशेष का व्यंजन द्वित्व हो जाता है, जैसे निर्विघ्न—णिव्विग्घ, आत्मानम्—अत्ताणं, युग्म—जुग्ग, योग्य—जोग्ग, युज्यते—जुज्जदि।

जब कभी संयुक्त व्यंजन में श, ष, स् हो तो साथ के व्यंजन का घोष वर्ण हो जाता है, अर्थात् क्ख् (अथवा ख् यदि संयुक्त व्यंजन आरम्भ में हो) क्ष, ष्क् और स्क् के स्थान पर आ जाता है, जैसे साक्षिणी—सक्खिणी, अक्षि—अक्खि, दक्षिण—दक्खिण, पुष्कर—पोक्खर, स्कन्द—खंद, अथवा श्न, ष्ण, क्ष्ण, स्न और ह्न के स्थान पर ह आ जाता है यदि दूसरे अक्षर में घोष वर्ण न हो, जैसे प्रश्न—पण्ह, कृष्ण—कण्ह, तीक्ष्ण—तिण्ह, स्नान—ण्हाण, वह्नि—वण्ही।

जब र् और श्, ष्, स् संयुक्त हों तो अनुस्वार संयुक्त से पहले लगता है और र् का लोप हो जाता है, जैसे अश्रु—अंसु, दर्शन—दंसन। कुछ शब्दों में एक नया स्वर संयुक्त अक्षरों के बीच लगा दिया जाता है, जैसे हर्ष—हरिस।

त्स् और प्स् च्छ में बदल जाते हैं, जैसे वत्स-वच्छ (अथवा वच्छर) जुगुप्सा—जुगुच्छ, अप्सरस्—अच्छर (किन्तु उत्सुक—उस्सुअ, उत्सव-उस्सव अथवा ऊसव)

त्य्, थ्य् द्य् और ह्य अथवा ध्य्, च्च्, च्छ् ज्ज् तथा ज्झ् में क्रमशः बदल जाते हैं, जैसे सत्य—सच्च; नेपथ्य—णेवच्छ, अद्य—अज्ज, गुह्यक—गुज्झअ, दह्यते—दज्झइ, निध्यायन्ती—णिज्झाअन्ती, मध्य—मज्झ।

म्न् और ज्ञ् के स्थान पर ण्ण् हो जाता है, जैसे प्रद्युम्न—पज्जुण्ण, विज्ञान-विण्णाण, यज्ञ—जण्ण, विज्ञापयामि—विण्णवेमि। त् और द् कभी-कभी ट् और ड् में क्रमशः बदल जाते हैं, जैसे नर्तक—नट्टअ (किन्तु धूर्त—धुत्त), गर्दभ—गड्डह।

प्रति के स्थान पर पडि हो जाता है और प्रथम के स्थान पर पढम अथवा पुढम। यत्, अपि, खलु, इव, कुत्र, इति, ननु, एव, तथा, इदानीं, भवान्, कथं, तव और तत् के स्थान पर क्रमशः जं, वि, खु, विअ, कहिं, ति, णं, एव्व, तह दाणिं, भवं, कहं, तुह और ता हो जाते हैं।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१—कुन्दमाला के रचयिता तथा उसके समय के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट कीजिए।

२—कुन्दमाला के कथानक के स्रोतों के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं? नाटककार ने उनमें क्या-क्या परिवर्तन किये हैं?

३—कुन्दमाला और उत्तररामचरित कथानकों के मिलान द्वारा सिद्ध कीजिए कि कौनसा लेखक किससे प्रभावित हुआ है।

४—कुन्दमाला और उत्तररामचरित का कथानक एक-सा ही है। आपको कौनसा नाटक अधिक रुचिकर है और क्यों?

५—कुन्दमाला द्वारा तत्कालीन भारतीय संस्कृति पर क्या प्रकाश पड़ता है?

६—"राम एक आदर्श राजा हुए हैं।" नाटक द्वारा इसका समर्थन कीजिए।

७—कुन्दमाला तथा उत्तररामचरित द्वारा नीचे लिखे पात्रों के चरित्र की तुलना कीजिए:—सीता, कुश-लव, वाल्मीकि।

८—तिलोत्तमा अप्सरा द्वारा कुन्दमाला के कथानक में क्या प्रगति हुई है?

९—कुन्दमाला द्वारा दिङ्नाग कवि की भाषा-शैली तथा व्याकरण-सम्बन्धी शिथिलताओं पर अपने विचार प्रकट कीजिए। उत्तर सोदाहरण हो।

१०—दिङ्नाग और भवभूति की भाषा-शैली की तुलना कीजिए।

११—क्या कुन्दमाला किसी-बौद्ध लेखक की रचना है?

१२—कुन्दमाला की अमानुषीय घटनाओं की विवेचना कीजिए।

१३—क्या दिङ्नाग कालिदास का समकालीन न था? युक्ति-युक्त उत्तर लिखिए।

१४—राम द्वारा सीता-निर्वासन की विवेचना कीजिए।

१५—"दिङ्नाग संवाद में उत्कृष्ट है।" इसकी विवेचना कीजिए।

१६—कुन्दमाला में क्या-क्या न्यूनताएँ हैं? आप उन पर क्या सुझाव देते हैं?

१७—"कुन्दमाला के पात्र सजीव हैं।" सोदाहरण विवेचना कीजिए।

·PINIONS ON KUNDAMALA

Shastri, M. A., M. O. L., Ex-Professor, ...re, writes :—"I have looked through the ...d edition of the Kundamala by Dr. Kailash ...ne book is well done. Book printing and ..."

...nand M.A., S. D. College, Ambala Cantt., ...ful to you for so kindly presenting me your ...n of Kundamala. I have liked it immen- ...ery patronage with regard to your books."

...A., B.M. College, Simla, writes:—"Certainly ...our edition of Kundamala in my class."

...Singh M. A., Govt. College, Chandigarh, ... टिप्पणियाँ वस्तुतः प्रयत्न से लिखी गई हैं और अध्यापक ...गी सिद्ध होंगी।"

...garwal M. A., Govt. College, Ludhiana, ...पकी श... बहुत सुन्दर है। छात्रों के लिए परमोपयोगी है।"

डॉ० भद...

राम... गमनम्
कुमार...भवम् सर्ग ५
उपाख्यान-प्रदीपः
स्वप्नवासवदत्तम्
कुन्दमाला
मालविकाग्निमित्रम्
ऊरुभङ्गम्
नाट्यकथामञ्जरी
...टानसूत्रम् (प...

...arma Nand Shastri, M.A., M.O.L. Govt. Degree ...abha, writes :—"I am thankful to you for sending me a copy of Kundamala, so scholarly and exhaustively annotated by you. It beats all previous editions. Printing and get up are remarkable. I am sure that students will feel no difficulties in understanding the text now. You deserve all congratulations."

Prof. Prithvi Raj Jain M.A., Shastri, S. A. Jain College Ambala City, writes :—"I am extremely glad to go through the pages and congratulate you on your success in bringing out such an ably edited and useful edition. I am confident that the students and teachers both are bound to patronise it in large number."

Prof. Shri Kanth Kaul M.A., M.O.L. Shastri, D.A.V. College, Ambala City, writes :—"It is really the best edition that each and every teacher should recommend to his students."

Prof. Vasishtha, M. A., M.O.L., Shastri, S. D. College, Pathankot, writes :—"यह कुन्दमाला का संस्करण प्राप्त संस्करणों में सर्वश्रेष्ठ है। आपका परिश्रम सर्वथा सराहनीय है। छात्रों और अध्यापकों दोनों के लिए उपादेय बन गया है। संस्करण प्रकाशित करने की कला में आप वास्तव में सिद्धहस्त हैं। हार्दिक बधाई देता हूँ। प्रेमभाव से स्वीकार करें।"